



## प्राचार्य शुक्ल विचार-कोश

साहित्य, इतिहास, आलोचना आदि  
‘विभिन्न विषयों पर  
आचार्य रामचन्द्र’ शुक्ल के  
विचारों का अकारादि ऋम में  
संकलन



नेशनल पब्लिशिंग हाउस · दिल्ली

# आचार्य चुप्रसन्न विचार कोश

अजित कुमार

सहयोगी : डॉ० प्रेमचंद पातंजलि

नेशनल पब्लिशिंग हाउस  
२३, दरियागंज, दिल्ली-११०००६  
द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : १९७४ \* मूल्य : २२.००

सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस  
मोजपुर, शाहदरा, दिल्ली-११०१५३  
द्वारा मुद्रित

---

Acharya Shukla  
Vichar Kosh  
(Dictionary)  
Edited by Ajit Kumar

## भूमिका

‘आचार्य शुक्ल विचार-कोश’ एक संदर्भ-ग्रन्थ है, जिसमें विभिन्न विषयों पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल के विचार अकारादि क्रम में एकत्र किए गए हैं। मुख्य रूप से तो शुक्ल जी के ये विचार साहित्य, इतिहास और आलोचना विषयक हैं, पर उनकी दृष्टि भावों-मनोविकारों तथा जीवन-जगत् संबंधी कितने ही अन्य क्षेत्रों तक गई थी, इसलिए इनका भी यर्तिकचित् समावेश यहाँ हुआ है।

‘आचार्य शुक्ल विचार-कोश’ की हिन्दी में बड़ी आवश्यकता थी, यह कहना जितना सरल है, उतना ही कठिन है मेरे लिए यह कह पाना कि प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन द्वारा उस आवश्यकता की पूर्ति भली-भांति हो गई है। लगभग दो हजार पृष्ठों या पन्द्रह पुस्तकों में फैले-विखरे आचार्यवर के गहन-सधन विचारों को यहाँ इन थोड़े से पृष्ठों में समेट लेने का दावा कदापि नहीं किया जा सकता। किर, शुक्ल जी हिन्दी के उन विरल विचारकों-आलोचकों में हैं, जिनके लेखन में अनावश्यक विस्तार या फैलाव नहीं मिलता। यही कारण है कि उनके निष्कर्ष तो महत्त्वपूर्ण हैं ही; वह विवेचन-विश्लेषण और तर्क-शृखला भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं, जिससे होकर शुक्लजी अपने निष्कर्षों तक पहुंचे थे।

मतलब यह कि जिस एक आलोचक के विचारों का सार-संक्षेप प्रस्तुत करना कठिन है, वह शुक्ल जी हैं; साथ ही जिस एक आलोचक के विचारों को इस रूप में पाने-जानने-समझने की सबसे अधिक आवश्यकता है, वह भी शुक्लजी ही है।

तो, इस योजना की आवश्यकता और उपयोगिता को समझते हुए भी एक दुविधा मेरे मन में थी कि यह कार्य कुछ आवश्यक और उपयोगी है भी या नहीं। इसीलिए मैंने इस पुस्तक का प्रकाशन स्थगित रखा, यद्यपि अधिकतर सामग्री अनेक वर्ष पूर्व तैयार थी। आज भी, यदि यह प्रकाशित हो रही है तो इस उद्देश्य से नहीं कि हिन्दी पुस्तकों की संख्या में एक और बृद्धि कर दी जाय या कि कवियो-कृतियों के संबंध में जहाँ अनेक कोश गत वर्षों में प्रकाशित हुए हैं, वहाँ लगे हाथों एक यह भी हो जाय।

सच तो यह है कि हिन्दी में शोध और अनुसधान कार्य अब इतना विस्तीर्ण हो चुका है कि समूची उपलब्ध सामग्री पर नए सिरे से दोबारा-तिंबारा नज़र डालना बेहद जरूरी मालूम होता है। पिछले वर्षों में सदर्भ-प्रयोगों का प्रकाशन जिस तत्परता के साथ हुआ है, उसके मूल में स्थोरन-पुनर्नियोजन की यह प्रवृत्ति स्पष्ट देखी जा सकती है। ‘आचार्य शुक्ल विचार-कोश’ इसी दिशा में एक विनम्र प्रयास है।

भले ही इसका तात्कालिक प्रयोजन यह ज्ञात हो कि शुक्लजी को हिन्दी पाठकों के लिए अधिक सुलभ-सरल बनाया जा रहा है, तथापि इसका वास्तविक उद्देश्य कही अधिक गंभीर और जटिल है। अपने साहित्य-चिन्तन का कितना सफर हम तय कर आए हैं, इस वक्त हम कहाँ हैं, किस दिशा में जा रहे हैं—ऐसी तमाम जानकारियाँ हमारे खुद के लिए ज़रूरी हैं; इसलिए और भी कि कही हम पुनरावृत्ति, ठहराव या प्रतिगमिता को ही अपनी प्रणति और उपलब्धि न समझ बैठें। बेशक हिन्दी आलोचना आगे बढ़ी है, लेकिन कोई हर्ज न होगा, अगर हम जान लें कि शुक्लजी से आगे बढ़कर वह कहाँ तक जा पहुँची है। इसकी दो विधियाँ हैं। एक, शुक्लजी से परिचित होना; दूसरी, शुक्लेतर या शुक्लोत्तर आलोचना से परिचित होना। जैसा कि इस पुस्तक के शीर्षक से प्रकट है, फिलहाल, पहली जानकारी के लिए सामग्री यहाँ मिलेगी, और, प्रकारान्तर से, दूसरी जानकारी के लिए कुछ सूत्र-संकेत भी।

अनावश्यक है, फिर भी कहना होगा कि ‘विचार-कोश’ की प्रविष्टियाँ, संक्षिप्त होने के कारण, किसी भी विषय में शुक्लजी के विचार पूर्ण अथवा समग्र रूप में नहीं बतातीं। यह कोश बनाया ही इसलिए गया है कि शुक्लजी के विचार-संकेत पाठकों की उत्सुकता जाग्रत करें। इसीलिए प्रत्येक उद्घरण के नीचे लेख, पुस्तक, पृष्ठ आदि का हवाला दे दिया गया है, ताकि पाठक मूल पाठ तक सीधे पहुँच सके। अपनी ओर से, मैं यह भरोसा ज़रूर दिला सकता हूँ कि उस तक पहुँचना हर बार हमारे-आपके लिए विचारोत्तेजक और उपयोगी होगा। कारण यह कि शुक्लजी बहुधा विषय का प्रतिपादन जमकर, पूरी तरह करते हैं, उनके विचारों में बहुत दूर तक संगति मिलती है, और एक विचार अन्यान्य कितने ही विचारों के साथ जुड़ा हुआ रहता है।

ज़ाहिर है कि शुक्लजी के लेखन में विद्यमान इन गुणों का केवल आभास ही यहाँ संकलित उद्घरणों से मिल सकता है। एक तो ये तर्क-शृंखला की

केवल कुछ अलग-अलग कड़ियों के रूप में यहाँ मौजूद है, दूसरे ये रखे भी अकारादि क्रम में गए हैं। सामग्री को शीर्षकों में विभाजित करने और एक ही लेख के विभिन्न प्रकाशित रूपों में से सामग्री चुनने के कारण भी अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। फिर, शुक्लजी द्वारा लिखित किस तथ्य, कथ्य या उक्ति को छनका 'विचार' माना जाय, किसे निरा तथ्य—यह एक और उलझा हुआ विषय है। अतः जागरूक पाठकों से यह छिपा न रहेगा कि विचार भले ही ये सब-के-सब शुक्लजी के ही हैं, पर यहाँ इस पुस्तक में वे शुक्लजी का पूरा-पूरा परिचय कदापि नहीं देते। 'विचार-कोश' के प्रकाशन का यह कतई मतलब नहीं कि इसी एक पोथी की सहायता से शुक्लजी का अध्ययन किया जा सकेगा। भले ही यह आकार में तिगुना-चौगुना हो जाता, तब भी इसका प्राथमिक और अंतिम कार्य यही होता : शुक्लजी की रचनाओं, उनकी पुस्तकों, उनकी कविताओं के प्रति पाठकों को नए सिरे से प्रेरित-उत्साहित करना; साथ ही, 'शुक्ल ग्रन्थावली' के विधिवत् संपादन-प्रकाशन की आवश्यकता को रेखांकित करना।

बात यह है कि आचार्य शुक्ल के विचार उनकी विभिन्न रचनाओं में जिस सुशृंखलित और सांगिक विधि से विकसित हुए हैं, उसका परिचय उनकी मूल कृतियाँ ही दे सकती हैं। क्योंकर वे एक विषय के विभिन्न पक्षों का विश्लेषण करते हुए, उसको साहित्यिक-सास्कृतिक परपरा से जोड़ते हैं और सम्यक् विवेचन करने के बाद—एक बार फिर साराश बताते हैं, इसे जानना अपने आप में तृप्तिदायक है। शुक्लजी उन विरले लेखों-समीक्षकों में हैं, जिनकी पुनरुक्तियाँ हमें न खलती हैं, न उबाती हैं। बड़ा दिलचस्प है यह देखना कि कुछेक बातों को—बल्कि गद्याशों और लेखों को भी—वे यत्न-तत्त्व-संवित्र दाहरात हैं, पर ऐसा नहीं लगता कि यह 'विचारों के अभाव' का, या नए मुहावरे में कहे 'विचारों से बिंदाई' का परिणाम है। उलटे, इसके पीछे उनको सजगता और प्रखरता झलकती है। अपने मूल्यों-आदर्शों की कसाई पर वे रचनाओं, रचनाकारों और साहित्यधाराओं को बार-बार परखते हैं और इस तरह, एक ओर तो इन मूल्यों को, और दूसरी ओर अपने विषय तथा प्रतिपादन को पैना बनाते हैं।

बेशक, उनमें कुछ अंतर्विरोध भी होंगे—(जैसे, एक यही कि छायावाद-युग के ही होकर भी वे छायावाद को सहानुभूति नहीं दे सके, जिस अंतर्विरोध को सुलझाने या कौन जाने अधिक गहराने के उद्देश्य से कुछेक आलोचक उनके भावबोध में 'क्लासिक' के बजाय 'रोमाटिक' तत्त्व खोजते हैं)।—लेकिन मेरी निगाह में ये तथाकथित 'अंतर्विरोध' एक चिर सजग व्यक्ति की विकासोन्मुख चिन्ताधारा के विभिन्न घुमाव और मोड ही थे, किसी विवर्तन-प्रत्यावर्त्तन के सूचक नहीं। बल्कि एक कदम आगे जाकर, मैं तो यह भी कहना चाहूँगा कि

मान लो, कुछ अंतर्विरोध हम उनमें खोज ही लें तो क्या हम उन्हें हिन्दी के किन्हीं हुल्मुल, अवसरवाली, रगबदलू आलोचकों की पक्षित में रख देंगे ? जानता हूँ, हम ऐसा न करेंगे। तो फिर मेहरबानी करके, हम उन्हें 'मशीन' की तरह पुख्ता-पोढ़ा, नीरध भी न बनाएँ; एक सवेदनशील, भावप्रवण, रसज्ञ साहित्य-त्रेमी बना रहते दें, जो वे सचमुच थे।

सर्वविदित है कि लगभग चालीस वर्षों की लंबी अवधि में शुक्लजी का लेखन फैला हुआ था। सन् १६०० से १६४० तक का समय राष्ट्रीय जीवन में कितनी अधिक उथल-पुथल का समय था, किसीसे छिपा नहीं है। शुक्लजी के विचार इसी काल में बने और विकसित हुए थे। उनकी आरथिक कविताएँ (१६०१ से—), राधाकृष्णदास की जीवनी (१६०८) और 'कविता क्या है ?' शीर्षक से प्रकाशित उनका निबन्ध (१६०३) पढ़े तो वह स्थाका स्पष्ट हो जायगा, जो साहित्य के विषय में शुरू से ही उनके मन में बनने लगा था और जिसमें वे, जीवन के अंतिम समय तक, मिलते-जुलते, अनुकूल रंग भरते रहे थे। आदिम रूप-व्यापार, रहस्यवाद, लोकभगल, जातीयता आदि से सबद्ध अपने विचारों को उनकी तात्कालिक परिणतियों तक पहुँचाने में शुक्लजी ने संकोच न किया था। फँशन, नक्कल, प्रभाववाद, व्यक्तिवाद आदि के प्रति उनकी विरक्ति के पीछे भी उनकी रुचि और मानसिक बुनावट के साथ-साथ, संगति विठाने की उनकी प्रवृत्ति खोजी जा सकती है। वे तरंग में बहकर निदा-प्रशंसा करने-वाले आलोचकों में न थे, न क्षणिक आवेश में आकर बहकने वालों में। उनकी साहित्यिक दृष्टि स्थिर और सम्यक् थी।

ऐसा प्रतीत होता है कि शुक्लजी के प्रति हिन्दी आलोचना-दृष्टि भी कुछ स्थिर और सम्यक् हुई है। उनके तत्काल बाद हिन्दी के आलोचक जिस बढ़ा-बढ़ी और सक्रियता के साथ उनके पुराण-पंथ या अन्तर्विरोध का उद्धाराटन करने में संलग्न हो गये थे, वह अब कुछ थमी है। जिन लोगों ने शुक्लजी की न्यूनताओं पर दृष्टिपात किया था, वे भी इधर शुक्लजी की पूर्णताओं का हवाला देने लगे हैं। आशा है, शुक्लजी को मात्र हिन्दू या ब्राह्मण या तुलसीभक्त बताकर रद्द कर देने वाले नये उत्साही इस इतिहास से कुछ सबक लेंगे।

बहरहाल, शुक्लजी का ब्राह्मणत्व यदि किन्हीं लोगों को विकर्षित कर सकता है तो उनका कवित्व कम-से-कम मुझे तो विशेष रूप से आकर्षित करता है। आलोचक और विद्वान् के रूप में उनकी सृजनात्मकता, मौलिकता और रस-प्रवणता उल्लेखनीय है। कोरे शास्त्र-चितन या शास्त्राभ्यास का एक

प्रभाव बहुधा यह देखा गया है कि वह धीरे-धीरे अभ्यासी को जड़ बनाने लगता है। 'आलोचना' की ओर बढ़ने पर 'कविता' धीरे-धीरे छूटती चली जाती है। निसन्देह, शुक्लजी भी कविता 'लिखते' न रह सके थे, पर उनकी तमाम आलोचना साक्षी हैं कि न कविता ने कभी उन्हें छोड़ा और न उन्होंने कविता की। अपने मित्रों से वे प्रायः कहा करते थे कि विश्वविद्यालय की सेवा से निवृत्त होने पर वे पुनः काव्य-रचना में प्रवृत्त होंगे, पर होनी कुछ और ही थी।

शुक्लजी के इस पक्ष की चर्चा भले ही मेरी कवि-सुलभता समझ ली जाय, पर यह तथ्य मुझे मुश्किल बनाता है कि कविता और साहित्य में उनकी गहरी तथा प्रत्यक्ष रुचि थी। वे साहित्य-क्षेत्र में सबको 'ठिकाने' लगा देने का दंभ लेकर न उतरे थे, बल्कि अपनी वासना या सस्कार के नाते प्रवृत्त हुए थे। इसीलिए साहित्य से उनका बुनियादी लगाव एक कवि और सहृदय का-सा-लगाव था। आलोचना को उन्होंने अपना 'व्यवसाय' नहीं बनाया था, वह उनकी भावप्रवणता में से ही निःसृत हुई थी। यह बात दूसरी है कि क्रमशः कविता लिखना छोड़ वे संपादन, शास्त्रीय विवेचन, इतिहास-लेखन, समालोचन के गुरुकार्यों में व्यस्त होते गये थे पर इन क्षेत्रों में उनकी सफलता का प्रमुख कारण, मेरे विचार से, उनकी रसज्ञता अथवा सहृदयता ही थी। 'चितामणि' के लेखों के विषय में उन्होंने अकारण यह न लिखा था कि "याता पर निकलती रही है बुद्धि, पर हृदय को भी साथ लेकर।" तटस्थ-वैज्ञानिक विश्लेषण करते-करते भी जिस तरह वे मन को रमानेवाले प्रसंगों में लौन हो जाते हैं, वह उनकी क्षमता का सूचक है।

शुक्लजी न केवल भाव-विभोर होते हैं, भाव-विभोर कर भी देते हैं। लेकिन विवेचन-विश्लेषण के बीच उनके ये उद्गार कहीं भी—उन्हींके शब्दों में कहें-तो—'झूमने' या 'झीमने' (हिं० सा० ३०, २०२५ सं०, ५८६) का आभास नहीं देते, न मूल विषय से हमें भटकाकर कहीं और ले जाते हैं, अपितु उनके द्वारा विवेचित गंभीर विषय की कहीं अधिक स्पष्ट, गहरी और मार्मिक प्रतीति कराते हैं। जरा देखें :

"मैंने पहाड़ों पर या जंगलों में घूमते समय बहुत से ऐसे साधु देखे हैं जो लहराते हुए हरे-भरे जंगलों, स्वच्छ शिलाओं पर चाँदी से ढलते हुए झरनों और जल को झुककर चूमती हुई डालियों पर कलरव कर रहे विहगों को देखकर मुश्किल हो गये हैं। काले मेघ जब अपनी छाया डालकर चित्रकूट के पर्वतों को नीलवर्ण कर देते हैं, तब नाचते हुए नीलकठों (मोरों) को देखकर सभ्यताभिमान के कारण शरीर चाहे न नाचे, पर मन अवश्य नाचने लगता है।" (रस-मीमांसा, १११-११२)

और भी : “एक दिन रात को मैं सारनाथ से लौटता हुआ काशी की कुज गली में जा निकला। प्राचीन काल में पहुँची हुई कल्पना को लिए हुए उस सँकरी गली में जाकर मैं क्या देखता हूँ कि पीतल की सुन्दर दीवटो पर दीपक जल रहे हैं, दूकानों पर केवल धोती पहने और उत्तरीय डाले (गर्मी के दिन थे) व्यापारी बैठे हुए हैं, दीवारों पर सिंदूर से कुछ देवताओं के नाम लिखे हुए हैं, पुरानी चाल के चौखूटे द्वारा और खिड़कियाँ हैं। मुझे ऐसा भान हुआ कि मैं प्राचीन उज्जयिनी की किसी वीथिका में आ निकला हूँ। इतने ही में थोड़ी दूर चल कर म्युनिसिपैलिटी की लालटेन दिखाई दी। बस सारी भावना हवा हो गई।”  
(रस-मीमांसा, १४७-१४८)

‘इस तरह के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। जरूरत यह समझने की है कि ये गुद्ध भावोच्छ्वास नहीं हैं। इन दोनों विचारों के मूल में है—‘प्रकृति’ तथा ‘अतीत’ सम्बन्धी शुक्लजी के सुनिश्चित आग्रह या विचार। हिन्दी समीक्षा में वैचारिकता के नाम पर कभी रहस्यवादी शब्दोच्चार और कभी प्रलाप जो इन दिनों बढ़ चला है, उसको रोकने-थामने में शुक्लजी के ‘विचार’ सभव है, कुछ सहायक हो। बात यह है कि शुक्लजी आलोचना में ‘विचार’, और रचना में ‘भाव’ पर बल देते थे। यह क्रम इधर कुछ उलटने-सा लगा है। रचना में ‘वैचारिकता’ और आलोचना में ‘भावुकता’ बढ़ती दिख रही है, यद्यपि भाषा और सभ्यता का विकास होने के साथ-साथ यह ‘विकास’ भी तरह-तरह के रूप बदलकर हमारे सामने आया है। शुक्लजी की राय इस मामले में क्या थी, यह सर्वविदित है।

जो भी हो, यह भ्रम किसी को न होना चाहिए कि शुक्लजी की मौलिकता, कल्पनाशीलता अथवा रसग्रहण-अभत्ता पर बल देकर मैं उनके साहित्य-चिन्तन के किन्हीं गौण पक्षों को आवश्यकता से अधिक प्रमुख बनाना चाह रहा हूँ; या यह सिद्ध कर रहा हूँ कि स्वयं कवि होने और कविता-प्रेमी होने के नाते ही वे बड़े आलोचक बने थे।

दरअसल, यह चर्चा मेरे इस ख्याल के साथ जुड़ी है कि कृतियों और कृतिकारों के व्यावहारिक अध्ययन से आलोचना जितनी दूर होती जाएगी, जितनी शास्त्रीय, सैद्धांतिक, सूक्ष्म होती जाएगी, उतनी ही जड़ता उसमें आती जाएगी। मतलब यह नहीं कि आलोचना को शास्त्रीयता, सैद्धांतिकता, सूक्ष्मता से दूर रखा जाय। सिफ़र यह कि आलोचना को उसके मूल स्रोतों-रूपों-व्यापारों से ज्यो-ज्यों काटा जाएगा, वह मात्र शास्त्रीय-सैद्धांतिक आदि बनती जाएगी। इस निगाह से देखें तो पता चलेगा कि शुक्लजी की समीक्षा उनके आरंभिक लेखों, जैसे ‘कविता क्या है?’ आदि से लेकर उनके अंतिम लेखन, जैसे ‘इतिहास’ के संशोधित अंशों आदि तक, निरंतर अपने जीवन-स्रोतों, या कहें, रस-स्रोतों से

जुड़ी रही थी ।

यह कहना, इस बात को कहना नहीं, कि जो अच्छे लेखक है, वही अच्छे आलोचक होंगे । आलोचक का अपना अनुशासन, कार्य करने का अपना अलग ढग होता है, हो सकता है—कदाचित् कवि-लेखक की पढ़ति से भिन्न—पर कही-न-कही, किसी-न-किसी गहरे स्तर पर उसका सरोकार सृजनात्मक लेखन के साथ रहने पर ही उसकी आलोचना में शक्ति और गरिमा आएगी ।

हिन्दी समीक्षा ने इस तथ्य को पहचाना भी है । तभी तो उसकी मुख्य केंद्रीय धारा में अधिकतर वही समीक्षक गिने गए हैं, दो-एक अपवादों को छोड़कर, जो सृजनात्मक लेखन की राह छोड़कर समीक्षा की ओर आए हैं; न कि प्रभाववादी या प्रशिक्षणवादी समीक्षक । सच तो यह है कि प्रभावाभिव्यजक तथा शैक्षणिक समीक्षा के सम्मुख हिन्दी ने अपने सृजनशील कृतिकारों द्वारा लिखी गई समीक्षा तक को अधिक मान्यता दी है । हिन्दी आलोचना की इस परपरा से परिचित होने का अर्थ है, इसकी सबसे मजबूत कड़ी आचार्य रामचन्द्र शुक्ल से परिचित होना ।

कभी-कभी मैं कल्पना करता हूँ कि शुक्लजी आज हमारे बीच होते और अपने इतिहास का परिवर्धित स्स्करण प्रकाशित करते तो विगत तीस वर्षों की साहित्यिक गतिविधि का मूल्यांकन किस भाँति करते? प्रगतिशील-प्रयोग-शील-साठोत्तरी काव्यधारा को वे कितनी सहानुभूति देते? उपन्यास, कहानी, नाटक, शोध-समीक्षा की प्रचुर राशि को वे कितना बहुसूल्य समझते? —यह जानने की इच्छा होती है । वैसे तो इस इच्छा को फ़ालतू या काल्पनिक मान दर-किनार किया जा सकता था क्योंकि ‘जो नहीं है, उसका शम क्या!’ यह कह कर छुट्टी भी पाई जा सकती थी कि वे होते तो आज नब्बे-सौ की उम्र उनकी होती और ‘दकियानूस’ वे पहले ही थे, आज तो ‘नितान्त अप्रासंगिक’, ‘बिल-कुल वर्घ्य’ होते । लेकिन मेरी निगाह में शुक्लजी मात्र एक ‘व्यक्ति’ नहीं बल्कि एक दृष्टि, एक स्थान, एक विचार-सरणि, यहाँ तक कि हिन्दी के संदर्भ में, एक ‘प्रतिभास’(फ्रिनोमिना) थे । शास्त्राभ्यास और साहित्याभ्ययन ने उन्हें एक निगाह दी थी ।

मेरी यह जिज्ञासा बिलकुल स्वाभाविक है कि उस ‘निगाह’ ने द्वितीय समरोत्तर हिन्दी साहित्य का लेखा-जोखा किन रूपों में, किन विधियों से किया होता! क्या हलचल से भरी यह अवधि या इसके दौरान सामने आई कृतियाँ उस निगाह को किसी क़दर बदल सकी होतीं? शुक्लजी आज होते तो

क्या सूर-तुलसी-जायसी अथवा योगमार्ग, रहस्यवाद, रीतिकाव्य के बारे में उन्होंने अपनी रायें सुधारी होती ?

अपनी धारणाओं पर वे दृढ़ रहते थे, 'जड़' नहीं; इसके कई प्रभाण उनके अपने ही लेखन में हैं। आधुनिक काल की नयी काव्यधारा के प्रथम उत्थान का परिचय देते समय उन्होंने प्रसन्न भाव से यह लिखा था : "कालचक्र के फेर से जिस नयी परिस्थिति के बीच हम पड़ जाते हैं, उसका सामना करने योग्य अपनी बुद्धि को बनाए बिना जैसे काम नहीं चल सकता, वैसे ही उसकी ओर अपनी रागात्मिका वृत्ति को उन्मुख किए बिना हमारा जीवन फीका, नीरस, शिथिल और अशक्त रहता है।" (हि० सा० इ०, ५६३)

शुक्लजी के इस कथन को आप दोबारा पढ़ें तो स्पष्ट हो जायेगा कि मेरी ये उत्सुकताएँ केवल बैठे-ठाले की खामख्यालियाँ नहीं हैं बल्कि समालोचन-शास्त्रचितन-इतिहास लेखन के गंभीर प्रश्नों से जुड़ी हुई हैं। शुक्लजी की परंपरा को बढ़ानेवालों और मिटानेवालों ने ज़रूर ही इनके बारे में सोचा होगा; पर मुझे जात नहीं कि दावेदारों ने शुक्लजी से अपनी सहमति-असहमति को उसकी सम्पूर्ण तार्किक परिणतियों तक पढँचाया है। ज़रूरी न था कि शुक्लजी की हर बात मानी या काटी ही जाती; पर मुझे लगता है कि हिन्दी समीक्षा ने पिछले वर्षों में, शुक्लजी की मान्यताओं का विस्तृत परीक्षण भले किया हो, साहित्य-चितन की उनकी दृष्टि का न तो अपेक्षित विस्तार किया है, न उसके समानान्तर या प्रतिकूल समग्र-समन्वित दृष्टियाँ प्रतिष्ठित की हैं, यहाँ तक कि शुक्लोत्तर छायाचादी-मार्क्सवादी समीक्षकों ने भी नहीं; इधर के समीक्षकों का तो ख़ैर, कहना ही क्या ! शुक्लजी का इतिहास सन् १६२६ ई० में निकल चुका था। अब उसके प्रथम प्रकाशन की स्वर्ण जयन्ती कुछ ही वर्षों में भनावी जाएगी। कोई तो बजह होगी कि आज भी जब हम समग्र, समन्वित दृष्टि से लिखा गया हिन्दी साहित्य का इतिहास खोजते हैं तो मोटे-मोटे अनेक पोथों के बावजूद उसी एक पर निगाह टिकती है। उस इतिहास की त्रुटियों और कमियों को भलीभांति समझते हुए भी, हमारे किसी शोधकर्ता-विद्वान्-समीक्षक-इतिहासकार ने एक श्रेष्ठतर और पूर्णतर इतिहास बयो न लिखा, यह विचारणीय है। सृजनात्मक क्षेत्र में तो बहुत बार यह होता है कि उपलब्धियों के पुराने शिखर बेहद ऊँचे होते-दीखते हैं, और उनके सम्मुख बाद की कृतियाँ अक्सर छोटी-बौनी पड़ती हैं; लेकिन आलोचना-क्षेत्र में तो कायदे से ऐसा न होना चाहिये। हिन्दी में आज बौद्धिकता, परिश्रमशीलता, कार्य करने की सुविधा आदि अनेक क्षमताएँ पच्चुर मात्रा में हैं। भाषा की विवेचन-शक्ति भी बेहद बढ़ गई है। ऐसा भी नहीं कि हमारे विद्वानों ने इस कार्य को महत्वहीन समझा हो। छोटे-बड़े कितने ही इतिहासों से बाजार पट गया है। निश्चय ही-

हमारी जानकारी में इन योजनाओं के कारण बढ़ोतरी हुई, स्फुट रूप में हमारी समझ भी अवश्य बढ़ी, पर जानकारी और समझ से युक्त—साथ ही इनका अतिक्रमण करनेवाली इतिहास-दृष्टि आज भी क्या हमें सबसे अधिक शुक्लजी में ही नहीं मिलती ? तो फिर उनकी असगतियों का विवेचन जितना ज़रूरी है, उतना ही यह भी कि हम हिन्दी-समीक्षा की इस अपनी असंगति पर विचार करें।

हम जानते हैं कि शुक्लजी की धारणाएँ उनके जीवन के लगभग चालीस वर्षों की अवधि तक विकसित-परिवर्तित होती रही थीं। इनका संबंध लगभग हजार साल की अवधि में लिखे गए हिन्दी साहित्य से था। भारतीय और पश्चिमी साहित्य ही नहीं, साहित्यशास्त्र के भी अध्ययन से शुक्लजी ने इन धारणाओं को पुष्ट-परिष्कृत किया था। अपने समय की सामाजिक तथा अन्य धाराओं का भी उन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। आज शुक्लजी के तीस-पैंतीस वर्ष बाद—अतराल पड़ जाने के कारण—हिन्दी समीक्षा उस चौहाँ याकि ‘फ्रेम’ को समझने में अधिक समर्थ है, जिसके अतर्गत शुक्लजी ने अपना कार्य किया था।

आज हम तलाश सकते हैं कि शुक्लजी के विचार कहाँ-कहाँ से होते हुए उन तक आए थे और फिर कहाँ-कहाँ, क्योंकर भ्रमण करते हुए हम तक पहुँचे हैं। यह कोई छिद्रान्वेषण नहीं, न तथाकथित ‘साहित्यिक चौरियों’ का भडाफोड़ करना है। इसके पीछे बिलकुल सात्त्विक यह जिज्ञासा है कि साहित्य-चितन की सुदीर्घ परंपरा के दौरान, कुछ विचार कैसे अपना रूप बदल या फिर मूल रूप में ही सामने आते रहे हैं। भावों के मूल रूपों तक पहुँचने की हिदायत कवि को स्वयं शुक्लजी दे गए थे, उन्हींके दिखाए मार्ग पर चलकर हम क्यों न विचारों के मूल रूपों तक पहुँचने का सुझाव आलोचक को दे !

हमें जात है, शुक्लजी साहित्य में ‘नक्ल’ के बड़े विरोधी थे। व्यक्तिगत रूप से, मैं उनकी इस राय से बहुत सहमत नहीं, क्योंकि ‘नक्ल’, ‘प्रभाव’ या ‘सादृश्य’ सृजनात्मक लेखन में बहुत दूर तक प्रकृत्या सम्मिलित रहते हैं, ऐसा मेरा ख्याल है। इसलिए साहित्य के शानेवारों-न्यायमूर्तियों को मैं यहाँ केवल ‘विशुद्ध साहित्यिक चौरी’ के मामलों में उपस्थित पाना चाहूँगा; लेकिन उम्मीद करूँगा कि वहाँ—विचारों की चौरी के मामले में, वे अपनी स्वनियुक्त ‘डूटी’ ज्यादा मुस्तैदी से निभाएँ। उधर अफलातून, इधर भरतमुनि और सुदूर कनफ्यूशियस से लेकर अब तक कौन-कौन विचार कौन-कौन रूप द्वरकर प्रकट

होते रहे हैं, इसकी छानबीन वे बेशक करे। चितन की परंपरा को समझने और परखने में इससे बड़ी सहायता मिलेगी।

स्वयं शुक्लजी के कुछ विचार औरो की गूँज जान पड़ते हैं; उदाहरणार्थ, ड्रिकवाटर के कविता-विषयक एक लेख में यह बताया गया है कि वस्तुएँ अध्य-प्रकाशित होने पर अधिक सुन्दर दौखती हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए ड्रिकवाटर ने एक विवरण प्रस्तुत किया है, जिसे पढ़ने पर शुक्लजी के ऐसे ही कुछ विवरण स्मरण हो आते हैं, विशेषकर 'कविता क्या है ?' में उल्लिखित मधुर बाल्य-स्मृति के चित्र। पर इस तरह के उदाहरण अधिक-से-अधिक विचार-प्रतिपादन-पद्धति का अनुकरण माने जा सकते हैं, बशर्ते कि हम इहें अनुकरण करें। मेरे लेखे तो विषय को इस भाँति मूर्त्ति रूप देना शुक्लजी की अपनी निजी विशेषता थी।

औरो से विचार-साम्य भी यत्न-तत्व शुक्लजी में मिल जाता है। कहते संकोच होता है, फिर भी इशारा करना पड़ेगा शुक्लजी के ही समकालीन एक आलोचक की ओर जिनके कुछेक वाक्य और विचार शुक्लजी के बहुत निकट तक आ जाते हैं। कठिनाई यहाँ यह है कि इन महोदय पर उन दिनों हिन्दी में लोकप्रिय अग्रेज समालोचकों वर्संफोल्ड और हड्डसन का प्रत्यक्ष 'प्रभाव' प्रमाणित हो चुका है। इस सबसे हम क्या निष्कर्ष निकाले ?

बहरहाल, इतना तो तथ्य है कि शुक्लजी ने अपने अनेक स्रोतों का स्पष्ट उल्लेख किया है, जो कि विचार-विमर्श की उचित और स्वीकृत पद्धति है। उदाहरण के लिए, काव्य को 'आनंद की साधनावस्था' तथा 'आनंद की सिद्धावस्था' के अंतर्गत रखते समय शुक्लजी तत्काल डंटन द्वारा निरूपित 'शक्तिकाव्य' (पोयट्री ऐज एनर्जी) और 'कला-काव्य' (पोयट्री ऐज ऐन आर्ट) का हवाला देते हैं। इतना ही नहीं, सूक्ष्म विवेचन करते हुए वे डंटन के विभाजन से अपना मतभेद प्रकट करते हैं : "वास्तव में कला की दृष्टि दोनों प्रकार के काव्यों में अपेक्षित है।" ('काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था', चितामणि-१, २१५)

'विशेष बात' यह है—जो शुक्लजी की विशेषता है और जिसकी ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए ही यह प्रसंग छेड़ना पड़ा है—कि ऐसे विचार-स्रोतों को क्रमशः जोड़ते हुए शुक्लजी अपनी केंद्रीय मनोभूमि से जा मिलते हैं। शृंखला कितनी अटूट है : आनंद की सिद्धावस्था जुड़ी है माधुर्य से, माधुर्य भाव की उपासना 'रहस्य' से, 'रहस्य' कबीर-नाथ-सिद्ध से। आगे चलकर छायावादी कविता और प्रभाववादी आलोचना को भी शुक्लजी उससे संयुक्त करते हैं। यही नहीं, केशव जैसे कवियों की आडंबरमुक्त रचना को, अकर्मण्यता और

गुह्य साधना को, दरबारी काव्य और सूक्ति-चमत्कार को भी वे इसी खत्ते में डालते हैं।

इसके विपरीत, अतीत और प्रकृति से रस ग्रहण करने वाली, जीवनानुभव पर आधारित, लोकधर्मी, भाव-समन्वित साहित्य-धारा को वे हिन्दी की मूल परंपरा मानते हैं। तुलसी, सूर, जायसी, भारतेडु, प्रेमचंद को वे इसी नाते महत्व प्रदान करते हैं। डटन को वे कितना पीछे छोड़ आए हैं, कहने की जरूरत न होनी चाहिए।

शुक्लजी अपने विचारों को किस तरह निरूपित करते, फैलाते और फिर समेटते थे, हम बखूबी जानते हैं। लोक धर्म तथा व्यक्ति-धर्म, सुगुण तथा निर्गुण, भक्त तथा सत, स्वच्छंद नूतन पद्धति तथा छायावाद आदि विच्छिन्न विषयों को समेटकर उन्होंने अपने बुनियादी चौखटे में जड़ लिया था। हिन्दी के आदिकाल में भी गुह्य और रहस्य की प्रवृत्ति उनको नापसंद थी, आधुनिक काल में भी क्या कविता, क्या आलोचना, सर्वत्र वे ऐसे लोगों का विरोध करते थे, जो अपने को गूढ़ रहस्यदर्शी प्रकट करते के लिए “सीधी-सादी बात को भी रूपक बाँधकर और टेढ़ी पहेली बनाकर” (हिं० सा० ३०, १३६) कहते थे। इस ‘सीधे-सादेपन’ का सीधा-सादा सम्बन्ध वे लोकचित्त और लोकजीवन के साथ विठाने में समर्थ हुए थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके स्फुट निबन्धों, तुलसी, सूर, जायसी के विवेचनों और ‘इतिहास’ में उनकी यही दृष्टि प्रतिफलित हुई है। आज हम शुक्लजी के अनेक निष्कर्षों से असहमत हो सकते हैं पर यह विचारणीय है कि क्या हम इन निष्कर्षों के मूल में स्थित मन्तव्यों को भी भ्रमपूर्ण समझते हैं?

इस बात पर विचार करने के लिए कुछ उदाहरण ले लें : भक्तिकाल की कविता पर मुगल शासन के आतंक का विशेष प्रभाव शुक्लजी ने बताया था। उनकी इस धारणा की व्याख्या अनेक प्रकार से की जा सकती है। मेरा विचार है कि उन्हें ठेठ हिन्दू या ब्राह्मण मानने की जगह, साहित्य में लोकभावनाओं का प्रतिबिम्ब देखने वाला समझा जाए तो अधिक न्यायपूर्ण होगा। ऐसी बात नहीं कि देश में चली आ रही भक्ति की पुरानी परंपरा से वे अपरिचित थे। यद्य-तत्र और बार-बार उन्होंने उसका उल्लेख किया है लेकिन जब यह फँसला करने का बक्त आया कि पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी पर आठवीं शताब्दी और उससे भी पुरानी पहली-दूसरी शताब्दी का प्रभाव देखा जाए अथवा स्वतः भक्तिकालीन परिस्थितियों और समाज का? —तो शुक्लजी ने अपनी

लोकधर्मी दृष्टि के अनुरूप निर्णय किया। आज हम उनके फैसले को यदि नहीं मानते तो अपने ढग से विवेचन करने के लिए स्वतंत्र है पर हम यह न भूलें कि किसी समय के साहित्य को उस समय के जीवन-जगत से काट, उससे हजार साल पहले की स्थितियों से नत्थी कर देने के परिणामस्वरूप क्या हम कुछ अन्य विसर्गतियों से न घिर जायेगे?

आधुनिक काल से उदाहरण लेने पर इस विषय के कुछ और पहलू भी नजर आएँगे। शुक्लजी श्री चंडीप्रसाद हृदयेश की कहानियाँ और महाराजाकुमार श्री रघुवीर सिंह के रेखाचित्र बहुत पसन्द करते थे; दूसरी ओर वे “मैथिलीशरण गुप्त, बदरीनाथ भट्ट और मुकुटधर पांडे इत्यादि” (हिं० सा० ३०, ६४६) कई कवियों की “अन्तर्भाविना की प्रगल्भ चित्रमयी व्यजना के उपयुक्त स्वच्छन्द नूतन पद्धति” (वही, ६४६) के हासी थे। दूसरे शब्दों में कहे तो उन्होंने किंचित भावनात्मक गद्य और किंचित तथ्यात्मक पद्य को सराहा था। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि वे गद्य और पद्य के लिए दो अलग-अलग मानदंड लायू कर रहे थे। “भारतीय कथात्मक गद्य प्रबन्धो (जैसे कादम्बरी, हर्षचरित) के स्वरूप की परंपरा” (हिं० सा० ३०, ५१७) में भरोसा रखने के कारण, वे कथा को “काव्य के निकट रखने वाला पुराना ढाँचा” (वही, ५१७) ही ठीक समझते थे। इसी तरह, अतीत को ‘हृदय का मुकितलोक’ मान, उन्होंने रघुवीर सिंह की ‘शोष स्मृतियाँ’ पसद की थी। अतीत के प्रति यह आकर्षण उन्हें ‘पुराणपंथ’ से नहीं, बल्कि जीवन के मूल रूपों-व्यापारों वाले विचार से जोड़ता था।

इधर मैथिलीशरण गुप्त प्रभृति की ‘स्वच्छन्द नूतन पद्धति’ को प्रमुखता देकर वे छायावाद के अनुकरणात्मक, शैलीप्रधान, रहस्यवादी पक्षों के प्रति अपना विरोध प्रकट कर रहे थे। उक्त कवियों के प्रति हिंदी पाठकों-समीक्षकों की सांप्रतिक उदासीनता देखकर ऐसा ज़रूर लगता है कि शुक्लजी एक हारती हुई बाजी को सँभालना चाह रहे थे, लेकिन उनकी पसंद के पीछे केवल छायावाद के प्रति चिढ़ देखना ठीक न होगा, मूल प्राकृतिक आधार द्वारा प्रेरित “अनुभूति की सच्ची नैसर्गिक स्वच्छंदता” (हिं० सा० ३०, ५७५) उनको इन्हीं कवियों में जान पड़ती थी।

यह अध्ययन बड़ा दिलचस्प होगा कि अपने समकालीन गद्य-पद्य के विषय में जो उपर्युक्त धारणाएँ शुक्लजी ने बनाई थी, उनमें कितना योगदान उनके साहित्याद्धारों का था, कितना पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की इतिवृत्तात्मक पद्धति से उनके मतभेद का (दे०, हिं० सा० ३०, ५७७-५७८) और कितना उनकी निजी रुचि का? इसकी छानबीन का अवसर अभी नहीं है, पर इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि शुक्लजी के विचारों में असंगति यहाँ भी नहीं

है। “पंडितों की बैंधी हुई रूढ़ि से बाहर निकलकर अनुभूति के स्वतन्त्र क्षेत्र में आने की प्रवृत्ति” (हिं० सा० इ०, ५७४) का समर्थन वे यहाँ भी कर रहे हैं। यह बात बिल्कुल अलग है कि गद्य-पद्य की उक्त धाराओं को हिन्दी में बहुत अधिक मान्यता नहीं मिल सकी। पर, कम-से-कम यह निष्कर्ष तो कदापि नहीं निकछला जा सकता कि साहित्य की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति कविता में ही समझ शुक्लजी कहानी-उपन्यास-नाटक सबको काव्यात्मक बनाना और इस तरह इन विधाओं का स्वतंत्र अस्तित्व मिटा देना चाहते थे। उन्होने स्वीकार किया था कि : “जगत् और जीवन के नाना पक्षों को लेकर प्रकृत काव्य भी बराबर चलेगा और उपन्यास भी।” (हिं० सा० इ०, ५१७)

तथापि इधर के वर्षों में, गद्यकारों ने शुक्लजी की उपेक्षा इस आधार पर की है कि वे तो कविता के अध्येता थे, साहित्य के गद्य-रूपों के साथ न उनकी सहानुभूति थी, न वे इनको पूरी तरह समझते ही थे। मेरा अनुमान है कि ऐसा सोचना न सिर्फ शुक्लजी के, बल्कि साहित्य के बारे में एक महत्वपूर्ण, बुनियादी समझ के साथ अन्याय करना है। अपने समय तक के गद्य-रूपों का अध्ययन-विवेचन उन्होने सहानुभूतिपूर्वक किया था और गद्य के सर्वांगीण विकास वाले इस युग में वे मौजूद होते तो गद्य-रूपों में अवश्य जीवन की प्रचुरतर मार्मिक छवियाँ पाते और, इनकी देखादेखी, कविता को सम्मता की होड़ में आगे बढ़ता पा, संभवतः खिल होते।

खैर, वे क्या करते, क्या नहीं, इस कल्पना में अटके अपने कवि-मन को खीचकर जब मैं शुक्लोत्तर हिन्दी समीक्षा की ओर लाता हूँ तो वहाँ पुनरुक्ति की बड़ी प्रवृत्ति दिखाई देती है। इसका परिणाम यह हुआ कि वहसें एक सीधी दिशा में आगे न बढ़ पाई, घूम-फिरकर उन्हीं-उन्हीं दायरों में अक्सर बैंधी और फौसी रहीं।

इन तीस वर्षों में हिन्दी लेखन का विस्तार जिस गति से हुआ, उसे ध्यान में रखें तो ये बातें उतनी बुरी नहीं लगतीं। जो चीजें पुरानी या शाश्वत हैं, उनसे हर बार नवागतुकों को नया परिचय स्थापित करना ही पड़ता है। इस अवधि में इतने अधिक और नये लेखक-पाठक हिन्दी में प्रविष्ट हुए—अपनी बुनियादी साहित्यिक जारूरतें लिए हुए—कि इस प्रसंग को हम थोड़ी सहानुभूति देने के लिए बाध्य हैं। यों समझिए कि रामायण-महाभारत की कथाएँ इतनी विश्रृत भले ही हों, लेकिन कोई भी बच्चा माँ के पेट से इनको जानकर

नहीं पैदा होता। स्वाभाविक है कि उसके बचपन में ये तथा अन्य कथाएँ सुनाई-बताई जाएँ।

अस्वाभाविक यहाँ केवल इतना है कि पिछले तीस वर्षों में बार-बार ऐसा जान पड़ा, मानो हमारे आलोचक अपने क्षेत्र में ‘बाल-महाभारत’ या ‘बाल-रामायण’ के नए-नए रूपान्तर प्रस्तुत कर देने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ बैठे हैं।

क्या इसका कारण यह था कि एक बहुत बड़ी लकीर के सामने अपने-आप में काफ़ी बड़ी लकीरें भी अक्सर छोटी दिखाई देती हैं?

शुक्लजी के कृतित्व का मूल्यांकन करते हुए, उनके तुरंत बाद, यह बात कहीं गई थी कि शुक्लजी हमारी आलोचना के बालाशृण थे, अब दिन काफ़ी चढ़ आया है, और हिन्दी आलोचना का सूर्य मध्याह्न में पहुँच गया है। इस रूपक को आगे बढ़ाया जाय तो कहना पड़ेगा कि हिन्दी आलोचना का सूर्य अब डूबने-डूबने को है, क्योंकि यदि शोधार्थियों को आलोचकों की श्रेणी में न रखा जाय तो ज्ञात होगा कि आलोचना को एकान्त रूप में इधर इक्के-दुक्के लोगों ने ही अपनाया है। वह जो पुरानी कहावत थी कि ‘असफल कवि आलोचक हो जाते हैं’, हिन्दी में उलटकर लागू होने लगी है कि ‘असफल आलोचक लेखक बन जाते हैं।’ ऐसे ही कुछेक लेखक आलोचना को ‘आपद्धर्म’ बताकर, थोड़ा खंडन-मंडन करते रहे हैं और जब जैसा मौक़ा हुआ, उन्होंने अपने को ‘शहीद’ या ‘शूरवीर’ बनाया है।

देशक हमारे सृजनशील लेखकों द्वारा लिखी गई कुछ आलोचना में प्रतिभा, कल्पनाशीलता और सूझ-बूझ के प्रमाण मिले हैं—जोकि आचार्य शुक्ल की समीक्षा के नित्य लक्षण थे—पर उनके पास शुक्लजी अथवा उनके परवर्ती कुछ आलोचकों जैसा ‘अनुशासन’ नहीं है, ‘तैयारी’ और ‘उपकरण’ भी नहीं।

इस सबके बिना शास्त्र तथा साहित्य-संबंधी विभिन्न विषयों की पूरी जाँच-पड़ताल संभव नहीं।

रसात्मक बोध की ऊँची-नीची कोटियाँ, कवि द्वारा मार्मिक स्थलों की पहचान, कविता तथा सूक्ति में अंतर, मूलरूपों और व्यापारों के अनावरण में ही कवि-कर्म की सच्ची सार्थकता, लोकमंगल की साधनावस्था और सिद्धावस्था, लोकधर्म और व्यक्तिधर्म, योगमार्ग और भक्तिमार्ग आदि अनेक विषयों में शुक्लजी ने जो स्थापनाएँ की थीं, उनका सम्यक्, तटस्थ, निर्मम विवेचन हिन्दी आलोचना में ज़रूर हुआ होगा, लेकिन यदि हम जानना चाहें कि पिछले तीस वर्षों में हिन्दी समीक्षा ने शुक्लजी से मिलती-जुलती, भिन्न अथवा प्रतिकूल कौन-कौन साहित्यिक धारणाएँ विकसित की, तो शायद

ऐसे तमाम मूलों पर नए सिरे से गौर करना जरूरी हो जाएगा—इसलिए और भी कि शुक्लजी के विचारों पर स्फुट टिप्पणियों की कोई कमी नहीं रही है।

अस्तु, हिन्दी समीक्षा पर दायित्व है कि वह इस तमाम सामग्री को संयोजित करे। अनेक प्रश्न उठे हैं, जैसे : रसानुभूति का अंतर गुणात्मक है या मात्रामूलक ? आलंबन-रूप में प्रकृतिचित्रण का अर्थ क्या वही है जो कि 'पैस्टोरल काव्य' का ? लोक पर विश्वास करने वाले रामचंद्र शुक्ल लेनिन की निन्दा करते समय जनता को मूर्ख बताते हैं ? मुकुटधर पाड़े में सच्ची स्वच्छंदता और निराला में अनुकरणात्मक पार्खंड देखने वाले शुक्लजी की मूलभूत गड़बड़ी कहाँ थी—भावबोध में, सौदर्यबोध में या कही अन्यत ? इन विषयों पर एकाध-बार विचार हुआ है। लेकिन यह कौन कहेगा कि ऐसे तमाम मामले अंतिम रूप से निबटा दिए गए हैं !

शुक्लजी ने स्वयं हवाला दिया है कि सभ्यता के आवरण चीरकर सृष्टि के अदिम रूपों-व्यापारों तक कविता के पहुँचने वाला उनका विचार नितान्त मौलिक नहीं। पर जैसा मैंने पहले कहा, शुक्लजी मेरे औरों के विचारों को भी अपनी प्रखर मेधा से अलंकृत-आलोकित कर देने की अपूर्व क्षमता थी। यहाँ तक कि रस, आनंद, साधारणीकरण जैसे उन विषयों पर भी यह कथन लागू होता है, जिनका विवेचन हमारे पुराने आचार्य लगभग अंतिम रूप से कर चुके थे। रसानुभूति की कोटियों, आनंद के अतिरिक्त भी रस की सत्ता, आलंबनत्व धर्म के साधारणीकरण जैसे अनेक पक्षों का स्वतन्त्र विवेचन कर शुक्लजी ने अपनी अंतर्दृष्टि और मौलिकता का परिचय दिया था।

दूसरी ओर, हम देखते हैं कि प्रासंगिकता, विडम्बना, तनाव, दृढ़, प्रति-बद्धता, समसामयिकता, प्रामाणिकता, आद्याम, पक्षधरता, जातीय स्मृति, सामूहिक अवचेतन, उत्सवधर्मिता, व्यंग्य आदि की कुछ ऐसी शब्दावली हिन्दी समीक्षा में इस बीच विकसित हुई, जिसका उपयोग शुक्लजी नहीं कर सके थे। शुक्लोत्तर समीक्षा के इन आग्रहों को हम बिलकुल सीधे—रेलेवेंस, पैराडाक्स, टेन्शन, कान्फिलक्ट, कमिटमेट, कटेप्पोरैनिटी, आथेण्टिसिटी, डाय-मेन्शन, पार्टिजन, रेशल मेसोरी, कलेक्टिव अनकाशस, सेलीग्रेशन, आयरनी आदि की पश्चिमी शब्दावली में खोज लेंगे।

बहरहाल, मेरी धारणा है कि प्रभाव ग्रहण करना अनुचित नहीं। यदि कोई गंभीर या महत्वपूर्ण विचार कहीं प्रतिपादित हुआ हो तो उसका उपयोग करने का अधिकार हमें मिलना चाहिए। इसलिए विचारणीय तो यह है कि साहित्य-संबंधी इन मान्यताओं को हमारे आलोचकों ने कितनी गहराई के साथ समझा और हमारे साहित्य से इनका कितना अंतरग संबंध स्थापित किया ?

क्या इनके आधार पर हमारे आलोचक अपने लिए कोई सुनिश्चित, व्यवस्थित, संपूर्ण और स्वतंत्र काव्यशास्त्र निर्मित कर सके ? या उन्होंने पश्चिमी शब्दावली को महज थिगली या पैबंद की तरह इक्का-दुक्का कृतियों-कवियों, और काव्यान्दोलनों पर जड़ दिया है ?

इसका जिक्र यहाँ इसलिए जरूरी समझा गया क्योंकि शुक्लजी ने अपने विचार कही से भी, लिए हों, वे उन्हें सुश्रृंखित करते थे और साहित्य-इतिहास-आलोचना के समग्र विस्तार में उन्हे प्रलिपित करते थे। क्या हम यही बात परवर्ती आलोचकों के सबंध में भी कह सकते हैं ? केंद्रीय साहित्यिक दृष्टि, सांस्कृतिक मानववादी दृष्टि, निश्छल आत्माभिव्यक्तिपरक दृष्टि, पारंपरिक प्रगतिशील दृष्टि आदि के निकट रहकर हमारे कुछ वरिष्ठ आलोचकों ने अवश्य व्यवस्थित विवेचन के आधार निर्मित किए हैं। वे उसे सर्वांगपूर्ण और गुम्फित बनाने के प्रयास में संलग्न भी रहे हैं। पर उनके कार्य का विधिवत् अध्ययन-मूल्यांकन अभी नहीं हुआ।

जो भी हो, शुक्लेतर और शुक्लोत्तर समीक्षा की उपलब्धियों को नजर-अदाज़ नहीं किया जा सकता। इतने अधिक क्षेत्रों में इतना अधिक कार्य हुआ कि उसके आकलन के लिए एक समूचे शोध-मंडल की आवश्यकता है। यह विद्वस्तमंडली तथ्यो-दृष्टियों-विचारों की छानबीन कर हिन्दी समीक्षा का उत्तम नवनीत प्रस्तुत करे तो कितना अच्छा हो। अभी तो निरे तथ्यात्मक स्तर पर शुक्लजी के ही कार्य की परीक्षा नहीं हुई। हाँ, उनके विचारों और अवधारणाओं के संशोधन का थोड़ा प्रयास अवश्य हुआ है। उदाहरणार्थ : आदिकाल, कबीर, छायावाद, केशवदास आदि के प्रति शुक्लजी के उपेक्षा-भाव को परवर्ती आलोचकों ने अनुचित या अमात्य ठहराया है। गद्य-रूपों के प्रति हिन्दी लेखन की परम अनुरक्ति बढ़ी है। यह भी प्रकारान्तर से काव्य-प्रेमी 'आचार्य' के साहित्य-बोध की अस्वीकृति है, जो इसलिए और भी तीखी जान पड़ती है, क्योंकि गद्य का विशाल रथ धरधराता हुआ इस 'ब्राह्मण' की कुटिया को बिलकुल अनदेखा करता-सा आगे निकलता जा रहा है।

द्रष्टव्य है कि शुक्लजी की अनेक मान्यताएँ परवर्ती आलोचकों ने स्वीकार तो की, लेकिन उन मान्यताओं का मूल आधार परिवर्तित कर दिया। इसका बहुत बड़ा उदाहरण है, उनकी लोक-मंगल विषयक धारणा। हिन्दी की प्रगति-शोल आलोचना के मूल में लोक-मंगल की ही धारणा है। पर शुक्लजी इसका जो दर्शनिक, आध्यात्मिक अथवा वैष्णवभक्तिमूलक वैचारिक आधार प्रतिपादित

करते थे—अतः आनंद की सिद्धावस्था वाले काव्य को भी गौरवपूर्ण न सही, उचित महत्त्व प्रदान करते थे—वह सारे-का-सारा विश्लेषण प्रगतिवादियों के लिए अप्रासाधिक हो गया। उन्होंने वर्ग-संघर्ष और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की भूमिका पर लोक-मगल को प्रतिष्ठित किया, और प्रगतिशील-ह्रासोन्मुख कोटियों में साहित्य को बाँटते हुए, ह्रासोन्मुख साहित्य को सर्वथा त्याज्य बताया। \*

उनकी बात तो खैर समझ में आती है, पर यह विलक्षण तथ्य है कि प्रमुख परवर्ती आलोचकों ने शुक्लजी के धर्म और भक्तिमूलक संस्कारों पर टिप्पणी करने के बावजूद स्वयं अपनी समीक्षा में इन तत्त्वों पर बल नहीं दिया; गोकि अधिकाश परवर्ती आलोचक धार्मिक संस्कारों से युक्त ही नहीं, कर्मकाढ़ी भी रहे हैं। उन्होंने शुक्लजी के साहित्य-बोध को वैष्णव-भक्तिभाव द्वारा परिचालित बताकर किंचित भिन्न साहित्याधार खोजे, जैसे—आर्यसमाज, गांधीवाद, साम्यवाद, पाश्चात्य तर्क-वृद्धिवाद, आधुनिकता, प्रयोगशीलता आदि; यद्यपि आज भी इस प्रश्न का उत्तर उलझा हुआ है कि भारत एक धर्मप्राण देश है या तर्कप्राण।

सन् १९७३ में सस्ती रोटी, सस्ते कपड़े की माँग करनेवाला विशाल जन-प्रदर्शन दिल्ली में हुआ; ठीक उन्हीं दिनों उसी दिल्ली में एक चमत्कारी बाबा के दर्शनों के लिए भी लगभग दो लाख लोगों की उतनी ही बड़ी, या मुमकिन है, उससे भी बड़ी भीड़ आ जुटी थी। सन् १९७४ में महांगाई तिगुनी-चौगुनी हो गई। यत-तत उपद्रव, आन्दोलन हुए और उधर हरिद्वार के कुभ मेले में धर्मार्थियों की संख्या बढ़ती हुई ५०-६० लाख जा पहुँची।

मठ, मन्दिर, तीर्थ, साधु, महात्मा का जोर इस देश में एक तरह से बढ़ता ही चला जा रहा है बल्कि इधर तो इनका प्रचार विदेशों में भी हो गया है। लेकिन शुक्लोत्तर हिन्दी समीक्षा ने इन तथ्यों की जाँच जल्दी नहीं समझी। वह तर्क-वृद्धि-व्याधार्थी-समाज-राजनीति-वर्गचरित्र आदि को अपने विवेचनों के केन्द्र में रखती रही। विचारणीय है कि शुक्लजी की धर्मनिष्ठापूर्ण दृष्टि से भिन्न—यह परवर्ती आलोचना-दृष्टि हमारे प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य का ही नहीं, आधुनिक साहित्य का भी विश्लेषण करने में किस हद तक सफल हुई?

इन उत्तरकालीन आलोचना-दृष्टियों में से एक—प्रगतिशील दृष्टि—के पास अवश्य अपना एक पूरा तंत्र या विधान था (गोकि कुछ ही समय बाद वह भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के उलझावों और 'तब्बेले की रार' में बुरी तरह फँस जया।) पर उसके अतिरिक्त क्या कोई भी अन्य आलोचना-दृष्टि इतनी व्यापक हो सकी, जितनी कि शुक्लजी की थी?

यही कारण है कि शुक्लजी की धारणाओं को समझने के लिए जिस तरह

कुछ सूत्र-शब्द (की-वर्ड्स) पर्याप्त हैं, जैसे : हृदय की मुक्तार्वस्था, भावयोग, लोकमंगल, साधारणीकरण, मूल रूप-व्यापार, सभ्यता के आवरण आदि, उस तरह के सूत्र अथवा शब्द परवर्ती आलोचना प्रतिष्ठित नहीं कर सकी। मनुष्य की जययात्रा, निश्छल आत्मभिव्यक्ति, अनुभव की प्रामाणिकता, ईमानदारी, प्रासंगिकता, युगबोध, जटिल जीवन की समझ जैसे कुछ शब्द अवश्य अनेक बार प्रयुक्त हुए। पर इनमें से दो-एक को छोड़, अन्यों को हम किसी एक विशिष्ट आलोचक के साथ नहीं जोड़ सकते—जिसने इनमें से किसी भी विचार का विधिवत्, व्यवस्थित विवेचन-विश्लेषण किया हो, उसे अपनी साहित्य-दृष्टि का पर्याय बनाया हो, साथ ही अपनी एक या एकाधिक कसौटी पर समूचे हिन्दी-साहित्य को कसा हो।

ऐसा नहीं कि इसकी आकाशा हमारे आलोचकों को थी ही नहीं या इसकी आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी। प्रत्येक उल्लेखनीय आलोचक ने आरंभ या बाद में इसका प्रयास अवश्य किया, जैसे : एक ने निबध्न-संग्रह की भूमिका में मूल्याकन के अपने आधारों का परिगणन किया था, दूसरे ने ‘साहित्य का मर्म’ बतलाया था, तीसरे ने ‘मेरी साहित्यिक मान्यताये’ शीर्षक से पूरी लेखमाला लिखी थी, चौथे ने कालजयी साहित्य की विशेषताओं का निरूपण किया था ।……यह सूची काफी आगे तक बढ़ाई जा सकती है। लगभग प्रत्येक आलोचक में इस तरह के हल्के या गहरे संकेत अवश्य मिल जायेगे, लेकिन किसी ने भी उन सूत्रों का विकास पूरी तरह से करके, शुक्लजी की भाँति समूचे साहित्यिक परिदृश्य का ताना-बाना बुन दिया हो, यह नज़र नहीं आता।

प्रखरता, चमक और प्रतिभा के अनेक उदाहरण शुक्लोत्तर समीक्षा में दिखाई देते हैं। पर जो बात श्री शमशेर बहादुर सिंह ने इधर की हिन्दी कविता के बारे में कहीं है कि वह ‘नर्वस डेबिलिटी’ (स्नायुविक शिथिलता) की कविता है, वह कुछ-कुछ हमारी आलोचना पर भी लागू होती है। कहा जा सकता है कि यह अधिकाश आलोचना एक तरह की ऐसी ‘भेन्टल डेबिलिटी’ (मानसिक शिथिलता) का परिचय देती है, जो कभी-कभी तो तनाव और उत्तेजना की दशा में पहुँच, चमत्कारपूर्ण हो जाती है; पर अधिकतर दुर्बल और निष्प्रभ पड़ी रहती है।

इसका यह अर्थ नहीं कि इधर की सारी आलोचना नगण्य है। शुक्लजी का आतक भी कुछ इतना अधिक रहा है कि सामान्यतः उनके बाद के सभी आलोचनात्मक कार्य को उपेक्षा भाव से नकार देने की प्रवृत्ति हिन्दी में चल पड़ी है। इन पंक्तियों का लेखक भी कदाचित् इससे मुक्त न हो सका।

लेकिन यदि थोड़ा ठहरकर समूची स्थिति पर हम पुनर्विचार करे तो ज्ञात होगा कि शुंकलजी के बाद कम-से-कम आलोचकों की दो पीढ़ियाँ कार्यरत रही हैं। एक पीढ़ी वह है जिसका लगभग सम्पूर्ण, अधिकांश या प्रचुर कार्य प्रकाश में आ चुका है और जिसने अपनी स्थापनाओं, विवेचनाओं तथा मूल्यांकनों को बहुत-कुछ उजागर कर दिया है। दूसरी पीढ़ी है उन आलोचकों की—जिन्होंने आधुनिक साहित्य के विभिन्न पक्षों, प्रेरणाओं और पृष्ठभूमियों पर प्रकाश तो डाला है, पर जिसका गंभीर, प्रौढ़ तथा महत्त्वपूर्ण कार्य अभी भी होना शेष है। आलोचकों की इन दो पीढ़ियों के अतिरिक्त इधर कुछेक वर्षों से हिन्दी में एक नयी तीसरी पीढ़ी के कुछ आलोचक उभर आए हैं जिन्होंने पुस्तक-समीक्षाओं, साहित्यिक पुनर्मूल्याकनों और समसामयिक कृतित्व की अन्तःप्रेरणाओं के विश्लेषण द्वारा पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है।

विचित्र बात यह है कि इन तीनों पीढ़ियों—बल्कि पीढ़ियों से ज्यादा अच्छा होगा कहना, ‘वर्गों’—अर्थात् वयोवृद्ध, अध्येत्र और युवा वर्ग के आलोचकों के बीच कोई गहरा तालमेल या संवाद नहीं दिखाई देता। बहुत बार तो ऐसा मालूम होता है कि तीन अलग-अलग पटरियों पर, तीन रेल-गाड़ियाँ चली जा रही हैं। बहुत बार यह भी पता नहीं चलता कि वे एक ही दिशा में जा रही हैं या परस्पर-विरोधी दिशा में—लेकिन इतना जरूर दिखत है कि वे एक-दूसरे को बहुत कम ‘कास’ करती हैं और उनके मुसाफिरा ज्यादातर अपने-अपने डिब्बों और अपनी-अपनी गाड़ियों के भीतर ही सफर करना चाहते हैं। एक से दूसरे में वे तभी जाते या पहुँचते हैं जब उनका ‘कलास’ या ‘वर्ग’ बदल जाता है। उम्र और पद-मर्यादा का तकाजा कितना गहरा और बड़ा हो सकता है—इसका अन्दाजा हिन्दी के सृजनात्मक लेखन से उतना नहीं मिलता, जितना हिन्दी के आलोचनात्मक लेखन से। वयोवृद्ध आलोचक अधिकतर इन विषयों में व्यस्त दिखते हैं : काव्यशास्त्र, रस-सिद्धान्त, सौन्दर्यशास्त्र, साहित्येतिहास, पुराने या बहुत हुआ तो अपने समय तक के कवि-लेखक। अध्येत्र आलोचक साहित्य-सिद्धांतों के फेर से तो बचते हैं, पर आधुनिकता-प्रगतिशीलता-रूमानियत-प्रतिमान आदि के विश्लेषण द्वारा प्रकारान्तर से उन्हीं विषयों की ओर बढ़ रहे हैं; जबकि युवा आलोचक समसामयिक कृतित्व, उसकी भाषा और अन्तःप्रेरणाओं का उद्घाटन करने के अलावा, नगरों-पत्रिकाओं-आन्दोलनों-पंथों की अखाड़ेबाजी में भी लगे हुए हैं।

शुक्लजी अथवा हिन्दी सभीक्षा का यह पूरा परिचय नहीं, केवल उस सदर्भ को उभारनेवाले कुछ मुद्दे हैं जिसमें हम आज सामान्यतः शुक्लजी को देखते-समझते हैं। मुझे ज्ञात है, बहुत समय तक शुक्लजी को लेकर हिन्दी सभीक्षा में खीचतान रही है और आरोप-प्रत्यारोप लगाये गये हैं। आकाश पर चढ़ाने से लेकर रसातल में गिराने तक—सबकुछ हुआ है। मेरा ख्याल है, अब हिन्दी में वह बहत है कि शुक्लजी के बारे में तो अवश्य पूँद, जाति, नगर जैसी अनेक सीमाओं से ऊपर उठकर सोचा-विचारा जा सकता है। समय के इतने अन्तराल बाद, अब वे हमारे रागद्वेष की सीमाओं से परे हो चुके हैं।

'विचार-कोश' के माध्यम से विभिन्न विषयों को सबसे पहले तो मैं खुद ही समझना चाहूँगा। दरअसल, यह एक लम्बी योजना की पहली कड़ी है। दूसरी कड़ी है—इसी का वह संशोधित सस्करण जो टिप्पणी और व्याख्या से युक्त होगा; तीसरी कड़ी है—परवर्ती शोध के आलोक में शुक्लजी के इतिहास का पुनरालेखन।

आगे की कड़ियाँ गिनाना अनावश्यक है क्योंकि एक पूरा जीवन तो इतने के लिए ही चाहिए ! वह जीवन भी मेरे जैसे दीर्घसूक्ती का नहीं, किसी दक्ष, व्यवस्थित, वैज्ञानिक क्रिस्म के व्यक्ति का होना चाहिए। मैं ठहरा कवि ! मेरे बस में होता तब तो इस कोश के वर्गीकरण, शीर्षकों, प्रविष्टियों की संख्या, आकार-प्रकार, प्रूफ की भूलों आदि को लेकर इतनी अधिक दुविधाएँ और आपत्तियाँ मेरे मन में रही हैं कि यह शायद कभी छप ही न पाती। इसकी तमाम कमियाँ वस्तुतः मेरी कमियाँ हैं। यह प्रकाशित हो गया, इसका श्रेय है प्रिय बन्धु श्री पद्मधर तिपाठी को। उनकी सदाशयता को संबल मिला श्री नारायणदत्त तिवारी और श्री हरीशचन्द्र सनवाल के सहयोग का। इसके मुद्रण में श्री कन्हैयालाल मलिक ने जिस रुचि का और श्री सुरेन्द्र मलिक ने जिस धैर्य का परिचय दिया, उसके लिए मैं आभारी हूँ।

बस, अन्त में, अपनी ओर से तो मैं केवल वह कथा सुना सकता हूँ जो शुक्लजी ने 'ध्रमर्जीत सार' की भूमिका में लिखी है : "एक अक्षीमची धोड़ी पर सवार कही जा रहे थे। जिधर उन्हे जाना था उधर का रास्ता छोड़ धोड़ी दूसरी ओर चलने लगी। जब बहुत मोड़ने पर भी वह न मुड़ी तो उन्होंने बाग ढीली करके कहा 'अच्छा, चल ! इधर भी मेरा काम है'!"

‘कोशा-कला’ के विशेषज्ञों और शुक्ल-साहित्य के मर्मज्ञों के सम्मुख यह ‘अफीमची’ इस अर्थ में अवश्य अपराधी है कि उसने घोड़ी को मोड़ने की कोशिश न की। नशा ही कुछ ऐसा था कि वह बढ़ता चला गया उस रास्ते पर, जहाँ होशमंद भी घबरा जाते हैं। अब यहाँ पहुँच, वह इतना हकका-बक्का है कि स्वयं शुक्लजी के ही ये शब्द उसे दिलासा दें तो दें : “इस कार्य में जो भूलें हुई हैं, उनके सुधार की, जो त्रुटियाँ रह गई हैं, उनकी पूर्ति की और जो अपराध बन पड़े हैं, उनकी क्षमा की पूरी आशा करके ही मैं अपने श्रम से कुछ संतोष-लाभ कर सकता हूँ।”

—अर्जितकुमार

किरोड़ीमत्र कॉलेज,  
दिल्ली-११०००७



## ऋचार्य रामचन्द्र शुक्ल

(१९६४-१९७१ ई०)

**जीवन-क्रम :** अगोना, ज़िला बस्ती से आश्विन पूर्णिमा को जन्म । बचपन राठ (हमीरपुर) में बीता । १९६३ में पिता पं० चंद्रबली शुक्ल का तबादला होने पर मिर्जापुर आए । १९६६ में विवाह, १९६८ में मिडिल और १९०१ में लंदन मिशन स्कूल, मिर्जापुर से एण्ट्रेस । एफ० ए० और मुख्तारी की पढ़ाई पूरी न हो सकी । १९०४ में मिशन स्कूल में ड्राइंग मास्टर बने, 'आनंद कादंबिनी' का सपादन भी करते रहे । १९०८ में ना० प्र० सभा के हिन्दी कोश के लिए सहायक संपादक हो काशी गए । १९११ से हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापन, १९३७ में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष । अन्य रोगों के अलावा, दमे की खास तकलीफ थी । हृदय-गति रुक जाने से २ फ़रवरी को देहावसान हुआ । प्रकृति-क्षेत्र में भ्रमण विशेष रुचिकर था । चाय, पान और थोड़ी मात्रा में भाँग का भी शौक था । बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, केदारनाथ पाठक, विघ्नेश्वरी प्रसाद तिवारी, ठाकुर बलभद्रसिंह, रामगरीब चौबे और श्यामसुदरदास के विशेष संपर्क में रहे थे । कृतियाँ : आरंभ में दो-तीन नाटक-प्रहसन लिखे जो नष्ट हो गए । 'ग्यारह वर्ष का समय' (१९०३) कहानी लिखी । स्फुट लेखों में 'कविता क्या है?' (१९०३), मनोविकारों पर दस लेख (१९१२-१८), हुएनसंग-दुर्गाविती-पिनकाट आदि पर कुछ लेख, 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' (१९२२), 'साधारणीकरण, व्यक्ति-वैचित्र्यवाद' (१९३३), 'काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था' (?), 'रसात्मक बोध के विविध रूप' (?), 'काव्य में रहस्यवाद' (१९२६), 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' (भाषण, १९३५) आदि विशेष हैं । इनमें से अधिकांश 'चिन्तामणि' (दो खंड) में संकलित हैं । बादू राधाकृष्णदास का जीवन-चरित (१९०८) भी लिखा था । गोस्वामी तुलसीदास (१९२२), महाकवि सूरदास (१९२४) और मलिक मोहम्मद जायसी (१९२४) पर उनकी समीक्षाएँ तथा 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (१९२६) सर्वप्रसिद्ध हैं । मृत्योपरांत प्रकाशित संकलन 'रस-मीरासा' (१९४६) भी अत्यंत महत्वपूर्ण ग्रंथ है । 'भारत और वसंत' (१९६६), 'मनोहर छटा'

(१६०१) उनकी आरंभिक कविताएँ थीं। कविताएँ 'मधुसोत' (१६७१) में सकलित हैं। संपादन : 'ब्रह्मरणीत सार' (१६२२), 'जायसी-ग्रंथावली' (१६२४), 'वीरसिंहदेव चरित' (१६२६), 'भारतेंदु-संग्रह' (१६२८), 'तुलसी-ग्रंथावली' (१६२८), 'हिन्दी शब्दसामग्र' (१६२९)। 'आनन्द कादविनी' और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' का संपादन भी कुछ वर्ष किया। अनुवाद : 'कल्पना का आनंद' (एडीसन कृत 'ऐसे आन इमेजिनेशन', १६०५), 'राज्य प्रबंध शिक्षा' (टी० माधवराव कृत 'मार्झनर हिंदस', १६१३), मेगस्थनीजि का भारत-विवरण (१६०६) 'विश्व-प्रपञ्च' (हेकल कृत 'रिडिल ऑव दी यूनिवर्स', १६२१), 'शाशांक' (बंगला उपन्यास १६२२), 'बुद्ध चरित' (आनंड कृत 'लाइट ऑव एशिया', १६२४)। 'साहित्य' (१६०४) और 'आदर्श जीवन' (१६१४) अंग्रेजी पुस्तकों पर आधारित करके लिखे। 'ब्हाट हैज इंडिया टु डू' (१६०३) तथा कुछ अन्य लेख अंग्रेजी में भी लिखे थे।

अजितकुमार (१६३३) : कृतियाँ 'अकेले कंठ की पुकार' (कविता, १६५८), 'अकित होने दो' (विविधा, १६६२), 'ये फूल नहीं' (कविता, १६७०), 'कविता का जीवित सासार' (लेख, १६७२), संपादन : अमिताभ, कविताएँ : १६५४, १६६३, १६६४, १६६५; बच्चन : निकट से, समीक्षायन, गद्य की पगड़दियाँ, आचार्य शुक्ल विचार-कोश। इनके अतिरिक्त पत्र-पत्रिकाओं में प्रचुर लेखन। संप्रति किरोड़ीमल कालेज, दिल्ली में अध्यापन।

प्रेमनंद पतंजलि : हरियाणा की कृषि-शब्दावली पर शोध-प्रबंध। स्वामी श्रद्धानंद कालेज, दिल्ली में अध्यापन।

## संकेत-सारणी

|                 |                            |  |
|-----------------|----------------------------|--|
| आ० शु० प्र० नि० | आचार्य शुक्ल :             | —संपादक—मुधाकर पाडेय,<br>प्रतिनिधि निबंध<br>रामाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली,<br>प्रथम संस्करण, १९७१ ई०     |
| गो० तु०         | गोस्वामी तुलसीदास          | —रामचंद्र शुक्ल, नागरी<br>प्रचारिणी सभा, काशी, अष्टम<br>सं०, २०१५ वि०                                |
| चिन्ता-१        | चिन्तामणि (पहला<br>भाग)    | —रामचंद्र शुक्ल, इंडियन प्रेस,<br>इलाहाबाद, १९५०   |
| चिन्ता-२        | चिन्तामणि (द्वितीय<br>भाग) | —रामचंद्र शुक्ल, सं० विश्वनाथ<br>प्रसाद मिश्र, सरस्वती मंदिर,<br>वाराणसी, चतुर्थ सं०, २०१४ वि०       |
| ज्ञा० ग्र०      | ज्ञायसी ग्रंथावली          | —सं० रामचंद्र शुक्ल, नागरी<br>प्रचारिणी सभा, काशी, तेरहवाँ<br>सं०, २०२५ वि०                          |
| बु० च०          | बुद्धचरित                  | —रामचंद्र शुक्ल, सं० चंद्रघर<br>शर्मा गुलेरी, नागरी प्रचारिणी<br>सभा, काशी, द्वितीय सं०,<br>२०१४ वि० |
| झ० गो० सा०      | सूरदास कृत 'अमर<br>गीतसार' | —सं० रामचंद्र शुक्ल, साहित्य<br>सेवा सदन, वाराणसी, अष्टम<br>सं०, २०१४ वि०                            |

|             |   |   |
|-------------|---|---|
| मधु०        | मधुसौत                                    | —रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, प्रथम सं०, २०२८ वि०                          |
| २० मी०      | रस-मीमांसा                                | —रामचंद्र शुक्ल, सं० विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, द्वितीय सं०, २०११ वि० |
| वि० प्र०    | विश्व-प्रपञ्च<br>(भूमिका खंड)             | —रामचंद्र शुक्ल, सं० श्याम सुदर दास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९७७ वि०               |
| सूर०        | सूरदास                                    | —रामचंद्र शुक्ल, सं० विश्वनाथ-प्रसाद मिश्र, सरस्वती भंदिर, वाराणसी, चतुर्थ सं०, २००५ वि०    |
| हिं० सा० इ० | हिंदी साहित्य का<br>इतिहास                | —रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, ग्यारहवाँ सं०, २०१४ वि०                         |
| वे०         | देखिए                                     |   |
| सं०         | यथाप्रसंग : 'स्करण', 'संवत्', या 'संपादक' |   |

सचमुच ही यदि प्रेम कहीं है,  
जात छोड़ वह कहीं नहीं है।  
‘लगा किसी अज्ञात क्षेत्र में’ यह कहकर क्यों बात छिपाना।  
यही जात ‘सत्’ का प्रकाश है, ‘चित्’ का भी है यही ठिकाना॥  
यही सधन आनंद घटा है।  
यही अज्ञन अद्वय घटा है।

—‘रूपमय हृदय’, मधुसूत, ५६.



## ॥ अ ॥

### अज्ञात

तत्त्व दृष्टि से, मनोविज्ञान की दृष्टि से, साहित्य की दृष्टि से 'अज्ञात की लालसा' कोई भाव ही नहीं है। यह केवल 'ज्ञात की लालसा' है जो भाषा की छिपानेवाली वृत्ति के सहारे 'अज्ञात की लालसा' कही जाती है।

—'काव्य में रहस्यवाद', चिन्ता०-२, ७६

### अज्ञान

अखिल अनंत महाकाव्य की अखंड धार  
फूट-फूट छिटक रही है विश्व रूप धर;  
पालन विनाश के विधान की झलक लिए  
छलक रहे हैं भूरि भाव भी भुवन भर।  
होके रस-सीकर वे भेदते नहीं हैं किन्तु  
हृदय जो बाहर को खुले द्वार मूँदकर,  
कोठे-कोठे भरम रहे हैं अंधकूप बीच  
कूदते हैं वात-पित-लिप्त किसी कोते पर।

—'पाखंड-प्रतिषेध', मधु०, ८३

अज्ञान अन्धकार स्वरूप है। दीया बुझाकर भागनेवाला यदि समझता है कि दूसरे उसे देख नहीं सकते, तो उसे यह भी समझ रखना चाहिये कि वह ठोकर खाकर गिर भी सकता है।

—'लज्जा और म्लानि', चिन्ता०-१, ५६

### अतीत

'अतीत का राग' एक बहुत ही प्रबल भाव है। उसकी सत्ता का अस्वीकार

किसी दशा मे हम नहीं कर सकते...अतीत का और हमारा साहचर्य बहुत पुराना है।

—‘काव्य मे रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ७७

हृदय के लिये अतीत एक मुक्ति-लोक है जहाँ वह अनेक प्रकार के बन्धनों से छूटा रहता है और अपने शुद्ध रूप मे विचरता है। वर्तमान हमे अन्धा बनाए रहता है, अतीत बीच-बीच मे हमारी आँखे खोलता रहता है।

—‘रसात्मक-बोध के विविध रूप’, चिन्ता०-१, २६०

### अद्वैतवाद

अद्वैतवाद के अन्तर्गत दो प्रकार के द्वैत का त्याग लिया जाता है—आत्मा और परमात्मा के द्वैत का तथा ब्रह्मा और जड़ जगत् के द्वैत का।

—‘मत और सिद्धात्’, जा० ग्र०, १३७

अद्वैतवाद मूल में एक दार्शनिक सिद्धात् है; कवि-कल्पना या भावना नहीं। वह मनुष्य के बुद्धि-प्रयास या तत्त्व-चित्तन का फल है। वह ज्ञान क्षेत्र की वस्तु है।

—‘जायसी का रहस्यवाद’, जा० ग्र०, १५०

एकेश्वरवाद स्थूल देववाद है और अद्वैतवाद सूक्ष्म आत्मवाद या ब्रह्मवाद। अद्वैतवाद का मतलब है कि दृश्य जगत् की तह मे उसका आधार स्वरूप एक ही अखंड नित्य तत्त्व है और वही सत्य है।

—‘मत और सिद्धात्’, जा० ग्र०, १२८

### अध्यात्म

‘अध्यात्म’ शब्द की, मेरी समझ में, काव्य या कला के क्षेत्र मे कही कोई जरूरत नहीं है।

—‘काव्य मे लोकमगल की साधनावस्था’, चिन्ता०-१, २२५

### अनुभूति

प्रत्यक्ष और वास्तविक अनुभूति (actual experience) के समय भी कभी-कभी हमारा हृदय मुक्त रहता है। अत भावों की प्रत्यक्ष वास्तविक अनुभूति भी रसकोटि की हो सकती है और कभी-कभी होती है।

—‘प्रस्तुत रूप-विद्यान्’, २० मी०, ३३५

### अनूठापन

अनूठापन काव्य के नित्य स्वरूप के अन्तर्गत नहीं है; एक अतिरिक्त गुण

हैं जिससे मनोरंजन की मात्रा बढ़ जाती है।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ६८

### अपभ्रंश

अपभ्रंश के नाम से जिस भाषा के पद्य हेमचन्द्र के व्याकरण में तथा कुमार प्रतिबोध, प्रबंध चितामणि आदि काव्यों में मिलते हैं वह ज्यों की त्यों किसी एक स्थान की बोलचाल की भाषा नहीं है। कवि-समय-सिद्ध सामान्य भाषा है।

—‘काव्यभाषा’, बुद्ध०, ६

जब तक भाषा बोलचाल में थी तब तक भाषा या देशभाषा ही कहलाती रही, जब वह भी साहित्य की भाषा हो गई तब उसके लिए अपभ्रंश शब्द का व्यवहार होने लगा।

—‘अपभ्रश काल’, हिं० सा० ६०, ६

जब से प्राकृत, बोलचाल की भाषा न रह गई तभी से अपभ्रंश साहित्य का आविर्भाव समझना चाहिए। पहले जैसे ‘गाथा’ या ‘गाहा’ कहने से प्राकृत का बोध होता था, वैसे ही पीछे ‘दोहा’ या ‘दूहा’ कहने से अपभ्रंश या लोकप्रचलित काव्यभाषा का बोध होने लगा।

—‘अपभ्रश काल’, हिं० सा० ६०, ६

### अप्रस्तुत

अप्रस्तुत-योजना पर ही अधिक ध्यान देने की प्रवृत्ति आजकल की नई रंगत की कविताओं में दिखाई पड़ रही है।

—‘काव्य में अभिव्यञ्जनावाद’, चिन्ता०-२, २१२

### अभिधा

अभिधा द्वारा ग्रहण दो प्रकार का होता है—बिम्ब ग्रहण और अर्थ ग्रहण।

—‘काव्य में प्राकृतिक दृश्य’, चिन्ता०-२, १

शब्द के मुख्य अर्थ का बोध (संकेतग्रहण) कराने वाली शक्ति।

—‘शब्द-शक्ति’, २० मी०, ३७१

### अभिमान

अधिकार सम्बन्धी अभिमान अनौचित्य की सामर्थ्य का अधिक होता है। यदि अधिकार के अनुचित उपयोग की संभावना दूर कर दी जाये तो

स्थान-स्थान पर अभिमान की जमी हुई मैल साफ हो जाय और समाज के कार्य-विभाग चमक जायें ।

—‘ईर्षा’, चिन्ता०-१, ११४

अभिमान एक व्यक्तिगत गुण है, उसे समाज के भिन्न-भिन्न व्यवसायों के साथ जोड़ना ठीक नहीं ।

—‘ईर्षा’, चिन्ता०-१, ११५

### अभिव्यंजना

‘अभिव्यंजना ही कला या काव्य है’ इसका अर्थ यहाँ तक कभी नहीं घसीटा जा सकता कि व्यजना या व्यंजक उक्ति से मिलन काव्यानुभूति कोई वस्तु ही नहीं । काव्यानुभूति ही वह प्रधान वृत्ति है जो व्यजना की प्रेरणा करती है ।

—‘काव्य में रहस्यवाद’ चिन्ता०-२, १०५

### —वाद

‘अभिव्यंजनावाद’ अनुभूति या प्रभाव का विचार छोड़ केवल वार्वैचित्र्य को पकड़कर चला है; पर वार्वैचित्र्य का हृदय की गंभीर वृत्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं । वह केवल कुतूहल उत्पन्न करता है ।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ६७

‘अभिव्यंजनावाद’ के कारण योरप के काव्य-क्षेत्र में उत्पन्न वक्रोक्ति या वैचित्र्य की प्रवृत्ति जो हिन्दी के वर्तमान काव्य-क्षेत्र में आई उससे खड़ी बोली की कविता की व्यजना प्रणाली में बहुत कुछ सजीवता और स्वच्छन्दता आई ।

—‘काव्य में अभिव्यंजनावाद’, चिन्ता०-२, २१४

इस वाद में तथ्य इतना ही है कि उक्ति ही कविता है, उसके भीतर जो छिपा अर्थ रहता है, वह स्वतः कविता नहीं ।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२००३ स०), ५८२  
योरप का ‘अभिव्यंजनावाद’ हमारे यहाँ के पुराने ‘वक्रोक्तिवाद’—  
‘वक्रोक्ति काव्य जीवितम्’—का ही नया रूप या विलायती उत्थान है ।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ६८

### अभेद

‘भेदो मे अभेद’ दृष्टि ही सच्ची तत्त्वदृष्टि है । इसी के द्वारा सत्ता का आभास मिल सकता है । यही अभेद ज्ञान और धर्म दोनों का लक्ष्य है ।

विज्ञान इसी अधेद की खोज में है, धर्म इसी की ओर दिखा रहा है।

—वि० प्र०, १५५

### अमर्ष

किसी बात का बुरा लगना, उसकी अस्थिता का क्षोभयुक्त और आवेग-पूर्ण अनुभव होना, अमर्ष कहलाता है।

—‘क्रोध’, चिन्ता०-१, १३६

### अर्थबुद्धि

जीते हेतु हाथ-पाँव मारना जीवन का  
एक-मात्र रूप हम चारों ओर पावेंगे।  
अवसर आयु में से क्रीड़ा के कटेंगे सब;  
बालक भी खेलते न देखने में आवेंगे।  
सारी वृत्ति अर्थ से बँधेगी इस भाँति, लोग  
कही आँख कान तक व्यर्थ न लगावेंगे।  
ऐसे इस अर्थ के अनर्थ से विभीत होके  
मन के पुनीत भाव सारे भाग जावेंगे।

—‘हृदय का मधुर भार’, मधु०, ४६

जीवन के अर्थ की क्या सिद्धि यह कोई नहीं,  
देके सुख देखें हम आप सुख मान के ?  
तेरी अर्थबुद्धि नर ! भारी इस अर्थ तक  
पहुँचेगी कभी, वाणी आई यह ठान के।

—‘हृदय का मधुर भार’, मधु०, ५१

राजधर्म, आचार्य धर्म, वीर धर्म सब पर सोने का पानी फिर गया, सब  
टकाधर्म हो गए। धन की पैठ मनुष्य के सब कार्यक्षेत्रों में करा देने से,  
उसके प्रभाव को इतना विस्तृत कर देने से, ब्राह्मण-धर्म और क्षात्रधर्म  
का लोप हो गया; केवल वणिग्धर्म रह गया।

—‘लोभ और प्रीति’, चिन्ता०-१, ७४

### अन्योक्ति

अन्योक्ति द्वारा अव्यक्त, परोक्ष या अज्ञात तथ्य की व्यंजना को हम  
कृतिम और काव्यगत सत्य (poetic truth) के विरुद्ध समझते हैं।

—‘काव्य से रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ६३

## अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिग्रीष'

उपाध्याय जी किलष्ट, संस्कृतप्राय भाषा भी लिख सकते हैं और सरल-से-सरल ठेठ हिन्दी भी। अधिकतर इसी भाषा-वैचित्र्य पर छ्याल जमकर रह जाता है।

—‘गद्य-साहित्य का प्रसार’, हि० सा० इ०, ४६०

## अलंकार

अलंकार-अलंकार्य का भेद मिट नहीं सकता।

—‘काव्य में अभिव्यञ्जनावाद’, चिन्ता०-२, १८६

अलंकार में रमणीयता होनी चाहिये। चमत्कार न कहकर रमणीयता हम इसलिए कहते हैं कि चमत्कार के अंतर्गत केवल भाव, रूप, गुण या क्रिया का उत्कर्ष ही नहीं, शब्द कौतुक और अलंकार सामग्री की विलक्षणता भी ली जाती है।

—‘अलंकार विधान’, गो० तु०, १२६

जहाँ वस्तु या व्यापार अगोचर होता है, वहाँ अलंकार...पहले गोचर प्रत्यक्षीकरण करके बोधवृत्ति की कुछ सहायता करता है, तब फिर रागा-तिमिका वृत्ति को उत्तेजित करता है।

—‘अप्रस्तुत रूप-विधान’, २० मी०, ३६२

जिस प्रकार एक कुरुपा स्त्री अलंकार लादकर सुन्दर नहीं हो सकती उसी प्रकार प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की रमणीयता के अभाव में अलंकारों का ढेर काव्य का सजीव स्वरूप नहीं खड़ा कर सकता।

—‘कविता क्या है?’, चिन्ता०-१, १८४

भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं का रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होनेवाली युक्ति ही अलंकार है।

—‘अलंकार विधान’, गो० तु०, १२६

मैं अलंकार को केवल वर्णन-प्रणाली-मात्र मानता हूँ, जिसके अन्तर्गत करके किसी वस्तु का वर्णन किया जा सकता है। वस्तुनिर्देश अलंकार का काम नहीं।

—‘काव्य में प्राकृतिक दृश्य’, चिन्ता०-२, ५  
(द१० २० मी०, ११२; चिन्ता०-१, १८३)

## —और सादृश्य

अधिकतर अलंकारों का विधान सादृश्य के आधार पर होता है। सादृश्य

की योजना दो दृष्टियों से की जाती है—स्वरूप-बोध के लिये और भाव तीव्र करने के लिये।

—‘अप्रस्तुत रूप-विधान’, २० मी०, ३४४

एक वस्तु में दूसरी वस्तु का आरोप सादृश्य और साधम्य के आधार पर ही होता है।...सादृश्य से हमारा अभिप्राय बिंब-प्रतिबिंब रूप और साधम्य से वस्तु-प्रतिवस्तु धर्म है।

—‘अप्रस्तुत रूप-विधान’, २० मी०, ३५७

### —और स्वभावोक्ति

स्वभावोक्ति को लेकर कुछ अलंकार-प्रेमी कह बैठते हैं कि प्रकृति का वर्णन भी तो स्वभावोक्ति अलंकार ही है। पर स्वभावोक्ति अलंकार-कोटि में आ ही नहीं सकती।

—‘कविता क्या है?’, चिन्ता०-१, १८३

### —का प्रयोग

रूप, गुण और क्रिया तीनों का अनुभव तीव्र करने के लिए अधिकतर सादृश्यमूलक उपमा आदि अलंकारों का ही प्रयोग होता है।

—‘अप्रस्तुत रूप-विधान’, २० मी०, ३६१

### अवधी

अवधी की खालिस, बेमेल मिठास के लिए ‘पदमावत’ का नाम बराबर लिया जाएगा।

—‘जायसी की भाषा’, जा० ग्र०, १६४

आद्यानकाव्य लिखने में जो सफलता अवधी के कवियों को हुई है वह ब्रजभाषा के कवियों को नहीं।

—‘काव्यभाषा’, बृद्ध०, ४१

शुद्ध अवधी की बोलचाल में क्रिया का रूप सदा कर्ता के पुरुष, लिंग और वचन के अनुसार होता है; कर्म के अनुसार सकर्मक भूतकालिक क्रिया में भी नहीं होता। कारण यह है कि पूरबी बोलियाँ भूतकाल में कुदंत रूप नहीं लेती हैं, तिडंत रूप ही रखती है।

—‘जायसी की भाषा’, जा० ग्र०, १७५

॥ आ ॥

### आत्मसमर्पण

उच्चता की जैसी प्राप्ति उच्च को आत्म-समर्पण करने से हो सकती है, वैसी समान को आत्म-समर्पण करने से नहीं।

—‘तुलसी की भावकृता’, गो० तु०, ७८

### आत्माभिव्यक्ति

मनुष्य अपने रति, ऋषि आदि भावों को या तो सर्वथा मार डाले, अथवा ताधना के लिए उन्हें कभी-कभी ऐसे क्षेत्र में ले जाया करे जहाँ स्वार्थ की पहुँच न हो, तब जाकर सच्ची आत्माभिव्यक्ति होगी।

—‘विभाव’, २० भी०, १४६

### आत्मोत्सर्ग

आत्मोत्सर्ग की पराकाष्ठा वही समझनी चाहिए जहाँ प्रेमी निराश होकर प्रिय के दर्शन का आग्रह भी छोड़ देता है।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा०, ४०

### आदिकाल

इस काल की जो साहित्यिक सामग्री प्राप्त है, उसमें कुछ तो असंदिग्ध है और कुछ संदिग्ध है। असंदिग्ध सामग्री जो कुछ प्राप्त है उसकी भाषा अपश्रुत अर्थात् प्राकृताभास (प्राकृत की रुद्धियों से बहुत कुछ बद्ध) हिन्दी है।

—‘आदिकाल’, हिं० सा० इ०, ४

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल संवत् १०५० से लेकर १३७५ तक अर्थात् महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय के कुछ पीछे तक माना जा सकता है।

—‘आदिकाल’, हिं० सा० इ० (२००३ सं०), ३

### आनन्द

आनन्द को रस के प्रधान प्रवर्तक भावों में स्थान न देकर आचार्यों ने ‘हर्ष’

को केवल संचारी रूप में रखा है।

—‘भावों का वर्गीकरण’, २० मी०, १६७

‘आनन्द’ शब्द को व्यक्तिगत सुखभोग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना मुझे ठीक नहीं ज़ौचता। उसका अर्थ मैं हृदय का व्यक्ति-बद्ध दशा से मुक्त और हल्का होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना ही उपयुक्त समझता हूँ।

—‘रसात्मक बोध के विविध रूप’, चिन्ता०-१, २५१

‘मेरी समझ में रसास्वादन का प्रकृत स्वरूप ‘आनन्द’ शब्द से व्यक्त नहीं होता’।...इस आनन्द शब्द ने काव्य के महत्व को बहुत-कुछ कम कर दिया है—उसे नाच तमाशे की तरह बना दिया है।

—‘काव्य का लक्ष्य’, २० मी०, १०१

‘विरह में आनन्द नहीं हुआ रहता, केवल आवृत्त रहता है।

—‘काव्य के विभाग’, २० मी०, ७५

सत्, चित्, और आनन्द—ब्रह्म के इन तीन स्वरूपों में से काव्य और भक्ति-मार्ग ‘आनन्द’ स्वरूप को लेकर चले। विचार करने पर लोक में इस आनन्द की दो अवस्थाएँ पाई जायेगी—साधनावस्था और सिद्धावस्था।

—‘काव्य में लोक-मगल की साधनावस्था’, चिन्ता०-१, २१३

### —की साधनावस्था

अधर्म-वृत्ति को हटाने में धर्मवृत्ति की तत्परता—चाहे वह उग्र और प्रचंड हो, चाहे कोमल और मधुर—भगवान् की आनन्द-कला के विकास की ओर बढ़ती हुई गति है।...यह गति आदि से अत तक सुदर होती है—अंत चाहे सफलता के रूप में हो, चाहे विफलता के।

—‘काव्य में लोकमगल की साधनावस्था’, चिन्ता०-१, २१७

कवि हमारे सामने असौंदर्य, अमंगल, अत्याचार, क्लेश इत्यादि भी रखता है, रोष, हाहाकार और ध्वंस का दृश्य भी लाता है। पर सारे भाव, सारे रूप और सारे व्यापार भीतर-भीतर आनन्द-कला के विकास में ही योग देते पाए जाते हैं।

—‘काव्य में लोकमगल की साधनावस्था’, चिन्ता०-१, २१६

लोक में फैली दुःख की छाया को हटाने में ब्रह्म की आनन्दकला जो शक्तिमय रूप धारण करती है, उसकी भीषणता में अद्भुत मनोहरता, कटुता में भी अपूर्व मधुरता, प्रचड़ता में भी गहरी आद्रंता साथ लगी रहती है। विरुद्धो का यही सामंजस्य कर्मक्षेत्र का सौंदर्य है।

—‘काव्य में लोकमगल की साधनावस्था’, चिन्ता०-१, २१६

## —की सिद्धावस्था

आनंद की सिद्धावस्था पर ही दृष्टि रखने वाले कवियों का 'प्रेम' को ही प्रवर्तक या बीज भाव मानना ठीक है, किन्तु पालन और रंजन दोनों पक्षों के सहित ।

—‘काव्य के विभाग’, २० मी०, ८०

यह दीप्ति, माधुर्य और कोमलता की स्तिंग्ध भूमि है, लहलहाते सरस प्रसार और परिमल-घटित पुष्पहास का कल कंठ कूजित क्षेत्र है; मद और उल्लास की मुदुल तरंगमयी संगीत-धारा का मानस लोक है । इस भूमि का प्रवर्तक भाव है—प्रेम ।

—‘काव्य के विभाग’, २० मी०, ७३

## आलस्य

आलस्य के वर्णन को किसी भाव का संचारी मानना भेरी समझ में ठीक नहीं । उसे स्वतन्त्र ही मानना चाहिये ।

—‘भावो का वर्गीकरण’, २० मी०, २२५

## आलोचक

इधर दो-एक लेखकों की एक और प्रवृत्ति दिखाई पड़ रही है । वे योरप के कुछ कला-सम्बन्धी एकदेशीय और अत्युक्त मतों को सामने लाकर हिन्दी वालों की आँखों में उसी प्रकार चकाचौथ उत्पन्न करना चाहते हैं जिस प्रकार कुछ लोग वहाँ के फैशन की तड़क-भड़क दिखाकर ।... लेखों को यहाँ से वहाँ तक पढ़ जाइए, लेखकों के अपने किसी विचार का कहीं पता न लगेगा ।... समालोचना के क्षेत्र में ऐसे विचारशन्य लेखों से कोई विशेष लाभ नहीं ।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२००३ स०), ५६६-६७। ऊपरी रंग-ढंग से तो ऐसा जान पड़ेगा कि कवि के हृदय के भीतर सेंध लगाकर घुसे हैं और बड़े-बड़े गूढ़ कोने झाँक रहे हैं, पर कवि के उद्धृत पद्यों से मिलान कीजिए तो पता चलेगा कि कवि के विवक्षित भावों से उनके वाग्-विलास का कोई लगाव नहीं ।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२००३ स०), ५६३ कवि के मानसिक विकास का एक आरोपित इतिहास तक—किसी विदेशी कवि के मानसिक विकास का इतिहास कहीं से लेकर—वे सामने रखेंगे, पर इस बात का कहीं कोई प्रमाण न मिलेगा कि आलोच्य कवि के

पचीस-तीस पद्मों का भी ठीक तात्पर्य उन्होने समझा है। ऐसे आलोचकों के शिकार 'छायावादी' कहे जानेवाले कुछ कवि ही अभी हो रहे हैं।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२००३ सं०), ५६३ लोग कहते हैं कि समालोचकगण अपनी बाते कहते ही रहते हैं, पर कवि लोग जैसी मौज होती है, वैसी रचना करते ही है। पर यह बात नहीं है। कवियों पर साहित्य-मीमांसकों का बहुत-कुछ प्रभाव पड़ता है। बहुतेरे कवि—विशेषतः नए—उनके आदशों के अनुकूल चलने का प्रयत्न करने लगते हैं।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२००३ स०), ५७५

## आलोचना

ठीक-ठिकाने से चलनेवाली समीक्षाओं को देख जितना सन्तोष होता है, किसी कवि की समीक्षा के नाम पर उसकी रचना से सर्वथा असंबद्ध चिन्त-मयी कल्पना और भावुकता की सजावट देख उतनी ही रलानि होती है। यह सजावट अंग्रेजी के अथवा बंगला के समीक्षा-क्षेत्र से कुछ विचित्र, कुछ विदर्घ, कुछ अतिरिंजित चलते शब्द और वाक्य ला-लाकर खड़ी की जाती है।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२००३ स०), ५६३

## —ऐतिहासिक

‘ऐतिहासिक समीक्षा’ (Historical Criticism)…का उद्देश्य यह निर्दिष्ट करना होता है कि किसी रचना का उसी प्रकार की और रचनाओं से क्या सम्बन्ध है और उसका साहित्य की चली आती हुई परम्परा में क्या स्थान है।

—‘गद्य-साहित्य का प्रसार’, हिं० सा० इ० (२००३ स०), ५२७.

## —और अर्थक्रीड़ा

हमारे यहाँ के पुराने व्याख्याताओं और टीकाकारों की अर्थक्रीड़ा प्रसिद्ध है। किसी पद्म का और का और अर्थ करना तो उनके बाएँ हाथ का खेल है।…इस पुरानी प्रवृत्ति का नया संस्करण भी कही-कहीं दिखाई पड़ने लगा है।…इस प्रकार की प्रतिभापूर्ण कृतियों का भी अपना अलग मूल्य है। वे कल्पनात्मक साहित्य के अन्तर्गत अवश्य हैं, पर विशुद्ध समालोचना की कोटि में नहीं आ सकती।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२००३ स०), ५६५-६६

## —का सूत्रपात

समालोचना का सूत्रपात हिंदी में एक प्रकार से भट्ट जी (बालकृष्ण—सं०) और चौधरी साहब ('प्रेमघन'—सं०) ने ही किया। समालोच्य पुस्तक के विषयों का अच्छी तरह विवेचन करके उसके गुण-दोष के विस्तृत निरूपण की बाल उन्हीं ने चलाई।

—‘प्रथम उत्थान, सामान्य परिचय’, हिं० सा० इ०, ४३२

## —के उत्थान

‘द्वितीय उत्थान’ के भीतर ‘समालोचना’ की यद्यपि बहुत-कुछ उन्नति हुई, पर उसका स्वरूप प्रायः रुद्धिगत (conventional) ही रहा। कवियों की विशेषताओं का अन्वेषण और उनकी अन्तःप्रवृत्ति की छानबीन करने-वाली उच्चकोटि की समालोचना का प्रारंभ दृतीय उत्थान में जाकर हुआ।

—‘गद्य-साहित्य का प्रसार’, हिं० सा० इ०, ४८८

## —निर्णयात्मक

केवल निर्णयात्मक समालोचना की चाल बहुत कुछ उठ गई है। अपनी भली-बुरी रुचि के अनुसार कवियों की श्रेणी बाँधना, उन्हे नम्बर देना अब एक बंदूदः बात समझी जाती है।

—‘गद्य-साहित्य का प्रसार’, हिं० सा० इ० (२००३ स०), ५२७  
न रुचि के स्थान पर विद्वत्ता काम कर सकती है और न विद्वत्ता के स्थान पर रुचि। अतः विद्वत्ता से संबंध रखनेवाली निर्णयात्मक आलोचना (Judicial Criticism) और रुचि से संबंध रखनेवाली प्रभावात्मक समीक्षा दोनों आवश्यक है। एक पुरुष है, दूसरी स्त्री। एक सक्रिय है, दूसरी निष्क्रिय।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ६३  
निर्णयात्मक आलोचना किसी रचना के गुण-दोष निरूपित करके उसका मूल्य निर्धारित करती है। उसमें लेखक या कवि की कही प्रशंसा होती है, कही निंदा।

—‘गद्य-साहित्य का प्रसार’, हिं० सा० इ० (२००३ स०), ५२६

## —प्रभावाभिव्यंजक

इस ढंग की समीक्षाओं में प्रायः भाषा विचार में बाधक बनकर आ खड़ी

होती है। लेखक का ध्यान शब्दों की तड़क-भड़क, उनकी आकर्षक योजना, अपनी उक्ति के चमत्कार, आदि से उलझा रहता है, जिनके बीच स्वच्छंद विचारधारा के लिए जगह ही नहीं मिलती।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२००३ सं०), ५६५  
इस प्रकार की समीक्षा में कवि ने क्या कहा है, उसका ठीक भाव या आशय क्या है, यह समझने या समझाने की आवश्यकता नहीं; आवश्यक इतना ही है कि उसकी किसी रचना का जिसके हृदय पर जो प्रभाव पड़े, उसका वह सुन्दरता और अनूठेपन के साथ वर्णन कर दे।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२००३ सं०), ५६४  
प्रभाववादियों की बात लें तो समालोचना कोई व्यवस्थित शास्त्र नहीं रह गया। वह एक कला की कृति से निकली हुई दूसरी कला की कृति, एक काव्य से निकला हुआ दूसरा काव्य, ही हुआ।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२००३ सं०), ५७१  
प्रभावाभिव्यंजक समीक्षा कोई ठीक-ठिकाने की वस्तु ही नहीं। न ज्ञान के क्षेत्र में उसका कोई मूल्य है, न भाव के क्षेत्र में। उसे समीक्षा या आलोचना कहना ही वर्य है।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ०, ५१८

### —मनोवैज्ञानिक

बाह्य पद्धति के अंतर्गत ही कवि के जीवनक्रम और स्वभाव आदि के अध्ययन द्वारा उसकी अतर्वृत्तियों का सूक्ष्म अनुसंधान भी है, जिसे ‘मनो-वैज्ञानिक आलोचना’ (Psychological Criticism) कहते हैं।

—‘गद्य-साहित्य का प्रसार’, हिं० सा० इ० (२००३ सं०), ५२७

### —व्याख्यात्मक

व्याख्यात्मक आलोचना किसी ग्रंथ में आई हुई बातों को एक व्यवस्थित रूप में सामने रखकर उनका अनेक प्रकार से स्पष्टीकरण करती है। यह मूल्य निर्धारित करने नहीं जाती। ऐसी आलोचना अपने शुद्ध रूप में काव्य-वस्तु ही तक परिमित रहती है।

—‘गद्य-साहित्य का प्रसार’, हिं० सा० इ० (२००३ सं०), ५२६

### आशंका

आशंका अनिश्चयात्मक वृत्ति है, इससे लज्जा ही हो सकती है जिसका संबंध दूसरों की धारणा से होता है। ग्लानि की आशंका नहीं हो सकती,

क्योंकि उसका संबंध अपने से कहीं बाहर की बुरी धारणा से तो होता नहीं, अपनी ही बुरी धारणा से होता है जिसमें अनिश्चय का भाव नहीं रह सकता ।

—‘लज्जा और खानि’, चिन्ता०-१, ६०

दुख या आपत्ति का पूर्ण निश्चय न रहने पर उसकी संभावना मात्र के अनुमान से जो आवेगशून्य भय होता है, उसे आशंका कहते हैं ।... दुखात्मक भावों में आशंका की वही स्थिति समझनी चाहिये जो सुखात्मक भावों में आशा की ।

—‘भय’, चिन्ता०-१, १२६

### आसक्ति

सानिध्य और संपर्क की प्रबल प्रवृत्ति जगानेवाली दशा, जिसे आसक्ति कहते हैं, माधुर्य-भावना के संचार से ही प्राप्त होती है ।

—‘काव्य के विभाग’, २० मी०, ८७

॥ इ ॥

### इंशाअल्लाखाँ

आरंभ के चार लेखकों में इंशा की भाषा सबसे चटकीली, मुहावरेदार और चलती है ।

—‘ग्राम्यनिक काल’, हिं० सा० इ०, ३८३

### इच्छा

इच्छा भी एक प्रकार का मनोवेग ही है, पर ‘भाव’ तक पहुँचता हुआ स्वतन्त्र विधान नहीं ।

—‘भाव’, २० मी०, १६६

### इतिहास, साहित्य का

जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है । आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही ‘साहित्य का इतिहास’ कहलाता है ।

—‘काल-विभाग’, हिं० सा० इ० (२००३ सं०), १

जिस कालखंड के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी है वह एक अलग काल माना गया है और उसका नामकरण उन्ही रचनाओं के स्वरूप के अनुसार किया गया है । १०० दूसरी बात है ग्रंथों की प्रसिद्धि । किसी काल के भीतर जिस एक ही ढंग के बहुत अधिक ग्रथ प्रसिद्ध चले आते हैं, उस ढंग की रचना उस काल के लक्षण के अंतर्गत मानी जाएगी ।

—‘वक्तव्य’, हिं० सा० इ० (२००३ स०), ३

सारे रचनाकाल को केवल आदि, मध्य, पूर्व, उत्तर इत्यादि खंडों में आँख मूँदकर बाँट देना—यह भी न देखना कि किस खंड के भीतर क्या आता है, क्या नहीं, किसी वृत्तसंग्रह को इतिहास नहीं बना सकता।

—‘वक्तव्य’, हिं सा० इ० (२००३ सं०), १-२

一一

२४

अभिमान हर घड़ी बड़ाई की भावना भोगने का दुर्व्यस्त है और इर्ष्या उसकी सहगामिनी है।...इर्ष्या दूसरे की असम्पन्नता की इच्छा की अपर्ति से उत्पन्न होती है।

—‘ईष्यं’, चिन्ता०-१, ११६

ईर्ष्या अत्यन्त लज्जावती वृत्ति है। वह अपने धारणकर्ता स्वामी के सामने भी मुँह खोलकर नहीं आती।...वह कभी प्रत्यक्ष रूप में समाज के सामने नहीं आती। उसका कोई बाहरी लक्षण धारणकर्ता पर नहीं दिखाई देता।

—‘ईर्प्पा’, चिन्ता०-१, १३३

ईर्ष्या इतनी कुत्सित वृत्ति है कि सभा-समाज में, भित्रमंडली में, परिधार में, एकान्त कोठरी में, कहीं भी स्वीकार नहीं की जाती।

—‘ईष्यं’, चिन्ता०-१, १२३

ईर्ष्या एक अनावश्यक विकार है इससे उसकी गणना मूल मनोविकारों में नहीं हो सकती।

—‘इष्या’, चिन्ता ०-१, १०६

ईर्ष्या का दुःख प्रायः निष्फल हो जाता है। अधिकतर तो जिस बात की ईर्ष्या होती है वह ऐसी बात होती है जिस पर हमारा वश नहीं होता।

—‘ईर्घ्या’, चिन्ता०-१, १२१

ईर्ष्या की सबसे अच्छी दवा है उद्योग और आशा । जिस वस्तु के लिए उद्योग और आशा निष्पल हो उस पर से अपना ध्यान हटाकर सृष्टि की अनन्तता से लाभ उठाना चाहिये ।

—‘ईर्ष्या’, चिन्ता०-१, १२२

ईर्ष्या धारण करनेवालों की दो दशाएँ होती हैं—असम्पन्न और सम्पन्न । ...असम्पन्न दशा में यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि हम दूसरे से घटकर न रहें, बराबर रहें, और सम्पन्न दशा में यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि हम दूसरे से बढ़कर रहें, उसके बराबर न रहें ।

—‘ईर्ष्या’, चिन्ता०-१, ११६

ईर्ष्या में प्रयत्नोत्पादिनी शक्ति बहुत कम होती है । उसमें वह वेग नहीं होता जो क्रोध आदि में होता है क्योंकि आलस्य और नैराश्य के आश्रय से तो उसकी उत्पत्ति ही होती है ।

—‘ईर्ष्या’, चिन्ता०-१, १२१

ईर्ष्या व्यक्तिगत होती है और स्पर्धा वस्तुगत ।

—‘ईर्ष्या’, चिन्ता०-१, १०८

ईर्ष्या सामाजिक जीवन की कृतिमता से उत्पन्न एक विष है । इसके प्रभाव से हम दूसरे की बढ़ती से अपनी कोई वास्तविक हानि न देखकर भी व्यर्थ ढुखी होते हैं ।

—‘ईर्ष्या’, चिन्ता०-१, ११०

स्पर्धा संसार में गुणी, प्रतिष्ठित और सुखी लोगों की सम्भ्या में कुछ बढ़ती करना चाहती है और ईर्ष्या कमी ।

—‘ईर्ष्या’, चिन्ता०-१, १०६

॥ ३ ॥

### उक्ति

किसी उक्ति की तह में, उसके प्रवर्तक के रूप में यदि कोई भाव या मार्मिक अत्तर्वृत्ति छिपी है, तो चाहे वैचित्र्य हो या नहीं, काव्य की सरसता बराबर पाई जाएगी ।

—‘कविता क्या है’, चिन्ता०-१, १७१

## —और काव्य

अनूठी से अनूठी उक्ति काव्य तभी हो सकती है जबकि उसका सम्बन्ध—  
कुछ दूर का सही—हृदय के किसी भाव या वृत्ति से होगा ।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ६७

## उग्रता

क्रोध का ही एक अवयव है । पर कभी-कभी सर्वगिर्पूर्ण क्रोध के न प्रकट  
होने पर भी उसका आविर्भाव होता है ।

—‘भावो का वर्गीकरण’, २० मी०, २२०

## उत्साह

कर्म-भ्रावना-प्रधान उत्साह ही सच्चा उत्साह है । फल-भ्रावना-प्रधान  
उत्साह तो लोभ ही का एक प्रच्छन्न रूप है ।

—‘उत्साह’, चिन्ता०-१, १२

कर्म मात्र के संपादन में जो तत्परतापूर्ण आनंद देखा जाता है, वह भी  
उत्साह ही कहा जाता है ।

—‘उत्साह’, चिन्ता०-१, ६

जिन कर्मों में किसी प्रकार का कष्ट या हानि सहने का साहस अपेक्षित  
होता है उन सब के प्रति उत्कण्ठापूर्ण आनंद उत्साह के अन्तर्गत लिया  
जाता है ।

—‘उत्साह’, चिन्ता०-१, ६

जिस आनंद से कर्म की उत्तेजना होती है और जो आनंद कर्म करते  
समय तक बराबर चला चलता है उसी का नाम उत्साह है ।

—‘उत्साह’, चिन्ता०-१, १४

दुःख के वर्ग में जो स्थान भय का है, वही स्थान आनन्द-वर्ग में उत्साह  
का है ।

—‘उत्साह’, चिन्ता०-१, ६

सारांश यह कि आनन्दपूर्ण प्रयत्न या उसकी उत्कण्ठा में ही उत्साह का  
दर्शन होता है; केवल कष्ट सहने के निश्चेष्ट साहस में नहीं ।

—‘उत्साह’, चिन्ता०-१, ६

साहसपूर्ण आनंद की उमंग का नाम उत्साह है । कर्म-सौन्दर्य के उपासक  
ही सच्चे उत्साही कहलाते हैं ।

—‘उत्साह’, चिन्ता०-१, ६

## उद्दीपन

‘उद्दीपन’ होने के लिए रूप का थोड़ा-थोड़ा प्रकाश क्या, संकेत मात्र यथेष्ट है; पर ‘आलम्बन’ होने के लिए पूर्ण और स्पष्ट स्फुरण होना चाहिए।

—‘विभाव’, २० मी०, १३२

## उद्देश्य

उद्देश्य एक अपना ऊँचा बनावो ।  
कर्तव्य पूर्ण करने में चित्त लावो ॥  
विश्वास कर्मफल में करते रहोगे ।  
होगे अवश्य सन्तुष्ट सुखी रहोगे ॥

—अन्योक्तियाँ, मध्य०, २२

## उर्दू

खड़ी बोली को लेकर उर्दू साहित्य खड़ा हुआ, जिसमें आगे चलकर विदेशी भाषा के शब्दों का मेल भी बराबर बढ़ता गया और जिसका आदर्श भी विदेशी होता गया ।

—‘आधुनिक काल’, हि० सा० इ०, ३७४

## उपनिषद्

उपनिषदों की बातें बेहोशों और मूर्च्छितों की बातें नहीं हैं, स्वाभाविक पद्धति से तत्त्व चिन्तन करनेवाले ऋषियों की बातें हैं ।

—‘शक्ति का विकास’, सूर०, ५३

## उपन्यास

ज्ञानर्जी ढंग का मौलिक उपन्यास पहले-पहल हिन्दी में लाला श्रीनिवास दास का ‘परीक्षागुरु’ ही निकला था। उसके पीछे बा० राधाकृष्णदास ने ‘निस्सहाय हिन्दू’ और पा० बालकृष्ण भट्ट ने ‘नूतन ब्रह्मचारी’ तथा ‘सौ अजाने और एक सुजान’ नामक छोटे-छोटे उपन्यास लिखे।

—‘प्रथम उत्थान, सामान्य परिचय’, हि० सा० इ०, ४१७

उपन्यास के पुराने ढाँचे के बारे में मैं एक बात कहना चाहता हूँ। वह यह कि वह कुछ बुरा न था। उसमे हमारे भारतीय कथात्मक गद्य-प्रबन्धों के स्वरूप का भी आभास रहता था।

—‘काव्य में अभिव्यंजनावाद’, चिन्ता०-२, २३६

वर्तमान जगत् में उपन्यासों की बड़ी शक्ति है। समाज जो रूप पकड़ रहा है, उसके भिन्न-भिन्न वर्गों में जो प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो रही हैं, उपन्यास उनका विस्फृत प्रत्यक्षीकरण ही नहीं करते, आवश्यकतानुसार उनके ठीक विन्यास, सुधार अथवा निराकरण की प्रवृत्ति भी उत्पन्न कर सकते हैं।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ०, ४६३

### —और कहानी

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि उपन्यास और छोटी कहानी दोनों के ढाँचे हमने पश्चिम से लिये हैं। है भी ये ढाँचे बड़े सुन्दर। हम समझते हैं कि हमें ढाँचों तक ही न रहना चाहिए।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ०, ४६६

### उपन्यासकार

हमारे उपन्यासकारों को देश के वर्तमान जीवन के भीतर अपनी दृष्टि गड़ाकर आप देखना चाहिए, केवल राजनीतिक दलों की बातों को लेकर ही न चलना चाहिए। साहित्य को राजनीति के ऊपर रहना चाहिए। सदा उसके इशारों पर ही न नाचना चाहिए।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ०,

### उपमा

काव्य की उपमा का उद्देश्य भावानुभूति को तीव्र करना है, नैयायिक कै ‘ओसदृशो गवयः’ के समान ज्ञान उत्पन्न कराना नहीं।

—‘विभाव’, र० भी०,

### उपासना

अव्यक्त निर्गुण, निर्विशेष (Absolute) ब्रह्म उपासना के व्यवहार में सगुण ईश्वर हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि उपासना जब होगी तब व्यक्त और सगुण की ही होगी; अव्यक्त और निर्गुण की नहीं।

—‘काव्य मे रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ८१

जो वस्तु हमसे अलग है, हमसे दूर प्रतीत होती है, उसकी मूर्ति मन में लाकर उसके सामीप्य का अनुभव करना ही उपासना है।

—‘कविता क्या है?’, चिन्ता०-१, १६१

## उर्दू

खड़ी बोली को लेकर उर्दू साहित्य खड़ा हुआ, जिसमें आगे चलकर विदेशी भाषा के शब्दों का मेल भी बराबर बढ़ता गया और जिसका आदर्श भी विदेशी होता गया।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ०, (२०३५ स०), ३८७

## ॥ क ॥

### कबीर

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कबीर को ‘राम-नाम’ रामानन्द जी से प्राप्त हुआ। पर आगे चलकर कबीर के ‘राम’ रामानन्द के ‘राम’ से भिन्न हो गए।

—‘ज्ञानाश्रयी शाखा’, हिं० सा० इ०, ७१

कबीर की भाषा मिली-जुली होने पर भी अधिकांश पूरबी ही है।

—‘काव्यभाषा’, बुद्ध०, ४१

जो ब्रह्म हिन्दुओं की विचार-पद्धति में ज्ञानमार्ग का एक निरूपण था उसी को कबीर ने सूफियों के ढरें पर उपासना का ही विषय नहीं, प्रेम का विषय बनाया और उसकी प्राप्ति के लिए हठयोगियों की साधना का समर्थन किया।

—‘ज्ञानाश्रयी शाखा’, हिं० सा० इ०, ७४

यद्यपि वे पढ़े-लिखे न थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी, जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य-चमत्कारपूर्ण बातें निकलती थीं।

—‘ज्ञानाश्रयी शाखा’, हिं० सा० इ०, ७३

### का रहस्यवाद

कबीर की वाणी में स्थान-स्थान पर भावात्मक रहस्यवाद की जो झलक मिलती है वह सूफियों के सत्संग का प्रसाद है।

—‘ज्ञानाश्रयी शाखा’, हिं० सा० इ०, ७४

### करुणा

अत्याचार द्वारा उपस्थित घोर विघ्न-बाधा की दशा में प्रेमपात्र की भी रक्षा का सीधा लगाव प्रेम से नहीं रहता, करुणा से रहता है।

—‘काव्य के विभाग’, र० मी०, ७५

करुणा अपना बीज अपने आलम्बन पात्र में नहीं फेंकती है अर्थात् जिस पर करुणा की जाती है वह बदले में करुणा करनेवाले पर भी करुणा नहीं करता—जैसा कि क्रोध और प्रेम में होता है—बल्कि कृतज्ञ होता अथवा श्रद्धा या प्रीति करता है।

—‘करुणा’, चिन्ता०-१, ५२

करुणा की प्राप्ति के लिए पात्र में दुःख के अतिरिक्त और किसी विशेषता की अपेक्षाँ नहीं।

‘करुणा’, चिन्ता०-१, ४५

दुःखी व्यक्ति जितना ही अधिक असहाय और असमर्थ होगा उतनी ही अधिक उसके प्रति हमारी करुणा होगी।

—‘करुणा’, चिन्ता०-१, ५१

दूसरों के दुःख के परिज्ञान से जो दुःख होता है वह करुणा, दया आदि नामों से पुकारा जाता है और अपने कारण को दूर करने की उत्तेजना करता है।

—‘करुणा’, चिन्ता०-१, ४६

मनुष्य की प्रकृति में शील और सात्त्विकता का आदि संस्थापक यही मनो-विकार है।

—‘करुणा’, चिन्ता०-१, ४६

मनोवेग-वर्जित सदाचार दम्भ या झूठी कवायद है। मनुष्य के अन्तःकरण में सात्त्विकता की ज्योति जगानेवाली यही करुणा है।

—‘करुणा’, चिन्ता०-१, ४७

यदि ध्यान से देखा जाय तो कर्म-क्षेत्र में परस्पर सहायता की सच्ची उत्तेजना देनेवाली किसी-न-किसी रूप में करुणा ही दिखाई देगी।

—‘करुणा’, चिन्ता०-१, ५१

शोक अपनी निज की इष्ट-हानि पर होता है और करुणा दूसरों की दुर्गति या पीड़ा पर होती है।

‘रसात्मक-बोध के विविध रूप’, चिन्ता०-१, २५२

—और क्रोध

दुःख की श्रेणी में प्रवृत्ति के विचार से करुणा का उल्टा क्रोध है। क्रोध जिसके प्रति उत्पन्न होता है उसकी हानि की चेष्टा की जाती है। करुणा जिसके प्रति उत्पन्न होती है उसकी भलाई का उद्योग किया जाता है।

—‘करुणा’, चिन्ता०-१, ४४

### —और प्रेम

लोक-मंगल की साधनावस्था या प्रयत्न-रक्षा को लेकर चलनेवाले कवियों या समीक्षकों को 'करुणा' ही को बीजभाव कहना चाहिये। सिद्धावस्था की प्रशान्त भूमि पर चलनेवाले कवियों का ही 'प्रेम-तत्त्व' को बीजभाव कहना ठीक है।

—‘काव्य के विभाग’, २० भी०, ८०

### कला

इधर हमारी हिन्दी में भी काव्य-समीक्षा के प्रसंग में 'कला' शब्द की बहुत अधिक उद्धरणी होने लगी है। मेरे देखने में तो हमारे काव्य-समीक्षा-क्षेत्र से जितनी जल्दी यह शब्द निकले उतना ही अच्छा। इसका जड़ पकड़ना ठीक नहीं।

—‘काव्य में अभिव्यजनावाद’, चिन्ता०-२, १८०

बहु नीहार-कल्पनाएँ बन

रखता है वह सर्व सनातन।

रूप हृदयमय, हृदय रूपमय का अनंत अंतुष्ठि उमड़ा है,

कही किसी चढ़ती तरंग पर शीर्षबिन्दु बन उछल पड़ा है।

कहकर क्या ही अकल कला है !

प्रलय विलय की ओर चला है।

—‘रूपमय हृदय’, मध्य०, ५७

### —कला के लिए

'कला कला ही के लिए' वाली बात को जीर्ण होकर मरे हुए बहुत दिन हुए। एक क्या कई क्रोचे उसे फिर जिला नहीं सकते।

—‘काव्य में अभिव्यजनावाद’, चिन्ता०-२, १८५

### —वादी

कलावादियों का केवल कोमल और मधुर की लीक पकड़ना मनोरंजन मात्र की हुल्की रुचि और दृष्टि की परिमिति के कारण समझना चाहिए।

—‘काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था’, चिन्ता०-१, २२४

### कल्पना

अप्रस्तुत की योजना भी कल्पना ही द्वारा होती है।

—‘रसात्मक बोध के विविध रूप’, चिन्ता०-१, २६७

अलंकार-विद्यान में उपयुक्त उपमान लाने में कल्पना ही काम करती है।

—‘अप्रस्तुत रूप-विद्यान’, २० मी०, ३४६

‘कल्पना’ काव्य का बोध-पक्ष है। ‘कल्पना’ में आई हुई रूप-व्यापार-योजनां का कवि या श्रोता को अन्तःसाक्षात्कार या बोध होता है।

—‘साधारणीकरण और व्यक्तिवैचित्रवाद’, चिन्ता०-१, २३६  
कल्पना के दो प्रकार—(१) नाटकीय कल्पना, (२) प्रगीतात्मक या अंतर्भावात्मक कल्पना। ‘तदनुसार कवि लोग या तो सापेक्ष दृष्टि के होते हैं या निरपेक्ष दृष्टि के।

—‘परिशिष्ट’, १० मी०, ४२६

कल्पना दो प्रकार की होती है—विद्यायक और ग्राहक। कवि में विद्यायक कल्पना अपेक्षित होती है और श्रोता या पाठक में अधिकतर ग्राहक।

—‘कविता क्या है ?’, चिन्ता०-१, १६१

काव्य की पूर्ण अनुभूति के लिए कल्पना का व्यापार कवि और श्रोता दोनों के लिए अनिवार्य है।

—‘रसात्मक-बोध के विविध रूप’, चिन्ता०-१, २७१

काव्य-वस्तु का सारा रूप-विद्यान इसी की क्रिया से होता है।

—‘रसात्मक-बोध के विविध रूप’, चिन्ता०-१, २६४

भाषा-शैली को अधिक व्यंजक, मार्मिक और चमत्कारपूर्ण बनाने में भी कल्पना ही काम करती है। कल्पना की सहायता यहाँ भाषा की लक्षणा और व्यंजना नाम की शक्तियाँ करती है।

—‘रसात्मक-बोध के विविध रूप’, चिन्ता०-१, २६८

मानसिक रूप-विद्यान का नाम ही सभावना या कल्पना है।

—‘रसात्मक-बोध के विविध रूप’, चिन्ता०-१, २४२

### —और व्यक्तित्व

‘कल्पना’ और ‘व्यक्तित्व’ की, पाश्चात्य समीक्षा-क्षेत्र में इतनी अधिक मुनाफी हुई कि काव्य के और सब पक्षों से दृष्टि हटकर इन्हीं दो पर जा जमी।

—‘प्रस्तुत रूप-विद्यान’, २० मी०, ३०८

### कवि

कवि का लक्ष्य ‘विम्ब-ग्रहण’ कराने का रहता है, केवल ‘अर्थ-ग्रहण’ कराने का नहीं।

—‘काव्य में प्राकृतिक दृश्य’, चिन्ता०-२, २

कवि की दृष्टि तो सौन्दर्य की ओर जाती है, चाहे वह जहाँ हो—वस्तुओं के रूप-रंग में अथवा मनुष्यों के मन, वचन और कर्म में।

—‘कविता क्या है’, चिन्ता०-१, १६७

कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानवस्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे।

—‘तुलसी की भावुकता ?’, गो० तु०, ७४

कवि को अपने कार्य में अन्तःकरण की तीन वृत्तियों से काम नेना पड़ता है—कल्पना, वासना और बुद्धि। इनमें से बुद्धि का स्थान बहुत गौण है। कल्पना और वासनात्मक अनुभूति ही प्रधान है।

—‘काव्य का लक्ष्य’, २० मी०, ६१

कवि को ‘कलानिषुण’ और ‘सहृदय’ दोनों होना चाहिये। ‘कलानिषुणता’ और ‘सहृदयता’ अब दोनों एक ही वस्तु नहीं है।

—‘काव्य का लक्ष्य’, २० मी०, ६६-१००

कवि लोग अर्थ और वर्ण-विन्यास के विचार से जिस प्रकार शब्द-शोधन करते हैं, उसी प्रकार अधिक मर्मस्पर्शी और प्रभावोत्पादक दृश्य उपस्थित करने के लिये व्यापार-शोधन भी करते हैं।

—‘तुलसी की भावुकता’, गो० तु०, ६७

किसी काल में जो सैकड़ों कवि प्रसिद्ध होते हैं उनमें सच्चे कवि—ऐसे कवि जिनकी तीव्र अनुभूति ही वास्तव में कल्पना को अनुकूल रूप-विद्यान में तत्पर करती है—दस-पाँच ही होते हैं।

—‘रसात्मक-बोध के विविध रूप’, चिन्ता०-१, २४४

तार्किक जिस प्रकार श्रोता को अपनी विचार-पद्धति पर लाना चाहता है उसी प्रकार कवि अपनी भाव-पद्धति पर।

—‘महाकवि सूरदास’, ग्र० गी० सा०, ४३

नर में नारायण की कला भासमान कर,

जीवन को वे ही दिव्य-ज्योति सा जगावेंगे।

कूप से निकाल हमे छोड़ रूप-सागर में,

भवा की विभूतियों में भाव-सा रमावेंगे।

—‘हृदय का मधुर भार’, मध०, ३५

प्रतिभाशाली कवियों की प्रवृत्ति अर्थ में रत साधारण लोगों से भिन्न और मनस्विता लिए होती है तथा लोगों के देखने में कभी-कभी एक सनक-सी जान पड़ती है।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ०, ५२८

प्राप्त प्रसंग के गोचर अगोचर सब पक्षों तक जिसकी दृष्टि पहुँचती है,

किसी परिस्थिति में अपने को डालकर उसके अंग-प्रत्यंग का साक्षात्कार जिसका विशाल अन्त करण कर सकता है, वही प्रकृत कवि है।

—‘अलकार विद्वान्’, गो० तु०, १३६

रस-संचार का प्रयासी कवि विषय को श्रोता या दर्शक के सामने नहीं रखता, वास्तव में किसी वर्णित पात्र के सामने रखता है।

—‘काव्य का लक्ष्य’, र० मी०, ८६

श्रीमानों के शुभागमन पर पद्य बनाना, बात-बात में उनको बधाई देना, कवि का काम नहीं। जिनके रूप या कर्म-कलाप जगत् और जीवन के बीच में उसे सुन्दर लगते हैं, उन्हीं के वर्णन में वह स्वान्तःसुखाय प्रवृत्त होता है।

—‘कविता क्या है ?’, चिन्ता०-१, १५५

साधारण के बीच में यथास्थान असाधारण की योजना करना सहृदय और कलाकुशल कवि का ही काम है। साधारण-असाधारण अनेक वस्तुओं के मेल से एक विस्तृत और पूर्ण चित्र संघटित करनेवाले ही कवि कहे जाने के अधिकारी हैं।

—‘काव्य में प्राकृतिक दृश्य’, चिन्ता०-२, ६

### —आधुनिक—

जगत् के इतिहास, विज्ञान आदि द्वारा हमारा ज्ञान जहाँ तक पहुँचा है वहाँ तक हृदय को भी ले जाना आधुनिक कवियों का काम है।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ६११

### —और आचार्य

संस्कृत साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न-भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे। हिन्दी काव्य-क्षेत्र में यह भेद लुप्त-सा हो गया। इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा।

—‘रीतिकाल, सामान्य परिचय’, हिं० सा० इ०, २१६

### —कल्पना

किसी भावोद्रेक द्वारा परिचालित अन्तर्वृत्ति जब उस भाव के पोषक स्वरूप गढ़कर या काट-छाँटकर सामने रखने लगती है तब हम उसे सच्ची कवि-कल्पना कह सकते हैं।

—‘अप्रस्तुत रूप-विद्वान्’, र० मी०, ३४८

### —का यश

किसी कवि का यश उसकी रचनाओं के परिमाण के हिसाब से नहीं होता, गुण के हिसाब से होता है ।

—‘सीतिग्रथकार कवि’, हिं० सा० १०, २२८

### —में बहुज्ञता-प्रदर्शन

कवियों में बहुज्ञता प्रदर्शन की जो प्रवृत्ति कुछ दिनों से चल पड़ी, उसके कारण कवियों के प्रबंधाश्रित भाव प्रवाह में कहीं-कहीं बेतरह बाधा पड़ी है ।

—‘सभोग शृंगार’, जा० ग्र०, ४८

### —हृदय

अपनी व्यक्तिगत सत्ता की अलग भावना से हटाकर निज के योग-क्षेम के संबंध से मुक्त करके, जगत् के वास्तविक दृश्यों और जीवन की वास्तविक दशाओं से जो हृदय समय-समय पर रमता रहता है, वही सच्चा कवि-हृदय है ।

—‘तुलसी की काव्य-पद्धति’, गो० तु०, ५६

### कविता (देखिए ‘काव्य’ भी)

अधिकतर कविता स्वभावतः अत्यन्त सामान्य आकर्षणवाले विषयों या आलम्बनों को लेकर होती है ।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ६०

अन्तःप्रकृति में मनुष्यता को समय-समय पर जगाते रहने के लिए कविता मनुष्य-जाति के साथ लगी चली आ रही है और चली चलेगी । जानवरों को इसकी ज़रूरत नहीं ।

—‘कविता क्या है ?’, चिन्ता०-१, १८६

उसी अनुराग के है शीतल विभास सब

कोमल अरुण किशलय क्या कुसुमदल ।

नीरव संदेश कहो, प्रेम कहो, रूप कहो;

सब कुछ कहो इन्हें सच्चे रंग ही मे ढल ।

रंग कैसे रंग पर उड़-उड़ झुकते हैं

पवन में पंख बने तितली के चोखे चल ।

यों ही जब रूप मिलें बाहर के भीतर की  
भावना से, जानो तब कविता का सत्य पल ।

—‘हृदय का मधुर भार’, मधु०, ३८

कवितां अभिव्यंजना है । वह अभिव्यक्ति या विकास को लेकर चलती है ।

—‘काव्य के विभाग’, २० मी०, ७६

कविता ही मनुष्य के हृदय को स्वार्थ-संबंधों के संकुचित मंडल से ऊपर उठाकर लोक-सामान्य भाव-भूमि पर ले जाती है जहाँ जगत् की नाना गतियों के मार्मिक स्वरूप का साक्षात्कार और शुद्ध अनुभूतियों का संचार होता है ।

—‘कविता क्या है ?’, चिन्ता०-१, १४१; ‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ४६  
कविता ही हृदय को प्रकृत दशा में लाती है और जगत् के बीच क्रमशः उसका अधिकाधिक प्रसार करती हुई उसे मनुष्यत्व की उच्च भूमि पर ले जाती है ।

—‘कविता क्या है ?’, चिन्ता०-१, १६०

खेद के साथ कहना पड़ता है कि बहुत दिनों से बहुत-से लोग कविता को विलास की सामग्री समझते आ रहे हैं ।

—‘कविता क्या है ?’, चिन्ता०-१, १६३-६४

जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है । हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं ।

—‘कविता क्या है ?’, चिन्ता०-१, १४१

दल-राशि उठी खरे आतप मे  
हिल चंचल चौध मचाती जहाँ;  
उस एक हरे रंग में हलकी—  
गहरी लहरी पड़ जाती जहाँ ।  
कल-कर्बुरता नभ की प्रतिबिंबित,  
खंजन मे मन भाती जहाँ;  
कविता, वह ! हाथ उठाए हुए  
चलिए कविवृद ! बुलाती वहाँ ॥

—‘आमत्रण’, मधु०, ६६.

यह धारणा कि काव्य व्यवहार का बाधक है, उसके अनुशीलन से अकर्म-प्यता आती है, ठीक नहीं । कविता तो भाव-प्रसार द्वारा कर्मण्य के लिये-

कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है।

—‘कविता क्या है ?’, चिन्ता०-१, १५८

हृदय पर नित्य प्रभाव रखनेवाले रूपों और व्यापारों को भावना के सामने लाकर कविता बाह्य प्रकृति के साथ मनुष्य की अन्तःप्रकृति का सामंजस्य घटित करती हुई उसकी भावात्मक सत्ता के प्रसार का प्रयास करती है।

—‘कविता क्या है ?’, चिन्ता०-१, १४५-१४६

### —और कवि-कर्म

‘...ज्यों-ज्यों हमारी वृत्तियों पर सम्यता के नए-नए आवरण चढ़ते जाएँगे त्यों-त्यों एक ओर तो कविता की आवश्यकता बढ़ती जाएगी, दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जायगा।

—‘कविता क्या है ?’, चिन्ता०-१, १४४

### —और कहानी

कविता और कहानी का अन्तर स्पष्ट है। कविता सुननेवाला किसी भाव में मग्न रहना चाहता है और कभी-कभी बार-बार एक ही पद्धि सुनना चाहता है। पर कहानी सुननेवाला आगे की घटना के लिए आकुल रहता है। कविता सुननेवाला कहता है ‘ज्ञारा फिर तो कहिए।’ कहानी सुननेवाला कहता है ‘हाँ ! तब क्या हुआ ?’

—‘कविता क्या है ?’, चिन्ता०-१, १६३

### —और भोग-विलास

पकड़-पकड़ पिटी अपनी लकीरों पर

लाकर खिलाई हुई डालियों के पास में;

डाल के सुखासन जो बैठते हैं सायं-प्रात

सुखद समीर ही के सेवन की आस में।

कहे वे चाहे इसे ही प्रकृति का प्रेम और

दूँड़ा करे कविता को भोग और विलास में।

किन्तु रसमयी विश्वव्यापिनी कला की भला

झलक मिलेगी कहाँ ऐसों के प्रयास में ?

—‘हृदय का मधुर भार’, मधु०, ४७

### —और सौंदर्य

मुन्दर और कुरुप—काव्य में वस ये ही दो पक्ष हैं। भला-बुरा, शुभ-

अशुभ, पाप-पुण्य, मंगल-अमंगल, उपयोगी-अनुपयोगी—ये सब शब्द काव्य-क्षेत्र के बाहर के हैं।

—‘कविता क्या है ?’, चिन्ता०-१, १६७

### —की आवश्यकता

मनुष्य के लिये कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य-असभ्य सभी जातियों में, किसी-न-किसी रूप में, पाई जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता का प्रचार अवश्य रहेगा।

—‘कविता क्या है ?’, चिन्ता०-१, १८६.

### —के उत्थान

तृतीय उत्थान में जो परिवर्तन हुआ और पीछे ‘छायावाद’ कहलाया, वह इसी द्वितीय उत्थान की कविता के विरुद्ध कहा जा सकता है। उसका प्रधान लक्ष्य काव्यशैली की ओर था, वस्तुविधान की ओर नहीं।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ५६५

### —नई धारा की

नई धारा की कविता के भीतर जिन नए-नए विषयों के प्रतिबिंब आए, वे अपनी नवीनता से आकर्षित करने के अतिरिक्त नूतन परिस्थिति के साथ हमारे मनोविकारों का सामंजस्य भी घटित कर चले।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ५४१।

विषयों की अनेकरूपता के साथ-साथ उनके विधान का भी ढंग बदल चला। प्राचीन धारा में ‘मुक्तक’ और प्रबन्ध की जो प्रणाली चली आती थी, उससे कुछ भिन्न प्रणाली का भी अनुसरण करना पड़ा।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ५४१।

हिंदी कविता की नई धारा का प्रवर्तक इन्हीं (पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी-सं०) को—विशेषतः श्री मैथिलीशरण गुप्त और मुकुटधर पांडेय को—समझना चाहिए।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ५६८

### कहानी

घटनाप्रधान और मार्मिक, उनके ये दो स्थूल भेद भी बहुत पुराने हैं और इनका मिश्रण भी।... इन दोनों कोटि की कहानियों में एक बड़ा भारी भेद तो यह दिखाई देगा कि प्रथम में इतिवृत्त का प्रवाहमात्र अपेक्षित होता

है; पर इसी कोटि की कहानियों में भिन्न-भिन्न स्थितियों का चित्रण या प्रत्यक्षीकरण भी पाया जाता है।

—‘गदा का प्रसार’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ४७६  
छोटी कहानियों का विकास तो हमारे यहाँ और भी विशद और विस्तृत रूप में हुआ है और उसमें वर्तमान कवियों का भी पूरा योग रहा है। उनके इतने रूप रंग हमारे सामने आए हैं कि वे सब के सब पाश्चात्य लक्षणों और आदर्शों के भीतर नहीं समा सकते।

—‘गदा-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ०, ४६८-४६९

### कामायनी

जिस समन्वय का पक्ष कवि ने अंत में सामने रखा है उसका निर्वाह रहस्यवाद की प्रकृति के कारण काव्य के भीतर नहीं होने पाया है।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ६३७

यदि मधुचर्या का अतिरेक और रहस्य की प्रवृत्ति बाधक न होती तो इस काव्य के भीतर मानवता की योजना शायद अधिक पूर्ण और सुव्यवस्थित रूप में चित्रित होती।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ६३६

संवेदन, चेतना, जागरण आदि के परिहार की जो बीच-बीच से अभिलाषा है उसे रहस्यवाद का तकाजा समझना चाहिये। ग्रंथ के अंत में जो हृदय, बुद्धि और कर्म के मेल या सामंजस्य का पक्ष रखा गया है वह तो बहुत समीचीन है।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ६३८

### काल-परिवर्तन

जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिरिबिंब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।

—‘काल-विभाग’, हिं० सा० इ०, १

### कालिदास

कालिदास के दृश्य-वर्णनों में देशगत विशेषताओं का जो रंग पाया जाता है, वह भवभूति तक तो कुछ रहा, उसके पीछे नहीं। फिर तो वर्णन रुद्ध हो गए।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ०’, १६५

## काव्य (दै० 'कविता' भी)

कविता का संबंध ब्रह्म की व्यक्त सत्ता से है, चारों ओर फैले हुए गोचर जगत् से है; अव्यक्त सत्ता से नहीं। जगत् भी अभिव्यक्ति है; काव्य भी अभिव्यक्ति है। जगत् अव्यक्त की अभिव्यक्ति है और काव्य इस अभिव्यक्ति की भी अभिव्यक्ति है।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ५४

काव्य एक बहुत ही व्यापक कला है। जिस प्रकार मूर्त्ति विधान के लिये कविता चित्र-विद्या की प्रणाली का अनुसरण करती है उसी प्रकार नाद-सौष्ठुद के लिये वह संगीत का कुछ-कुछ सहारा लेती है।

—‘कविता क्या है ?’, चिन्ता०-१, १७६

काव्य का उत्कर्ष केवल प्रेमभाव की कोमल व्यंजना में ही नहीं माना जा सकता। ऋषि आदि उग्र और प्रचण्ड भावों के विधान में भी, यदि उनकी तह में करुण-भाव अव्यक्त रूप में स्थित हो, पूर्ण सौन्दर्य का साक्षात्कार होता है।

—‘काव्य में लोकमंगल की साक्षात्कारस्था’, चिन्ता०-१, २२४

काव्य का काम है कल्पना में ‘विम्ब’ (images) या मूर्त्ति भावना उपस्थित करना; बुद्धि के सामने कोई विचार (concept) लाना नहीं। ‘विम्ब’ जब होगा तब विशेष या व्यक्ति का ही होगा, सामान्य या जाति का नहीं।

—‘साधारणीकरण और व्यक्ति वैविद्यवाद’, चिन्ता०-१, २२८

काव्य का चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना है (दर्शन के समान केवल ज्ञान करना नहीं)। उसके साधन में भी अहंकार का त्याग आवश्यक है।

—‘विभाव’, २० भी०, ११५

काव्य का प्रभाव केवल नाद पर अवलंबित नहीं।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ५६०

काव्य का विषय सदा ‘विशेष’ होता है, ‘सामान्य’ नहीं; वह ‘व्यक्ति’ सामने लाता है, ‘जाति’ नहीं।

—‘साधारणीकरण और व्यक्ति वैविद्यवाद’, चिन्ता०-१, २२८

काव्य की प्रस्तुत वस्तु या तथ्य विचार और अनुभव से सिद्ध, लोकस्वीकृत और ठीक-ठिकाने का होना चाहिए, क्योंकि व्यंजना उसी की होती है।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ६८

काव्य के लिए अनेक स्थलों पर हमें भावों के विषयों के मूल और आदिम

रूपों तक जाना होगा जो मूर्त और गोचर होंगे । जब तक भावों से सीधा-  
और पुराना लगाव रखनेवाले मूर्त और गोचर रूप न मिलेंगे तब तक  
काव्य का वास्तविक ढाँचा खड़ा न हो सकेगा ।

—‘कविता क्या है ?’, चिन्ता०-१, १४५.

काव्य में हृदय की अनुभूति अंगी है, मूर्त रूप अगभाव प्रधान है, कल्पना  
सहयोगिनी ।

—‘काव्य में अभिव्यजनावाद’, चिन्ता०-२, १८१.

काव्य शब्द-व्यापार है । वह शब्द-संकेतों के द्वारा ही अन्तस् में वस्तुओं  
और व्यापारों का मूर्ति-विद्यान करने का प्रयत्न करता है । अतः जहाँ  
तक काव्य की प्रक्रिया का सम्बन्ध है वहाँ तक रूप और व्यापार कल्पित  
ही होते हैं ।

—‘रसात्मक बोध के विविध रूप’, चिन्ता०-१, २४५.

यदि काव्य की तह में जीवन का कोई सच्चा मार्मिक तथ्य, सच्ची भावानु-  
भूति नहीं तो उसका मूल्य मनोरंजन करनेवाली सजावट या खेल-तमाशे  
के मूल्य से कुछ भी अधिक नहीं ।

—‘काव्य में अभिव्यजनावाद’, चिन्ता०-२, १७०

शुद्ध सच्चे काव्य में दो पक्ष अवश्य रहते हैं—जगत् या जीवन का कोई  
तथ्य तथा उसके प्रति किसी प्रकार की अनुभूति ।

—‘अप्रस्तुत रूप-विद्यान’, २० मी०, ३३७.

सच्चे काव्य में सहज भाव प्रधान होता है, आरोपित नहीं । उसमें कवि,  
पात्र और श्रोता तीनों के हृदय का समन्वय होता है जिससे काव्य का जो  
प्रकृत लक्ष्य है, पदार्थों के साथ भावों के प्रकृत सम्बन्ध का प्रत्यक्षीकरण—  
जगत् के साथ हमारी रागात्मिका वृत्ति का सामंजस्य—वह सिद्ध हो जाता  
है ।

—‘काव्य का लक्ष्य’, २० मी०, ६७-६८

स्वप्न और जागरण दोनों काव्य के पक्ष हैं । इन दोनों पक्षों का सामंजस्य  
काव्य का चरम उत्कर्ष है ।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ४६.

### —और कला

चित्रकला, मूर्तिकला आदि हल्की कलाओं के साथ कविता को विलक्षण  
मिलाकर जो काव्य-समीक्षा योरप में चली उसने काव्य के लक्ष्य की  
धारणा बहुत हल्की और संकुचित कर दी ।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, १३९.

### —और काव्याभास

सच्चा काव्य सामान्य भूमि पर पहुँची हुई अनुभूतियों का वर्णन करता है और काव्याभास ऐसे सच्चे वर्णनों की केवल नकल करता है।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ५३

### —और प्रकृति

‘उद्दीपन’ होने के लिए रूप का थोड़ा-थोड़ा प्रकाश क्या, संकेत-मात्र यथोष्ट है; पर ‘आलम्बन’ होने के लिए पूर्ण और स्पष्ट स्फुरण होना चाहिये।

—‘काव्य में प्राकृतिक दृश्य’, चिन्ता०-२, २५

मनुष्य को उसके व्यापार-गति से बाहर प्रकृति के विशाल और विस्तृत क्षेत्र में ले जाने की शक्ति फारस की परिमित काव्य-पद्धति में नहीं है—भारत और योरप का पद्धति में है।

—‘काव्य में प्राकृतिक दृश्य’, चिन्ता०-२, ८

### —और वाद

काव्यक्षेत्र में किसी ‘वाद’ का प्रचार धीरे-धीरे उसकी सारसत्ता को ही चर जाता है। कुछ दिनों में लोग कविता न लिखकर वाद लिखने लगते हैं।

—‘साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद’, चिन्ता०-१, २३७

### —और विद्यधता

‘विद्यधता’ वहीं तक काव्योपयोगी हो सकती है जहाँ तक वह भाव-प्रेरित हो—जहाँ तक उसका कारण कोई भाव या कम से कम कोई रागात्मक दशा हो।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा०, ४३

### —और सांमान्यजन

जब-जब शिष्टों का काव्य पंडितों द्वारा बँधकर निश्चेष्ट और संकुचित होगा तब-तब उसे सजीव और चेतन प्रसार देश की सामान्य जनता के बीच स्वच्छंद बहती हुई प्राकृतिक भावधारा से जीवन तत्त्व ग्रहण करने से ही प्राप्त होगा।... हमारी भाव-प्रवर्तिनी शक्ति का असली भंडार इसी स्वाभाविक भावधारा के भीतर निहित समझना चाहिए।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ५५३

आचार्य शुक्ल विचार-कोश :: ६५

## —और सूक्ति

जो उक्ति हृदय में कोई भाव जाग्रत कर दे या उसे प्रस्तुत वस्तु या तथ्य की मार्मिक भावना में लीन कर दे, वह तो है काव्य । जो उक्ति केवल कथन के ढंग के अनूठेपन, रचना-वैचित्र्य, चमत्कार, कवि के श्रम या निपुणता के विचार में ही प्रवृत्त करे, वह है सूक्ति ।

—‘कविता क्या है ?’, चिन्ता०-१, १७१

## —कला

तमोमयी वासना के गर्भ में विलीन कभी  
गडे हुए आप मे जो आपको छिपाते हैं,  
रूप गति-भेद का विकास लेके वे ही भाव  
खेलते-खेलाते हुए खुले चले आते हैं ।  
परम-हृदय खुला, बना क्या ? जगत्-काव्य,  
जगी हुई ज्योति-न्सा जगाते जिसे पाते हैं;  
यों ही खुल बाहर जो आपको बढ़ाते वे ही  
हृदय पुनीत कला काव्य की दिखाते हैं ।

—‘पाष्ठ-प्रतिषेध’, मधु० ८३

## —कला की रमणीयता

मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं, वैसे ही उसके हृदय के भी कोमल और कठोर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और बराबर रहेगे । काव्य-कला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मंगल या सौंदर्य के विकास में दिखाई पड़ती है ।

—‘काव्य मे लोकमंगल की साधनावस्था’, चिन्ता०-१, २२१

## —का लक्ष्य

काव्य या कविकर्म के लक्ष्य को हम क्रम से तीन भागों मे बाँट सकते हैं—

१. शब्द-विच्यास द्वारा श्रोता का ध्यान आर्कषित करना ।
२. भावों का स्वरूप प्रत्यक्ष करना ।
३. नाना पदार्थों के साथ उनका प्रकृत संबंध प्रत्यक्ष करना ।

मेरी समझ मे काव्य का अन्तिम लक्ष्य तीसरा है ।

—‘काव्य का लक्ष्य’, २० भी०, ८८

## —के विभाग

हम काव्यों के दो विभाग कर सकते हैं—

१. आनन्द की साधनावस्था या प्रयत्न-पक्ष को लेकर चलने वाले ।

२. आनन्द की सिद्धावस्था या उपभोग-पक्ष को लेकर चलने वाले ।  
—‘काव्य मे सोकमगल की साधनावस्था’, चिन्ता०-१, २१४

### —गत सत्य

सत्य सबकी सामान्य सम्पत्ति होता है; झूठ हरएक का अलग-अलग होता है। यही बात काव्यगत सत्यासत्य के सम्बन्ध में ठीक समझनी चाहिए ।

‘काव्य मे रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ६५

### —दृष्टि

काव्य-दृष्टि कही तो १. नरक्षेत्र के भीतर रहती है, कही २. मनुष्येतर बाह्य सृष्टि के, और ३. कही समस्त चराचर के ।

—‘कविता क्या है ?’, चिन्ता०-१, १४६

काव्य-दृष्टि सजीव सृष्टि तक ही बद्ध नहीं रहती । वह प्रकृति के उस भाग की ओर भी जाती है जो निर्जीव या जड़ कहलाता है ।

—‘कविता क्या है ?’, चिन्ता०-१, १५४

### —प्रबंध-मुक्तक

प्रबंध और मुक्तक में यही बड़ा भारी भेद होता है । मुक्तक मे किसी भाव की रस-पद्धति के अनुसार अच्छी व्यंजना हो गई, बस । पर प्रबंध मे इस बात पर भी ध्यान रहता है कि वह भाव परिस्थिति के अनुरूप है या नहीं ।

—‘प्रबंध कल्पना’, जा० ग्र०, ६६

### —भूमि

मनोमय कोश ही प्रकृत काव्यभूमि है, यही हमारा पक्ष है ।

—‘काव्य मे रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ७३

### —मे असाधारणत्व

काव्य मे असाधारणत्व वही अपेक्षित होता है जहाँ भावों का अत्यन्त उत्कर्ष दिखाना होता है । इस उत्कर्ष के लिये कही-कही असाधारणत्व पहले विभाव मे प्रदर्शित होकर भाव (स्थायी) के उत्कर्ष का कारण-स्वरूप होता है ।

—‘काव्य का लक्ष्य’, र० सी०, १०२

केवल वस्तु के असाधारणत्व या व्यंजन-प्रणाली के असाधारणत्व मे ही काव्य समझ बैठना अच्छी समझदारी नहीं ।

—‘काव्य का लक्ष्य’, र० सी०, १०३

प्रसंग-प्राप्त साधारण-असाधारण सभी वस्तुओं का वर्णन कवि का कर्तव्य है।

—‘काव्य का लक्ष्य’, २० मी०, १०३

### —में सत्त्वगुण

पूर्ण प्रभविष्णुता के लिए काव्य में हम भी सत्त्वगुण की सत्ता आवश्यक मानते हैं, पर दोनों रूपों में—दूसरे भावों की तह में अर्थात् अंतस्संज्ञा में स्थित अव्यक्त बीज रूप में भी और प्रकाश रूप में भी। ... उच्चदशा का प्रेम और करुणा दोनों सत्त्वगुणप्रधान है।

—‘काव्य में लोक-भंगल की साधनावस्था’, चिन्ता०-१, २२५

### काव्यानुभव

जीवन के और साधनों की अपेक्षा काव्यानुभव में विशेषता यह होती है कि यह एक ऐसी रमणीयता के रूप में होता है, जिसमें व्यक्तित्व का लय हो जाता है। बाह्यजीवन और अंतर्जीवन की कितनी उच्च भूमियों पर इस रमणीयता का उद्घाटन हुआ है, किसी काव्य की उच्चता और उत्तमता के निर्णय में इसका विचार अवश्य होता आया है, और होगा।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५४४-५४५

### किशोरीलाल गोस्वामी

और लोगों ने भी मौलिक उपन्यास लिखे, पर वे वास्तव में उपन्यासकार न थे। और चीजें लिखते-लिखते वे उपन्यास की ओर भी जा पड़ते थे। पर गोस्वामी जी वही घर करके बैठ गए। एक क्षेत्र उन्होंने अपने लिए चुन लिया और उसी में रम गए।

—‘गद्य-साहित्य का प्रसार’, हिं० सा० इ०, ४५६

### कृष्णबिहारी मिश्र

मिश्रबंधुओं की अपेक्षा पं० कृष्णबिहारीजी साहित्यिक आलोचना के कहीं अधिक अधिकारी कहे जा सकते हैं।

—‘गद्य-साहित्य का प्रसार’, हिं० सा० इ०, ४८७

### कृष्ण-भक्ति

सब सम्प्रदायों के कृष्णभक्त भागवत में वर्णित कृष्ण की ब्रज लीला को ही लेकर चले क्योंकि उन्होंने अपनी प्रेमलक्षणा भक्ति के कृष्ण का मधुर रूप ही पर्याप्त समझा।

—‘वल्लभाचार्य’, सूर०, १०१

कृष्ण-भक्ति-परम्परा में कृष्ण की प्रभमयी मूर्ति को ही लेकर प्रेमतत्त्व की बड़े विस्तार के साथ व्यंजना हुई है; उनके लोक पक्ष का समावेश उसमें नहीं है।

—‘जीवन वृत्त’, सूर०, ११२

मनुष्यता के शैद्यर्थपूर्ण और माधुर्यपूर्ण पक्ष को दिखाकर इन कृष्णोपासक वैष्णव कवियों ने जीवन के प्रति अनुराग जगाया, या कम से कम जीने की चाह बनी रहने दी।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा०, १

राधाकृष्ण के प्रेम को लेकर कृष्णभक्ति की जो काव्य-धारा चली उसमें लीला-पक्ष अर्थात् बाह्यार्थ विधान की प्रधानता रही है।<sup>१००</sup> प्रेमलीन हृदय की नाना अनुभूतियों की व्यंजना कम है।

—‘जीवन-वृत्त’, सूर०, ११६

### केशवदास

केशव की रचना को सबसे अधिक विकृत और अरुचिकर करनेवाली वस्तु है अलंकारिक चमत्कार की प्रवृत्ति जिसके कारण न तो भावों की प्रकृत व्यंजना के लिए जगह बचती है, न सच्चे हृदयग्राही वस्तु-वर्णन के लिए।

—‘भक्तिकाल की फुटकल रचनाएँ’, हिं० सा० इ०, १६६

केशव को कवि-हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए। वे संस्कृत से सामग्री लेकर अपने पाडित्य और रचना-कौशल की धाक जमाना चाहते थे। पर इस कार्य में सफलता प्राप्त करने के लिए भाषा पर जैसा अधिकार चाहिए वैसा उन्हें प्राप्त न था।

—‘भक्तिकाल की फुटकल रचनाएँ’, हिं० सा० इ०, १६३

कृष्णों की स्थानगत विशेषता (लोकल कलर) केशव की रचनाओं में ढूँढ़ना तो व्यर्थ ही है।

—‘भक्तिकाल की फुटकल रचनाएँ’, हिं० सा० इ०, १६५

प्रबन्धकाव्य-रचना के योग्य न तो केशव में अनुभूति ही थी, न शक्ति।

—‘भक्तिकाल की फुटकल रचनाएँ’, हिं० सा० इ०, १६५

संबंध निर्वाह की क्षमता केशव में न थी। उनकी ‘रामचंद्रिका’ अलग-अलग लिखे हुए वर्णनों का संग्रह-सी जान पड़ती है।

—‘भक्तिकाल की फुटकल रचनाएँ’, हिं० सा० इ०, १६४

## क्रूर

क्रूर और नीच मनुष्य यदि कभी आकर नम्रता प्रकट करे तो इसे बहुत डर की बात समझना चाहिए।

—‘अलकार विद्यान’, गो० तु०, १३६

## क्रूरता

‘उग्रता’ के साथ ‘निष्ठुरता’ या ‘निर्देयता’ के मेल से ‘क्रूरता’ का आविभाव होता है।

—‘भावों का वर्णकरण’, र० मी०, २२९

## क्रोध

क्रोध और वैर का भेद केवल कालकृत है। दुख पहुँचने के साथ ही दुःख-दाता को पीड़ित करने की प्रेरणा करनेवाला मनोविकार क्रोध और कुछ काल बीत जाने पर प्रेरणा करने वाला भाव वैर है।

—‘क्रोध’, चिन्ता०-१, १३८

क्रोध का एक हल्का रूप है चिड़चिड़ाहट, जिसकी व्यंजना प्रायः शब्दों ही तक रहती है।

—‘क्रोध’, चिन्ता०-१, १३९

क्रोध दुःख के चेतन कारण के साक्षात्कार या अनुमान से उत्पन्न होता है। साक्षात्कार के समय दुःख और उसके कारण के सम्बन्ध का परिज्ञान आवश्यक है।

—‘क्रोध’, चिन्ता०-१, १३९

क्रोध शांति-भंग करनेवाला मनोविकार है। एक का क्रोध दूसरे में भी क्रोध का संचार करता है।

—‘क्रोध’, चिन्ता०-१, १३५

क्रोध सब मनोविकारों से फुरतीला है। इसीसे अवसर पड़ने पर यह और दूसरे मनोविकारों का भी साथ देकर उनकी तुष्टि का साधक होता है।

—‘क्रोध’, चिन्ता०-१, १३५

क्षमा जहाँ से श्रीहत हो जाती है वही से क्रोध के सौन्दर्य का आरंभ होता है।

—‘क्रोध’, चिन्ता०-१, १३७

वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।

—‘क्रोध’, चिन्ता०-१, १३८

## ॥ ख्य ॥

### खड़ी बोली (दे० 'गद्य' भी)

— अकबर और जहाँगीर के समय में ही खड़ी बोली भिन्न-भिन्न प्रदेशों में शिष्ट समाज के व्यवहार की भाषा हो चली थी। यह भाषा उर्दू नहीं कही जा सकती; यह हिन्दी खड़ी बोली है।

—‘गद्य का विकास’, हि० सा० इ०, ३७६  
किसी भाषा का साहित्य में व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उस भाषा का अस्तित्व ही नहीं था। उर्दू का रूप प्राप्त होने के पहले भी खड़ी बोली अपने देशी रूप में वर्तमान थी और अब भी बनी हुई है।

—‘गद्य का विकास’, हि० सा० इ०, ३७५

कुछ लोगों का यह कहना या समझना कि मुसलमानों के द्वारा ही खड़ी बोली अस्तित्व में आई और उसका मूल रूप उर्दू है, जिससे आधुनिक हिन्दी गद्य की भाषा अरबी-फारसी शब्दों को निकालकर गढ़ ली गई, शुद्ध भ्रम या अज्ञान है।

—‘गद्य का विकास’, हि० सा० इ०, ३७५

जिस समय अंग्रेजी राज्य भारत में प्रतिष्ठित हुआ उस समय सारे उत्तरी भारत में खड़ी बोली व्यवहार की शिष्ट भाषा हो चुकी थी।

—‘गद्य का विकास’, हि० सा० इ०, ३७६

जिस समय फोर्ट विलियम कालेज की ओर से उर्दू और हिन्दी गद्य की पुस्तके लिखाने की व्यवस्था हुई उसके पहले हिन्दी खड़ी बोली में गद्य की कई पुस्तके लिखी जा चुकी थी।...अतः यह कहना कि अँगरेजों की प्रेरणा से ही हिन्दी खड़ी बोली गद्य का प्रादुर्भाव हुआ, ठीक नहीं है।

—‘गद्य का विकास’, हि० सा० इ०, ३७६

देश के भिन्न-भिन्न भागों में मुसलमानों के फैलने तथा दिल्ली की दरबारी शिष्टता के प्रचार के साथ ही दिल्ली की खड़ी बोली शिष्ट समुदाय के परस्पर व्यवहार की भाषा हो चली थी।

—‘गद्य का विकास’, हि० सा० इ०, ३७८

संस्कृत पदावली का अधिक आश्रय लेने से खड़ी बोली के मौजने की संभावना दूर ही रहेगी।

‘नई धारा’, हि० सा० इ०, ५८८

## —ब्रजभाषा

गद्य लिखने की परिपाटी का सम्यक् प्रचार न होने के कारण ब्रजभाषा गद्य जहाँ का तहाँ रह गया। वैष्णववार्ताओं में उसका जैसा परिष्कृत और सुव्यवस्थित रूप दिखाई पड़ा वैसा फिर आगे चलकर नहीं।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ०, ३७३

## —हिन्दी

अब तक पाई गई पुस्तकों में ‘योगवाशिष्ठ’ ही सबसे पुराना है जिसमें गद्य अपने परिष्कृत रूप में दिखाई पड़ता है। अतः जब तक और कोई पुस्तक इससे पुरानी न मिले तब तक इसी को परिमार्जित गद्य की प्रथम पुस्तक और रामप्रसाद निरंजनी को प्रथम प्रौढ़ गद्य लेखक मान सकते हैं।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ०, ३७७

काव्य की टीकाओं आदि में जो थोड़ा बहुत गद्य देखने में आता था वह बहुत ही अव्यवस्थित और अशक्त था। उसमें अर्थों और भावों को संबद्ध रूप में प्रकाशित करने तक की शक्ति न थी।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ०, ३७३

राजा लक्ष्मणसिंह के समय में ही हिन्दी गद्य की भाषा अपने भावी रूप का आभास दे चुकी थी। अब आवश्यकता ऐसे शक्तिसंपन्न लेखकों की थी जो अपनी प्रतिभा और उद्भावना के बल से उसे सुव्यवस्थित और परिमार्जित करते और उसमें ऐसे साहित्य का विद्यान करते जो शिक्षित जनता की रुचि के अनुकूल होता। ठीक इसी परिस्थिति में भारतेन्दु का उदय हुआ।

—‘गद्य-साहित्य का आविर्भाव’, हिं० सा० इ०, ४११

संवत् १८६० के लगभग हिन्दी गद्य का प्रवर्तन तो हुआ पर उसके साहित्य की अखंड परंपरा उस समय से नहीं चली।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ०, ३८७

हिन्दी गद्य के प्रसार में ईसाइयों का बहुत-कुछ योग रहा। शिक्षा संबंधिनी पुस्तकों तो पहलेपहल उन्हींने तैयार की। इन बातों के लिए हिन्दी प्रेमी उनके सदा कृतज्ञ रहे।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४०५

हिन्दी-गद्य-साहित्य का सूक्ष्मपात करने वाले चार महानुभाव कहे जाते हैं—  
‘मुंशी सदासुखलाल, इंशा अल्ला खाँ, लल्लूलाल, और सदल मिश्र। ये

## —ब्रजभाषा

गद्य लिखने की परिपाटी का सम्यक् प्रचार न होने के कारण ब्रजभाषा गद्य जहाँ का तहाँ रह गया। वैष्णववार्ताओं में उसका जैसा परिष्कृत और सुव्यवस्थित रूप दिखाई पड़ा वैसा फिर आगे चलकर नहीं।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ०, ३७३

## —हिन्दी

अब तक पाई गई पुस्तकों में ‘योगवाशिष्ठ’ ही सबसे पुराना है जिसमें गद्य अपने परिष्कृत रूप में दिखाई पड़ता है। अतः जब तक और कोई पुस्तक इससे पुरानी न मिले तब तक इसी को परिमार्जित गद्य की प्रथम पुस्तक और रामप्रसाद निरंजनी को प्रथम प्रौढ़ गद्य लेखक मान सकते हैं।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ०, ३७७

काव्य की टीकाओं आदि में जो थोड़ा बहुत गद्य देखने में आता था वह बहुत ही अव्यवस्थित और अशक्त था। उसमें अर्थों और भावों को संबद्ध रूप में प्रकाशित करने तक की शक्ति न थी।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ०, ३७३

राजा लक्ष्मणसिंह के समय में ही हिन्दी गद्य की भाषा अपने भावी रूप का आभास दे चुकी थी। अब आवश्यकता ऐसे शक्तिसंपन्न लेखकों की थी जो अपनी प्रतिभा और उद्भावना के बल से उसे सुव्यवस्थित और परिमार्जित करते और उसमें ऐसे साहित्य का विद्यान करते जो शिक्षित जनता की रुचि के अनुकूल होता। ठीक इसी परिस्थिति में भारतेन्दु का उदय हुआ।

—‘गद्य-साहित्य का आविर्भाव’, हिं० सा० इ०, ४११

संवत् १८६० के लगभग हिन्दी गद्य का प्रवर्तन तो हुआ पर उसके साहित्य की अखंड परंपरा उस समय से नहीं चली।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ०, ३८७

हिन्दी गद्य के प्रसार में ईसाइयों का बहुत-कुछ योग रहा। शिक्षा संबंधिनी पुस्तकों तो पहलेपहल उन्हींने तैयार की। इन बातों के लिए हिन्दी प्रेमी उनके सदा कृतज्ञ रहे।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४०५

हिन्दी-गद्य-साहित्य का सूक्ष्मपात करने वाले चार महानुभाव कहे जाते हैं—  
‘मुंशी सदासुखलाल, इंशा अल्ला खाँ, लल्लूलाल, और सदल मिश्र। ये

चारो संवत् १८६० के आस-पास वर्तमान थे ।

—‘भारतेन्दु हरिश्चन्द्र’, चिन्ता०-१, १८७,  
(दै०, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ३६३)।

### गोपालराम गहमरी

उनके लेखों और निबंधों की भाषा बड़ी चंचल, चटपटी, प्रगल्भ और मनोरंजक होती थी। विलक्षण रूप खड़ा करना उनके निबंधों की विशेषता है।

—‘गद्य-साहित्य का प्रसार’, हिं० सा० इ०, ४७२

### ग्लानि

अपनी बुराई, मूर्खता, तुच्छता इत्यादि का एकान्त अनुभव करने से वृत्तियों में जो शैथिल्य आता है, उसे ग्लानि कहते हैं। इसे अधिकतर उन लोगों को भोगना पड़ता है जिनका अन्तःकरण सत्त्व-प्रधान होता है, जिनके संस्कार सात्त्विक होते हैं, जिनके भाव कोमल और उदार होते हैं।

—‘लज्जा और ग्लानि’, चिन्ता०-१, ५८-

ग्लानि अन्तःकरण की शुद्धि का एक विधान है। इससे उसके उद्गार में अपने दोष, अपराध, तुच्छता, बुराई इत्यादि का लोग दुख से या सुख से कथन भी करते हैं—उसमे दुराव या छिपाव की प्रवृत्ति नहीं रहती।

—‘लज्जा और ग्लानि’, चिन्ता०-१, ५८

### गार्सी द तासी

यह फ़रासीसी हिन्दी से इतना चिढ़ने लगा था कि उसके मूल पर ही उसने कुठार चलाना चाहा और बीम्स साहब (M. Beames) का हवाला देते हुए कहा कि हिन्दी तो एक पुरानी भाषा थी, जो संस्कृत से बहुत पहले प्रचलित थी, आर्यों ने आकर उसका नाश किया, और जो बचे-खुचे शब्द रह गए, उनकी व्युत्पत्ति भी संस्कृत से सिद्ध करने का रास्ता निकाला। इसी प्रकार, जब जहाँ कहीं हिन्दी का नाम लिया जाता, तब तासी बड़े बुरे ढंग से, विरोध में कुछ न कुछ इसी तरह की बाते कहता।

—‘गद्य-साहित्य का आविर्भाव’, हिं० सा० इ०, ४०७-

### गोरखनाथ

गोरखनाथ की हठयोग-साधना ईश्वरवाद को लेकर चली थी, अतः उसमें-

मुसलमानों के लिए भी आकर्षण था। ईश्वर से मिलानेवाला योग हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों के लिए एक सामान्य साधना के रूप में आगे रखा जा सकता है, यह बात गोरखनाथ को दिखाई पड़ी थी।

— अपन्ना काव्य', हिं० सा० ३०, १५.

## ॥ ८ ॥

### घनग्रानंद

इनकी सी विशुद्ध, सरस, और शक्तिशालिनी ब्रजभाषा लिखने में और कोई कवि समर्थ नहीं हुआ। विशुद्धता के साथ प्रौढ़ता और माधुर्य भी अपूर्व ही है। विप्रलंभ शृंगार ही अधिकतर इन्होंने लिखा है। ये वियोग शृंगार के प्रधान मुक्तक कवि हैं। 'प्रेम की पीर' ही लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ।

— 'रीतिकाल के अन्य कवि', हिं० सा० ३०, ३१०

प्रेमदशा की व्यंजना इनका अपना क्षेत्र है। प्रेम की गूढ़ अन्तर्दशा का उद्घाटन जैसा इनमें है वैसा हिन्दी के अन्य शृंगारी कवि में नहीं।

— 'रीतिकाल के अन्य कवि', हिं० सा० ३०, ३११।

### घृणा

घृणा और भय की प्रवृत्ति एक-सी है। दोनों अपने विषयों से दूर होने की प्रेरणा करते हैं। परन्तु भय का विषय भावी हानि का अत्यन्त निश्चय करनेवाला होता है और घृणा का विषय उसी क्षण इन्द्रिय या मन के व्यापारों में संकोच उत्पन्न करने वाला।

— 'घृणा', चिन्ता०-१, १०५।

घृणा का भाव शांत है। उसमें क्रियोत्पादिनी शक्ति नहीं है। घृणा निवृत्ति का मार्ग दिखलाती है और क्रोध प्रवृत्ति का।... घृणा विषय से दूर ले जाने वाली है और क्रोध हानि पहुँचाने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर विषय के पास ले जाने वाला।

— 'घृणा', चिन्ता०-१, ६६।

वैर का आधार व्यक्तिगत होता है, घृणा का सार्वजनिक।

— 'घृणा', चिन्ता०-१, ६६।

सृष्टि-विस्तार से अभ्यस्त होने पर प्राणियों को कुछ विषय रुचिकर और कुछ अरुचिकर प्रतीत होने लगते हैं। इन अरुचिकर विषयों के उपस्थित-

होने पर अपने ज्ञान-पक्ष से उन्हें दूर रखने की प्रेरणा करनेवाला जो दुःख होता है उसे धृणा कहते हैं।

—‘धृणा’, चिन्ता०-१, ६७

॥ च ॥

### चंद बरदाई

‘चंद बरदाई’ नाम का यदि कोई कवि था, तो वह या तो पृथ्वीराज की सभा में न रहा होगा या जयानक के काश्मीर लौट जाने पर आया होगा। अधिक संभव यह जान पड़ता है कि पृथ्वीराज के पुत्र गोविन्दराज या उनके भाई हरिराज अथवा इन दोनों में से किसी के वंशज के यहाँ चंद नाम का कोई भट्ट कवि रहा हो, जिसने उनके पूर्वज पृथ्वीराज की वीरता आदि के वर्णन में कुछ रचना की हो।

—‘देशभाषा काव्य’, हिं० सा० ३०, ४१

### चन्द्रधर शर्मा गुलेरी

यह बेघड़क कहा जा सकता है कि शैली की जो विशिष्टता<sup>१</sup> और अर्थ-गम्भित वक्ता गुलेरी जी में मिलती है, वह और किसी लेखक में नहीं। इनके स्मित हास की सामग्री ज्ञान के विविध क्षेत्रों से ली गई है।

—‘गच्छ-साहित्य का प्रसार’, हिं० सा० ३०, ४७७

### चमत्कार

‘आनन्द’ शब्द ने जिस प्रकार काव्य की नीयत को बदनाम किया है, उसी प्रकार ‘चमत्कार’ शब्द ने उसके रूप को बहुत-कुछ बिगाड़ा है।

—‘काव्य का लक्ष्य’, २० भी०, १०१

### चरित्र-चित्रण

अपने समय में उठी हुई किसी खास हवा की झोंक में प्राचीन आर्थ काव्यों के पूर्णतया निर्दिष्ट स्वरूपवाले आदर्श पात्रों को एकदम कोई नया मन-मान रूप देना भारती के पवित्र मंदिर में व्यर्थ गडबड़ मचाना है।

—‘काव्य में लोकमंगल की साधनावस्था’, चिन्ता०-१, २२०

चौरासी वैष्णवों की वार्ता

रंग-ढंग से यह 'वार्ता' गोकुलनाथ जी के पीछे, उनके किसी गुजराती शिष्य की रचना जान पड़ती है।

—'जीवन-चृत', सूर०, ११०

॥ ४ ॥

### छन्द

छन्द के बन्धन के सर्वथा त्याग से हमें तो अनुभूत नाद-सौन्दर्य की प्रेषणीयता (Communicability of sound impulse) का प्रत्यक्ष हास दिखाई पड़ता है। हाँ, नये-नये छन्दों के विधान को हम अवश्य अच्छा समझते हैं।

—'काव्य मेर रहस्यवाद', चिन्ता५-२, १४५

छन्द वास्तव मेर बैधी हुई लय के भीतर भिन्न-भिन्न ढाँचों (patterns) का योग है जो निर्दिष्ट लम्बाई का होता है। लय स्वर के चढ़ाव-उतार के छोटे-छोटे ढाँचे ही हैं जो किसी छन्द के चरण के भीतर न्यस्त रहते हैं।

—'काव्य मेर रहस्यवाद', चिन्ता०-२, १४५

### छायावाद

ऐसे एक भाव पर झूठे-झूठे सैकड़ों ही

स्वांग 'ओह-आह' के निछावर हैं नर के।

सारा विश्व जिसका चलाया हुआ चलता है

वह भाव-धारा ढूँढ़ आँखें खोल करके।

आदिम ज्वलत अनुराग कभी नाचता था

रूप बाँध-बाँध नई-नई गति भर के।

रूप और भाव की अभिन्नता मिलेगी वह

सृष्टि के प्रसार से; न मध्य घट-घर के।

—'हृदय का मञ्च भार', मधु०, ३६

कहाँ का अध्यात्म ? अरे ! कैसी ब्रह्मलिप्सा यह—

वासना का लंबा-चौड़ा रूप विकराल अति;

देह के मलों का यह सागर अपार !

काय वृत्तियों का ज्ञानावात, झूठ की प्रचंड गति !

‘अये’ ‘अये भंडता की कैसी है पुकार यह !  
 जड़ता से जड़ी हुई कैसी यह मोटी मति !  
 अंधाधुंध कैसी ! यह भोड़ियाधसान कैसी !  
 नकल-नवीसी कैसी ! कितनी अज्ञान-रति !

—‘पाखण्ड प्रतिषेध’, मध्य०, ८७

‘चित्रभाषा’ या अभिव्यञ्जन पद्धति पर ही जब लक्ष्य टिक गया तब उसके प्रदर्शन के लिये लौकिक या अलौकिक प्रेम का क्षेत्र ही काफी समझा गया । इस बैंधे हुये क्षेत्र के भीतर चलनेवाले काव्य ने ‘छायावाद’ का नाम ग्रहण किया ।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ६१५

छायावाद का चलन द्विवेदी काल की रूखी इत्तिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था । अतः इस प्रतिक्रिया का प्रदर्शन केवल लक्षण और अन्योक्ति के प्राचुर्य के रूप में ही नहीं, कही-कही उपमा और उत्प्रेक्षा की भरमार के रूप में भी हुआ ।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ६१६-६१७

छायावाद का सामान्यतः अर्थ हुआ, प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यञ्जना करनेवाली छाया के रूप में अप्रस्तुत का कथन । इस शैली के भीतर किसी वस्तु या विषय का वर्णन किया जा सकता है ।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ६१६

छायावाद की प्रवृत्ति अधिकतर प्रेमगीतात्मक होने के कारण हमारा वर्तमान काव्य प्रसंगों की अनेकरूपता के साथ नई-नई अर्थभूमियों पर कुछ दिनों तक बहुत कम चल पाया । कुछ कवियों में वस्तु का आधार अत्यंत अल्प रहता रहा है; विशेष लक्ष्य अभिव्यञ्जना के अनूठे विस्तार पर रहा है ।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ६२३

छायावाद की रचनाएँ गीतों के रूप में ही अधिकतर होती हैं । इससे उनमें अन्विति कम दिखाई पड़ती है । जहाँ यह अन्विति होती है वहाँ समूची रचना अन्योक्ति पद्धति पर की जाती है ।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ६१६

छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्यशैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें संदेह नहीं । इसमें भावावेश की आकुल व्यञ्जना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध चमत्कार,

कोमल पद विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप सघटित करनेवाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी ।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ६०३

छायावाद जहाँ आध्यात्मिक प्रेम लेकर चला है वहाँ तक तो रहस्यवाद के ही अन्तर्गत रहा है । उसके आगे प्रतीकवाद या चिन्माणवाद (Symbolism) नाम की काव्यशैली के रूप में गृहीत होकर भी वह अधिकतर प्रेम गान ही करता रहा है ।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ६०४

छायावाद जिस आकंक्षा का परिणाम था उसका लक्ष्य केवल अभिव्यञ्जना की रोचक प्रणाली का विकास था जो धीरे-धीरे अपने स्वतन्त्र ढरे पर श्री मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पांडेय आदि के द्वारा हो रहा था ।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ५६६

‘छायावाद’ नाम चल पड़ने का परिणाम यह हुआ कि बहुत से कवि रहस्यात्मकता, अभिव्यञ्जना के लाक्षणिक वैचित्र्य, वस्तु-विन्यास की विश्रृंखलता, चिन्मयी भाषा और मधुमयी कल्पना को ही साध्य मानकर चले ।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ५६६

छायावाद बड़ी सहदयता के साथ प्रभाव साम्य पर ही विशेष लक्ष्य रख कर चला है । कहीं-कहीं तो बाहरी साकृत्य या साधार्म्य अत्यन्त अल्प या न रहने पर भी आम्यंतर प्रभाव साम्य लेकर ही अप्रस्तुतों का सन्निवेश कर दिया जाता है ।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ६१७

‘छायावाद’ शब्द का प्रयोग दो अर्थों में समझना चाहिए । एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका संबंध काव्यवस्तु से होता है...‘छायावाद’ शब्द का दूसरा प्रयोग काव्यशैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में है ।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ६१५

जो छायावाद नाम प्रचलित है वह वेदान्त के पुराने ‘प्रतिबिबाद’ का है ।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, विन्ता०-२, १५१

धर्म-कर्म व्यवहार, राष्ट्रनीति के प्रचार,  
सबमें पाषड देख इतने न हारे हम ।  
काव्य की पुनीत भूमि बीच भी प्रवेश कितु  
उसका विलोक रहे कैसे धीर धारे हम ?

सच्चे भाव मन के न कवि भी कहेंगे यदि,  
कहाँ फिर जायेंगे असत्यता के मारे हम ?  
खलेगा 'प्रकाशवाद' जिनको हमारा यह  
कहेंगे कुवाद वे जो लेंगे सह सारे हम ।

—‘हृदय का मधुर भार’, मधु०, ३७

नर भव शक्ति की अनंतरूपता है बिछी  
तुझे अंधकूपता से बाहर बढ़ाने को ।  
चारो ओर फैले महामानस की ओर देख  
गर्त में न गड़ा-गड़ा हंस ! कुछ पाने को ।  
निज क्षुद्र छाया के यों पीछे दौड़ मारने से  
सच्चा भाव विश्व का न एक हाथ आने को ।  
रूप जो अभास तुझे सत्य-सत्य देंगे, बस  
उन्ही को समर्थ जान अंतस् जगाने को ।

—‘हृदय का मधुर भार’, मधु०, ३५

पूरब मे शुद्ध रूप था यह यहाँ, वहाँ  
पच्छिम मे पहुँचा पखंड के प्रमाद तक,  
अंगल की भूमि बीच ब्लेक ने जो ढोंग रचा,  
देखते हैं आज यहाँ उसी की है चढ़ी झक ।  
जूठा औ पुराना यह पच्छिमी पखंड लेके,  
होती है नवीनता की डोंग भरी बक-बक,  
योरप के किसी-किसी कोने मे रहे तो रहे,  
रोकना है किन्तु यहाँ इसे आज भरसक ॥

—‘पाखंड प्रतिषेध’, मधु०, ८५-८६

प्रकृति के शुद्ध रूप देखने की आँखें नहीं  
जिन्हें वे ही भीतरी रहस्य समझाते हैं ।  
झूठे-झूठे भावों के आरोप से आच्छन्न उसे  
करके पाषांड-कला अपनी दिखाते हैं ।  
अपने कलेवर की मैली औ कुचली वृत्ति  
छोप के निराली छटा उसकी छिपाते हैं ।  
अशु, श्वास, ज्वर, ज्वाला, नीरव रुदन, नृत्य  
देख अपना ही तंत्री-तार वे बजाते हैं ।

—‘हृदय का मधुर भार’, मधु०, ३५

भाषा है, न भाव है, न भूति भाँपने को आँख,  
शिक्षा की सुभिक्षा भी न पाई कभी एक कन;

गाँथते हैं गर्व-भरी गुरु ज्ञान-गूदड़ी वे  
 चुने हुए चीथड़ों से, किए ब्रह्मा-लीन मन।  
 कहीं बंग-भंग-पद चकती चमक रही,  
 कहीं अँगरेजी अनुवाद का अनाडीपन;  
 ऐसे सिंदू साँझों की माँग मतवालों में है  
 काव्य में न झूठे स्वाँग खीचते कभी हैं मन।

—‘पाखड़-प्रतिषेध’, मध्य०, ८६

भौतिक उन्माद-ग्रस्त योरप पड़ा है जहाँ  
 वहाँ तेरे चोचले ये मन बहलावेगे।  
 आज अति श्रम से शिथिल जो विराम हेतु  
 आकुल है उसको ये टोटके सुलावेगे।  
 हम अब उठना है चाहते जगत्-बीच;  
 भारत की भारती की शक्ति को जगावेगे।  
 दंडक ये दंड के प्रहार से लगेगे तुझे,  
 भाग-भाग भंडता ! न तुझको टिकावेगे।

—‘हृदय का मधुर भार’, मध्य०, ३६-३७

यह स्वच्छंद नूतन पद्धति अपना रास्ता निकाल ही रही थी कि श्री रवीन्द्र-  
 नाथ की रहस्यात्मक कविताओं की धूम हुई, और कई कवि एक साथ  
 ‘रहस्यवाद’ और ‘प्रतीकवाद’ या ‘चित्रभाषावाद’ को ही एकांत द्व्येय  
 बनाकर चल पड़े।

—‘नई धारा’, हिं० साँ० इ०, ६१४

लालसा अज्ञात की बताके ढोंग रचते जो  
 शब्दों का झूठमूठ, अब हों वे सावधान।  
 आवे लोक लोचन समक्ष देखें एक बार  
 अपनी यह कलाहीन कोरी शब्द की उडान;

—‘पाखड़-प्रतिषेध’, मध्य०, ८६

॥ ज ॥

### जगन्नाथदास ‘रत्नाकर’

ब्रजभाषा की पुरानी परिपाटी के कवियों में स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदास का स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है।... पुराने कवियों में भी इनकी सी सूझ और उकितवैचित्र्य बहुत कम देखा जाता है। भाषा भी

आचार्य शुश्ल विचार-कोश :: ८४

पुराने कवियों की भाषा से चुस्त और गठी हुई होती थी। ये साहित्य तथा ब्रजभाषा काव्य के बहुत बड़े मर्मज्ञ माने जाते थे।

—‘आष्टुनिक काल, काव्यबड़, पुरानी धारा’, हि० सा० इ०, ५३७

### जयशंकर प्रसाद

इनकी रहस्यवादी रचनाओं को देख चाहे तो यह कहे कि इनकी मधुचर्या के मानस प्रसार के लिए रहस्यवाद का परदा मिल गया अथवा यो कहे कि इनकी सारी प्रणयानुभूति ससीम पर से कूदकर असीम पर जा रही।

—‘नई धारा’, हि० सा० इ०, ६२६

किसी एक विशाल भावना को रूप देने की ओर भी अंत मे प्रसाद जी ने ध्यान दिया, जिसका परिणाम है ‘कामायनी’। इसमे उन्होने अपने प्रिय ‘आनंदवाद’ की प्रतिष्ठा दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ कल्पना की मधुमती भूमिका बनाकर की है।

—‘नई धारा’, हि० सा० इ०, ६३१

जीवन के प्रेमविलासमय मधुर पक्ष की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण वे ‘उस प्रियतम’ के सयोग वियोगवाली रहस्य-भावना मे—जिसे स्वाभाविक रहस्य-भावना से अलग समझना चाहिए—रमते-प्रायः पाए जाते हैं।

—‘नई धारा’, हि० सा० इ०, ६२६

प्रसाद जी प्रबध क्षेत्र मे भी छायावाद की चित्र-प्रधान और लाक्षणिक शैली की सफलता की आशा बँधा गए हैं।

—‘नई धारा’, हि० सा० इ०, ६४१

### जायसी, मलिक मुहम्मद

कवीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्षसत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। वह जायसी द्वारा पूरी हुई।

—‘मलिक मुहम्मद जायसी’, जा० ग्र०, २

चरितकाव्य मे अवधी भाषा को ही सफलता हुई और अवधी भाषा के सर्वश्रेष्ठ रत्न हैं ‘रामचरितमानस’ और ‘पद्मावत’। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य मे हम जायसी के उच्च स्थान का अनुमान कर सकते हैं।

—‘संक्षिप्त समीक्षा’, जा० ग्र०, १६७

जायसी अनुमान या उहा के आधार के लिए ऐसी वस्तु सामने

लाए हैं जिसका स्वरूप प्राकृतिक है और जिससे सामान्यतः सब लोग परिचित होते हैं।

—‘वियोग-पञ्च’, जा० ग्र०, ३६

जायसी एकातिक प्रेम की गूढ़ता और गंभीरता के बीच-बीच में जीवन के और अंगों के साथ भी उस प्रेम के सम्पर्क का स्वरूप कुछ दिखाते गए हैं। इससे उनकी प्रेम-गाथा पारिवारिक और सामाजिक जीवन से विच्छिन्न होने से बच गई है। पर है वह प्रेम-गाथा ही, पूर्ण जीवन-गाथा नहीं।

—‘पद्मावत की प्रेम-पद्धति’, जा० ग्र०, २८

जायसी का आदर्श चित्रण एकदेशव्यापी है। तुलसीदास जी के समान किसी सर्वांगपूर्ण आदर्श की प्रतिष्ठा का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया है।

—‘स्वभाव-चित्रण’, जा० ग्र०, ११५

जायसी का क्षेत्र तुलसी की अपेक्षा परिमित है, पर प्रेम-वेदना उनकी अत्यन्त गूढ़ है।

—‘सक्षिप्त समीक्षा’, जा० ग्र०, १६८

जायसी की भाव-व्यंजना के सबंध में यह समझ रखना चाहिए कि उन्होंने जबरदस्ती विभाव, अनुभाव और संचारी ठूसकर पूर्ण रस की रस्म अदा करने की कोशिश नहीं की है। भाव का उत्कर्ष जितने से सध गया है उतने ही से उन्होंने प्रयोजन रखा है।

—‘पात्र द्वारा भाव-व्यंजना’, जा० ग्र०, ८६

जायसी के भाव अत्यन्त उदार थे। पर विधि विरोध, विद्वानों की निदा, अनधिकार चर्चा, समाज विवेष आदि इनकी उदारता के भीतर नहीं थे।

—‘मत और सिद्धान्त’, जा० ग्र०, १२६

जायसी के शृंगार में मानसिक पञ्च प्रधान है, शारीरिक गौण है।

—‘पद्मावत की प्रेम-पद्धति’, जा० ग्र०, २७

जायसी ने यद्यपि इश्क के दास्तानवाली मसनवियों के प्रेम के स्वरूप को प्रधान रखा है पर बीच-बीच में भारत के लोक-व्यवहार-सलग्न स्वरूप का भी मेल किया है।

—‘पद्मावत की प्रेम-पद्धति’, जा० ग्र०, २८

पात्र द्वारा जिन स्थायी भावों की प्रधानतः व्यंजना जायसी ने कराई है वे रति, शोक और युद्धोत्साह हैं।

—‘पात्र द्वारा भाव-व्यंजना’, जा० ग्र०, ८६

प्राकृतिक दृश्यो के साथ जायसी के हृदय का वैसा मेल नहीं जान पड़ता । मनुष्यों के शारीरिक सुख-दुःख से, उनके आराम और तकलीफ से उनका जहाँ तक संबंध होता है वही तक उनकी ओर ध्यान जाता है ।

—‘कवि द्वारा वस्तुवर्णन’, जा० ग्र०, ७७

वे प्रेम का वह शुद्ध रूप दिखाना चाहते हैं जो भगवत्प्रेम में परिणत हो सके । इसी से वे प्रेम की ओर भी दूरारूढ़ भावना करके रत्नसेन के मुँह से विवाद-शांति का तत्त्व भरा उपदेश दिलाते हैं ।

—‘प्रेम तत्त्व’, जा० ग्र०, ६५

हिन्दू हृदय और मुसलमान हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने-वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा ।

—‘मलिक मुहम्मद जायसी’, जा० ग्र०, २

### —का विरह-वर्णन

अपनी भावुकता का बड़ा भारी परिचय जायसी ने इस बात में दिया है कि रानी नागमती विरह दशा में अपना रानीपन बिल्कुल भूल जाती है और अपने को साधारण स्त्री के रूप में देखती है । इसी सामान्य स्वाभाविक वृत्ति के बल पर उसके विरह-वाक्य छोटे-बड़े सबके हृदय को समान रूप में स्पर्श करते हैं ।

—‘वियोग पक्ष’, जा० ग्र०, ४३

जायसी का विरह-वर्णन कही-कही अत्यन्त अस्युक्तिपूर्ण होने पर भी मजाक की हृद तक नहीं पहुँचने पाया है, उसमें गांभीर्य बना हुआ है । इनकी अस्युक्तियाँ बात की करामात नहीं जान पड़ती, हृदय की अत्यन्त तीव्र देवना के शब्द-संकेत प्रतीत होती है ।

—‘वियोग पक्ष’, जा० ग्र०, ३४

जायसी के विरहोद्गार अत्यन्त मर्मस्पर्शी है । जायसी को हम विप्रलंभ श्रृंगार का प्रधान कवि कह सकते हैं ।

—‘वियोग पक्ष’, जा० ग्र०, ४४

नाप-जोखवाली ऊहात्मक पद्धति का जायसी ने कुछ ही स्थानों पर प्रयोग किया है ।

—‘वियोग पक्ष’, जा० ग्र०, ३४

विरह-दशा के वर्णन में जहाँ कवि ने भारतीय पद्धति का अनुसरण किया है, वहाँ कोई अरुचिकारक वीभत्स दृश्य नहीं आया है ।

—‘वियोग पक्ष’, जा० ग्र०, ४०

## —का शिल्प

अर्थ के सादृश्य से ही लक्ष्यक्रम व्यंग्य जायसी मे मिलता है, श्लेष के सहारे पर नहीं।

—‘ईश्वरोन्मुख प्रेम’, जा० ग्र०, ५६

इन्होने जहाँ-जहाँ वस्तु-वर्णन किया है वहाँ-वहाँ भाषा कवियों की पृथक्-पृथक् वस्तुपरिणाम वाली शैली ही पर अधिकतर किया है।

—‘कवि द्वारा वस्तुवर्णन’, जा० ग्र०, ७५

जायसी का शिख नख वर्णन भी अधिकतर परंपरानुगत ही है। इससे अलंकारों की भरमार उसमे और जगहों से अधिक देखी जाती है।

—‘अलकार’, जा० ग्र०, १०२

जायसी के वर्णन अधिकतर परंपरानुगत ही है। इससे उनमें कवि-समय-सिद्ध उपमान ही अधिक मिलते हैं और इन परंपरानुगत उपमानों में कुछ अवश्य ऐसे हैं जो प्रसंग के अनुकूल भाव को पुष्ट करने मे सहायक नहीं होते।

—‘अलकार’, जा० ग्र०, १०१

जायसी के ये (षटऋतु, बारहमासा-सं०) वर्णन उद्दीपन की दृष्टि से हैं जिसमे वस्तुओं और व्यापारों की झलक मात्र—जो नामोल्लेख मात्र से भी मिल सकती है—काफी समझी जाती है। पर बहुत ही प्यारे शब्दों मे दिखाई हुई यह झलक है बहुत मनोहर।

—‘कवि द्वारा वस्तुवर्णन’, जा० ग्र०, ८३-८४

जायसी ने स्वतन्त्रता यह दिखाई कि परंपरा से व्यवहृत प्रसिद्ध उपमान न लेकर स्वकल्पित अप्रसिद्ध उपमान लिए हैं जिससे एक प्रकार की दुर्घटता आ गई है।

—‘अलकार’, जा० ग्र०, १०७

भगवत्पक्ष को प्रस्तुत मानने पर अप्रस्तुत की योजना दोनों दृष्टियों से की हुई मिलेगी—अगोचर बातों को स्वरूप देने की दृष्टि से भी और भावोत्तेजन की दृष्टि से भी।

—‘अलकार’, जा० ग्र०, ६८-६९

रौद्र रस का परिपाक जायसी मे नहीं है। वीर रस का वर्णन अच्छा है। हास्य रस का तो पद्मावत मे अभाव ही है।

—‘पात्र द्वारा भाव-व्यजना’, जा० ग्र०, ६६-६७

संभोग शृंगार में कवि परंपरा 'हावो' का विद्यान करती आई है।... जायसी ने 'हावो' का सन्निवेश एक प्रकार से नहीं के बराबर किया है।... 'हावो' की सम्यक् योजना न होने से जायसी के संयोग-पक्ष में वैसी सजीवता नहीं दिखाई देती।

—‘संभोग शृंगार’, जा० ग्र०, ४६

हेतूत्रेक्षा जायसी को बहुत प्रिय थी। इसके सहारे उन्होने अपनी कल्पना का विस्तार बहुत दूर तक बढ़ाया है—कही-कही तो सारी सृष्टि को अपने भाव के भीतर ले लिया है।

—‘अलकार’, जा० ग्र०, १०२

### —की उपासना

अद्वैत पक्ष मान्य होने पर भी जायसी ने अन्य पक्षों की भावना द्वारा उद्घाटित स्वरूपों का भी पूरे औत्सुक्य के साथ अवलोकन किया है। सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के विचारों का समावेश उनमें है।

—‘मत और सिद्धात’, जा० ग्र०, १४७

अद्वैती रहस्यवाद के अतिरिक्त जायसी कही-कही उस रहस्यवाद में भी आ फैसे हैं जो पाश्चात्यों की दृष्टि में ‘झूठा रहस्यवाद’ है। उन्होने स्थान-स्थान पर हठयोग, रसायन आदि का भी आश्रय लिया है।

—‘जायसी का रहस्यवाद’, जा० ग्र०, १५८

उनका प्रियतम संसार के परदे के भीतर छिपा हुआ है। वे उसे पूर्णतया ज्ञेय या प्रमेय नहीं मानते।

—‘मत और सिद्धात’, जा० ग्र०, १४७

उनके भगवत्प्रेमपूर्ण मानस में अहंकार के लिए कहीं जगह न थी। उनका औदार्य वह प्रच्छन्न औदृत्य न था जो किसी वर्ग को चिढ़ाने के काम में आ सके। उनकी वह उदारता थी जिससे कटूरपन को भी चोट नहीं पहुँच सकती थी।

—‘जायसी का जीवन-वृत्त’, जा० ग्र०, १०

क्या संयोग, क्या वियोग, दोनों में कवि प्रेम के उस आध्यात्मिक स्वरूप का आभास देने लगता है, जगत् के समस्त व्यापार जिसकी छाया से प्रतीत होते हैं।

—‘ईश्वरोन्मुख प्रेम’, जा० ग्र०, ५२

जायसी मुसलमान थे इससे उनकी उपासना निराकारोपासना ही कही

जायेगी। पर सूफी मत की ओर पूरी तरह झुकी होने के कारण उनकी उपासना में साकारोपासना की सी ही सहदयता थी।

—‘मत और सिद्धात’, जा० ग्र०, १२७

जायसी साधारण मुसलमान फकीरों के समान नहीं थे। वे सच्चे जिज्ञासु थे और हर एक मत के साधु-महात्माओं से मिलते-जुलते रहते थे और उनकी बाते सुना करते थे। सूफी तो वे थे ही।

—‘जायसी का जीवन-वृत्त’, जा० ग्र०, १०

मलिक मुहम्मद निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परंपरा में थे। इस परंपरा की दो शाखाएँ हुईं—एक मानिकपुर कालपी आदि की, दूसरी जायसी की।

—‘जायसी का जीवन-वृत्त’, जा० ग्र०, ८

विधि पर इनकी पूरी आस्था थी। ‘वेद’, ‘पुराण’ और ‘कुरान’ आदि को ये लोक-कल्याण-मार्ग प्रतिपादित करने वाले वचन मानते थे।

—‘मत और सिद्धात’, जा० ग्र०, १२६

हमारा अनुमान है कि उनके दीक्षा-गुरु तो थे सैयद अशरफ, पर पीछे से उन्होंने मुहीउद्दीन की भी सेवा करके उनसे बहुत-कुछ ज्ञानोपदेश और शिक्षा प्राप्त की।

—‘जायसी का जीवन-वृत्त’, जा० ग्र०, ६

हिन्दी के कवियों में यदि कही रमणीय और सुन्दर अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत ही ऊँची कोटि की है।

—‘जायसी का रहस्यवाद’, जा० ग्र०, १५४

### —की जानकारी

इतिहास का ज्ञान तो जायसी को जनसाधारण से बहुत अधिक था। इसका एक प्रमाण तो पद्मावत का प्रबन्ध ही है।

—‘जायसी की जानकारी’, जा० ग्र०, १७०

छन्द और रीति आदि के परिज्ञान के लिए भाषा-कविजन प्राकृत और अपभ्रंश का सहारा लेते थे। ऐसे ही किसी कवि से जायसी ने काव्य रीति सीखी होगी।

—‘जायसी की जानकारी’, जा० ग्र०, १६४

छन्दशास्त्र के ज्ञान का प्रमाण जायसी की रचनाओं से नहीं मिलता।

—‘जायसी की जानकारी’, जा० ग्र०, १६५

जायसी ने चित्तौड़ से सिंहल जाने का जो मार्ग बर्णन किया है वह यद्यपि

बहुत संक्षिप्त है पर उससे कवि की दक्षिण अर्थात् मध्य प्रदेश के स्थानों की जानकारी प्रकट होती है।

—‘जायसी की जानकारी’, जा० ग्र०, १७१

ज्योतिष का परिज्ञान जायसी का अच्छा प्रतीत होता है। रत्नसेन के सिंहलद्वीप से प्रस्थान करने के पहले उन्होंने जो यात्रा-विचार लिखा है वह बहुत विस्तृत भी है और ग्रन्थों के अनुकूल भी।

—‘जायसी की जानकारी’, जा० ग्र०, १७१

पद्मावत में ज्योतिष, हठयोग, कामशास्त्र और रसायन की बातें भी आई हैं। हमारी समझ में ज्योतिष को छोड़कर और बातों की जानकारी उन्हें सत्संग द्वारा प्राप्त हुई थी, न कि ग्रन्थों के अध्ययन द्वारा।

—‘जायसी की जानकारी’, जा० ग्र०, १६५

संस्कृत ज्ञान का अनुमान जायसी की रचना से... नहीं होता। उनका संस्कृत-शब्द-भंडार बहुत परिमित है।

—‘जायसी की जानकारी’, जा० ग्र०, १६४

सिंहलद्वीप, लंका आदि के नाम ही नाम जायसी के समय में याद रह गये थे। अतः जायसी को यदि सिंहल की ठीक-ठीक स्थिति का पता न हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

—‘जायसी की जानकारी’, जा० ग्र०, १६६-१६७

हिन्दुओं के पौराणिक वृत्तों की जानकारी जायसी को थी, पर बहुत पक्की न थी।... हिन्दू कथाओं का यदि उन्हें अच्छा परिचय होता तो वे चन्द्रमा को स्त्री कभी न बनाते।

—‘जायसी की जानकारी’, जा० ग्र०, १६६

### —की भाषा

कहावत और मुहाविरे भी कही-कही मिलते हैं, पर वे यों ही भाषा के प्रवाह में आए हुए हैं, काव्य-रचना के कोई आवश्यक अग समझकर नहीं बाँधे गए हैं।

—‘जायसी की भाषा’, जा० ग्र०, १८६

जायसी की भाषा ठेठ अवधी है और अवधी पूरबी हिन्दी के अंतर्गत है, इससे उसमें ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों से कई बातों में विभिन्नता है।

—‘जायसी की भाषा’, जा० ग्र०, १७५

जायसी की भाषा बोल-चाल की और सीधी-सादी है। समस्त पदों का व्यवहार उन्होंने बहुत ही कम किया है—जहाँ किया भी है वहाँ दो से अधिक पदों के समास का नहीं।

—‘जायसी की भाषा’, जा० ग्र०, १६२

जायसी की भाषा बहुत ही मधुर है, पर उसका माधुर्य निराला है। वह माधुर्य ‘भाषा’ का माधुर्य है, संस्कृत का माधुर्य नहीं। उसमें अवधी अपनी निज की स्वाभाविक मिठास लिए हुए हैं।

—‘जायसी की भाषा’, जा० ग्र०, १६३

जायसी की वाक्य-रचना स्वच्छ होने पर भी तुलसी के समान सुव्यवस्थित नहीं है। उसमें जो वाक्य-दोष मुख्यतः दिखाई पड़ता है वह ‘न्यूनपदत्व’ है।

—‘जायसी की भाषा’, जा० ग्र०, १६०

हिन्दी के अधिकाश कवियों पर शब्दों का अग भग करने का दोष लगाया जा सकता है, पर जायसी के चरण के अन्त में पड़नेवाले शब्द को दीर्घाति करने में जितना रूपान्तर होता है उतने से अधिक किसी शब्द का रूप नहीं बिगड़ा है।

—‘जायसी की भाषा’, जा० ग्र०, १६१

## जीवन

धन्य यह सुभूति विभूति हेतु धोर तप !  
आशा का मुखरवाद झोक भरी चढ़ी झक;  
पीने की क्षमता प्यास होके उतनी तो बढ़े  
जितनी से जाय तृप्ति लोक-सुख सीमा तक।  
सच्ची रोष ज्वाला यह ऐसी ध्वाँधार जगे,  
जड़ता के भीतर भी होने लगे धक-धक;  
रुखा-सूखा गगन हो जाय यह पानी-पानी,  
अंकुरित जीवन की छावे हरियाली चक ॥

—‘हृदय का मधुर भार’, मधु०, ४८

## ज्ञात-अज्ञात

सचमुच ही यदि प्रेम कही है,  
ज्ञात छोड़ वह कही नहीं है।  
'लगा किसी अज्ञात क्षेत्र मे' यह कहकर क्यों बात छिपाना।  
यही ज्ञात 'सत' का प्रकाश है, 'चित्' का भी है यही ठिकाना ॥

यही सधन आनंद घटा है।  
यही अजस्त्र अदभ्र छटा है।

—‘रूपमय हृदय’, मध्य०, ५६

ज्ञान (देव ‘भक्ति’ भी)

कल्पना में उठे हुए रूपों की प्रतीति (Perception) मात्र को ज्ञान कहना उसे ऊँचे दर्जे को पहुँचाना है।

—‘काव्य में अभिव्यजनावाद’, चिन्ता०-२, १८७-

ज्ञान की जिस चरम सीमा पर जाकर ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं, भाव की उस चरम सीमा पर जाकर आश्रय और आलंबन भी एक हो जाते हैं।

—‘तुलसी की भावुकता’, गो० दु०, ७६-

ज्ञान हमारी आत्मा के तटस्थ (Transcendent) स्वरूप का संकेत है; रागात्मक हृदय उसके व्यापक (Immanent) स्वरूप का। ज्ञान ब्रह्म है तो हृदय ईश्वर है।

—‘रसात्मक-बोध के विविध रूप’, चिन्ता०-१, २५४-५५

ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसार होता है।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, १८२;

‘कविता क्या है ?’, चिन्ता०-१, १५६-

शुद्ध ज्ञान या विवेक में कर्म की उत्तेजना नहीं होती। कर्म-प्रवृत्ति के लिए मन में कुछ वेग का आना आवश्यक है।

—‘कविता क्या है ?’, चिन्ता०-१, १५६.

हमारा ज्ञान भी अज्ञान सापेक्ष है। हमारी निर्गुण भावना भी सगुण भावना की अपेक्षा रखती है; ठीक उसी प्रकार जैसे प्रकाश की भावना अधिकार की भावना की अपेक्षा रखती है।

—‘ज्ञान और भक्ति’, गो० दु०, ५७.

—और भक्ति

कोरे ज्ञानी को भगवान के स्वरूप की—व्यक्त और सगुण स्वरूप की—कुछ जानकारी भर रहती है। पर भक्त को उसी कुछ जाने हुए या विज्ञानस्वरूप का साक्षात्कार और रसात्मक अनुभूति होती है।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, ३२-

ज्ञान पुरुष अर्थात् चैतन्य है और भक्ति सत्त्वस्थ प्रकृति स्वरूपा है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि ज्ञान बोधवृत्ति और भक्ति रागात्मिका वृत्ति है।

—‘ज्ञान और भक्ति’, गो० तु०, ५६

### —यज्ञ

ज्ञानयज्ञ का अभिप्राय बुद्धि और हृदय, बोधवृत्ति और रागात्मिका वृत्ति, दोनों को ब्रह्म या परमात्मा में लगाना है। …इसमें ज्ञान और कर्म दोनों का समन्वय है।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, १७-१८

### —स्वयंप्रकाश

स्वयंप्रकाश ज्ञान का अभिप्राय है मन में आप से आप—बिना बुद्धि की क्रिया या सोच-विचार के—उठी हुई मूर्त्ति भावना, जिसकी वास्तविकता अवास्तविकता का कोई सवाल नहीं।

—‘काव्य में अभिव्यञ्जनावाद’, चिन्ता०-२, १७१

॥ ३ ॥

### ठाकुर

ठाकुर बहुत ही सच्ची उमंग के कवि थे। इनमें कृतिमता का लेश नहीं। न तो कही व्यर्थ का शब्दाङ्कंबर है, न कल्पना की झूठी उडान और न अनुभूति के विरुद्ध भावों का उत्कर्ष।

—‘रीतिकाल के अन्य कवि’, हिं० सा० इ०, ३५२

### ठाकुर जगमोहनसिंह

प्राचीन संस्कृत साहित्य के अभ्यास और विद्याटवी के रमणीय प्रदेश में निवास के कारण विविध भावमयी प्रकृति के रूप-माधुर्य की जैसी सच्ची परख, जैसी अनुभूति, उनमें थी वैसी उस काल के किसी हिन्दी कवि या लेखक में नहीं पाई जाती।

—‘गद्य का प्रवर्तन’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४५३

भाव की प्रबलता से प्रेरित कल्पना के विप्लव और विक्षेप अंकित करने वाली एक प्रकार की प्रलाप शैली भी इन्होंने निकाली जिसमें रूप-विद्यान

का वैलक्षण्य प्रधान था, न कि शब्द-विधान का। क्या अच्छा होता यदि इस शैली का हिन्दी में स्वतन्त्र रूप से विकास होता।

—‘गद्य का प्रवर्तन’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०) ४५४

॥ ३ ॥

### डिंगल

अपन्नश के योग से शुद्ध राजस्थानी भाषा का जो साहित्यिक रूप था, वह ‘डिंगल’ कहलाता था।

—‘दीर्घायाकाल’, हिं० सा० इ०, ३५

॥ ८ ॥

### तुलसीदास

‘आत्म-न्लानि’ का जैसा पवित्र और सच्चा स्वरूप गोस्वामी जी ने दिखाया है, वैसा शायद ही किसी ने दिखाया हो।

—‘तुलसी की भावुकता’, गो० तु०, ८५

उन पर स्त्रियों की निंदा का महापातक लगाया जाता है; पर यह अपराध उन्होंने अपनी विरति की पुष्टि के लिए किया है। उसे उनका वैरागीपन समझना चाहिए। सब रूपों में स्त्रियों की निंदा उन्होंने नहीं की है।

—‘लोकनीति और मर्यादावाद’, गो० तु०, ४३

कवि लोग अपनी चतुराई दिखाने के लिए श्लेष, कूट, प्रहेलिका आदि लाया करते हैं, पर परम भावुक गोस्वामी जी ने ऐसा कही नहीं किया।

—‘अलंकार विद्यान्’, गो० तु०, १४१

गोस्वामी जी का पक्ष है कि यदि मनुष्य के छोटे से अन्तःकरण के भीतर ईश्वर दिखाई भी पड़े तो भी अखिल विश्व के बीच अपनी विभूतियों से भासित होनेवाला ईश्वर उससे कहीं पूर्ण और कल्याणकारी है।

—‘तुलसी की भक्ति-पद्धति’, गो० तु०, ७

गोस्वामी जी की प्रबन्ध-कुशलता विलक्षण है जिससे प्रकरण प्राप्त वस्तुएँ अलंकार सामग्री का काम भी देती चलती हैं। इससे होता यह है कि

अलंकारों में कृतिमता नहीं आने पाती ।

—‘अलंकार विद्यान्’, गो० तु०, १३५

गोस्वामी जी की रुचि काव्य के अतिरजित या प्रगीत स्वरूप की ओर नहीं थी ।

—‘तुलसी की काव्य-पद्धति’, गो० तु०, ६१

गोस्वामी जी की लेखनी से जो कही-कही प्राचीन कवियों के अनुरूप सशिलष्ट चित्रण हुआ है, वह उनके हृदय का स्वाभाविक विस्तार प्रकट करता है और उन्हें हिंदी के कवियों में सबसे ऊँचे ले जाता है ।

—‘बाह्य-दृश्य-चित्रण’, गो० तु०, १२३

गोस्वामी जी के प्रादुर्भाव को हिंदी-काव्य के क्षेत्र में एक चमत्कार समझना चाहिए । हिंदी काव्य की शक्ति का पूर्ण प्रसार इनकी रचनाओं में ही पहले पहल दिखाई पड़ा ।

—‘रामभक्ति-शाखा’, हि० सा० इ०, १२२

गोस्वामी जी के वाक्यों में कहीं शैथिल्य नहीं है, एक भी शब्द ऐसा नहीं है जो पाद-पूर्त्यर्थ रखा हुआ कहा जा सके ।

—‘भाषा पर अधिकार’, गो० तु०, १४६

गोस्वामी जी ने उत्तरापथ के समस्त हिंदू जीवन को राममय कर दिया । गोस्वामी जी के वचनों में हृदय को स्पर्श करने की जो शक्ति है, वह अन्यत्र दुर्लभ है ।

—‘तुलसी की भक्ति-पद्धति’, गो० तु०, ३

गोस्वामी जी पूरे लोकदर्शी थे । लोक-धर्म पर आधात करनेवाली जिन बातों का प्रचार उनके समय में दिखाई पड़ा उनकी सूक्ष्म दृष्टि उन पर पूर्ण रूप से पड़ी ।

—‘तुलसी की भक्ति-पद्धति’, गो० तु०, ६

जी न चाहते पर भी विवश होकर यह कहना पड़ता है कि गोस्वामी जी को छोड़ हिंदी के और किसी कवि भे वह प्रबंध-पटुता नहीं जो महाकाव्य की रचना के लिए आवश्यक है ।

—‘अलंकार विद्यान्’, गो० तु०, १३६

जो लोग भगवान् की लोकमगल-विभूति के दृष्टा तुलसी को कबीर, दादू आदि की श्रेणी में रखकर देखते हैं वे बड़ी भारी भूल करते हैं ।

—‘तुलसी का भक्ति-मार्ग’, चिन्ता०-१, २०२

तर्क और विवाद को भी गोस्वामी जी एक व्यसन समझते हैं । उसमें भी एक प्रकार का स्वाद या रस होता है ।

—‘ज्ञान और भक्ति’, गो० तु०, ५७

तुलसी की गंभीर वाणी शब्दों की कलाबाजी, उकितयों की झूठी तड़क-  
भड़क आदि खेलवाड़ों से भी नहीं उलझी है।

—‘तुलसी की काव्य-पद्धति’, गो० तु०, ६१

तुलसी की वाणी मनुष्य जीवन की प्रत्येक दशा तक पहुँचने वाली है;  
क्योंकि उसने रामचरित का आश्रय लिया है।

—‘हिंदी साहित्य में गोस्वामी जी का स्थान’, गो० तु०, १५२  
तुलसी के मानस से रामचरित की जो शील-शक्ति-सौन्दर्यमयी स्वच्छ  
धारा निकली, उसने जीवन की प्रत्येक स्थिति के भीतर पहुँचकर भगवान्  
के स्वरूप का प्रतिर्बिंब झलका दिया।

—‘तुलसी की भक्ति-पद्धति’, गो० तु०, ३

तुलसीदास का जन्मस्थान जो राजापुर प्रसिद्ध चला आता है, वही  
ठीक है।

—‘रामभक्ति-शाखा’, हिं० सा० इ०, १२१

तुलसीदास जी रामानंद-संप्रदाय की वैरागी परपरा में नहीं जान पड़ते।  
उक्त संप्रदाय के अंतर्गत जितनी शिष्य-परंपराएँ मानी जाती हैं उनमें  
तुलसीदास जी का नाम कहीं नहीं है।

—‘रामभक्ति-शाखा’, हिं० सा० इ०, १२२

‘दोहावली’ के समान ‘रामचरितमानस’ में भी गोस्वामी जी कवि के रूप  
में ही नहीं, धर्मोपदेष्टा और नीतिकार के रूप में भी हमारे सामने  
आते हैं।

—‘तुलसी की काव्य-पद्धति’, गो० तु०, ६३

दृश्यों को सामने रखने में गोस्वामी जी ने अत्यन्त परिमार्जित रुचि का  
परिचय दिया है। वे ऐसे दृश्य सामने नहीं लाए हैं जो भइ या कुरुचि-  
पूर्ण कहे जा सकें।

—‘बाह्य-दृश्य-चित्रण’, गो० तु०, १२७

द्वेष उन्हें दुष्कर्म से है, व्यक्ति से नहीं। भारी से भारी खल के सम्बन्ध में  
उनकी बुद्धि ऐसी नहीं हो सकती कि अवसर मिलता तो इसकी कुछ हानि  
करते।

—‘प्रकृति और स्वभाव’, गो० तु०, १४

यदि कोई पूछे कि जनता के हृदय पर सबसे अधिक विस्तृत अधिकार  
रखने वाला हिंदी का सबसे बड़ा कवि कौन है तो उसका एकमात्र यहीं  
उत्तर ठीक हो सकता है कि भारत-हृदय, भारती-कंठ, भक्त चूडामणि  
गोस्वामी तुलसीदास।

—‘हिंदी साहित्य में गोस्वामी जी का स्थान’, गो० तु०, ५३

सबसे अधिक चिढ़ उन्हें 'पाखंड' और 'अनधिकार चर्चा' से थी।

—‘प्रकृति और स्वभाव’, गो० तु०, १४

### —का आदर्श

गोस्वामी जी का समाज का आदर्श वही है जिसका निरूपण वेद, पुराण, स्मृति आदि में है; अर्थात् वर्णाश्रम की पूर्ण प्रतिष्ठा।

—‘लोक-नीति और मर्यादावाद’, गो० तु०, ३४

### —का जीवन

तुलसीदास जी ने भी अपना कुछ वृत्तान्त कही नहीं लिखा। अपने जीवनवृत्त का जो किंचित् आभास उन्होंने 'कवितावली' और 'विनय-पत्रिका' में दिया है वह केवल अपनी दीनता दिखाने के लिए।

—‘प्रकृति और स्वभाव’, गो० तु०, ११

### —का लोक-धर्म

लोक-मर्यादा का उल्लंघन, समाज की व्यवस्था का तिरस्कार, अनधिकार चर्चा, भक्ति और साधुता का मिथ्या दंभ, मूर्खता छिपाने के लिए वेद-शास्त्र की निंदा, ये सब बाते ऐसी थीं जिनसे गोस्वामी जी की अन्तरात्मा बहुत व्यथित हुई।

—‘लोक-धर्म’, गो० तु०, २१

### —का समन्वय

सामंजस्य का भाव लेकर गोस्वामी तुलसीदास जी की आत्मा ने उस समय भारतीय जन-समाज के बीच अपनी ज्योति जगाई जिस समय नये-नये सम्प्रदायों की खीचतान के कारण आर्य धर्म का व्यापक स्वरूप आँखों से ओझल हो रहा था, एकागदर्शिता बढ़ रही थी।

—‘लोक-धर्म’, गो० तु०, १६

### —का सामंजस्य

साधुमत का अनुसरण व्यक्तिगत साधन है, लोकमत लोकशासन के लिए है। इन दोनों का सामंजस्य गोस्वामी जी की धर्म भावना के भीतर है।

—‘लोक-नीति और मर्यादावाद’, गो० तु०, ४१

### —की काव्य-दृष्टि

गोस्वामी जी ने यद्यपि अपनी रचना 'स्वांतः सुखाय' बताई है, परं वे कला की कृति के अर्थ और प्रभाव की प्रेषणीयता (Communicability) को बहुत ही आवश्यक मानते थे ।

—‘तुलसी की काव्य-पद्धति’, गो० तु०, ६६-६७

### —की दीनता

सारी 'विनय-पत्रिका' का विषय यही है—राम की बड़ाई और तुलसी की छोटाई । दैन्य भाव जिस उत्कर्ष को गोस्वामी जी से पहुँचा है, उस उत्कर्ष को और किसी भक्त कवि मे नहीं ।

—‘तुलसी की भावुकता’, गो० तु०, ६८

### —की दृष्टि

गोस्वामी जी की दृष्टि वास्तविक जीवन दशाओं के मार्मिक पक्षों के उद्घाटन की ओर थी, काल्पनिक वैचित्रिय विद्यान की ओर नहीं ।

—‘तुलसी की काव्य-पद्धति’, गो० तु०, ६१

गोस्वामी जी को मनुष्य की अन्तःप्रकृति की जितनी परख थी उतनी हिंदी के और किसी कवि को नहीं । कैसे अवसर पर मनुष्य के हृदय में स्वभावतः कैसे भाव उठते हैं, इसकी वे बहुत सटीक कल्पना करते थे ।

—‘तुलसी की भावुकता’, गो० तु०, ६६

### —की भक्ति

गोस्वामी जी का स्वभाव अत्यंत सरल, शांत, गम्भीर और नम्र था । सदाचार की तो वे मूर्ति थे । धर्म और सदाचार को ढूँढ़न करने वाले भाव को—चाहे वह कितना ही ऊँचा हो—वे भक्ति नहीं मानते थे । उनकी भक्ति वह भक्ति नहीं है जिसे कोई लम्पटता या विलासिता का आवरण बना सके ।

—‘प्रकृति और स्वभाव’, गो० तु०, १५

गोस्वामी जी की राम-भक्ति वह दिव्य वृत्ति है जिससे जीवन में शक्ति, सरसता, प्रफुल्लता, पवित्रता सब-कुछ प्राप्त हो सकती है ।

—‘तुलसी का भक्ति-मार्ग’, चिन्ता०-१, २०१

गोस्वामी जी के भक्ति-क्षेत्र में शील, शक्ति और सौन्दर्य तीनों की प्रतिष्ठा होने के कारण मनुष्य की सम्पूर्ण भावात्मिका प्रकृति के परिष्कार और प्रसार के लिए मैदान पड़ा हुआ है ।

—‘तुलसी का भक्ति-मार्ग’, चिन्ता०-१, २००

गोस्वामी जी द्वारा प्रतिपादित रामभक्ति का वह भाव है जिसका संचार होते ही अंतःकरण बिना कष्ट के शुद्ध हो जाता है—सारा कलमष, सारी मलिनता आप से आप छूटने लगती है ।

—‘शील, साधना, और भक्ति’, गो० तु०, ५३

जिस भक्ति-पद्धति में लोक-धर्म की उपेक्षा हो, जिसके भीतर समाज के श्रद्धापात्रों के प्रति द्वेष छिपा हो, उसकी निंदा करने में भी उन्होंने संकोच नहीं किया है ।

—‘प्रकृति और स्वभाव’, गो० तु०, १३

तुलसीदास जी भक्तिमार्गी थे; अतः उनकी वाणी में भक्ति के गूढ़ रहस्यों को ढूँढ़ना ही अधिक फलदायक होगा, ज्ञानमार्ग के सिद्धान्तों को ढूँढ़ना नहीं ।

—‘ज्ञान और भक्ति’, गो० तु०, ५६

(तुलसी—सं०) ने वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, कुलाचार, वेद-विहित-कर्म, शास्त्र-प्रतिपादित ज्ञान इत्यादि सबके साथ भक्ति का पुनः सामंजस्य स्थापित करके आर्य-धर्म को छिन्न-भिन्न होने से बचाया ।

—‘लोक-धर्म’, गो० तु०, २०

भक्ति में बड़ी भारी शर्त है निष्कामता की । भक्ति के बदले में उत्तम गति मिलेगी, इस भावना को लेकर भक्ति हो ही नहीं सकती । भक्ति के लिए भक्ति का आनंद ही उसका फल है ।...तुलसी इसी प्रकार के भक्त थे ।

—‘तुलसी की भक्ति-पद्धति’, गो० तु०, ६

भक्ति-रस का पूर्ण परिपाक जैसा तुलसीदास जी में देखा जाता है वैसा अन्यत्र नहीं ।

—‘तुलसी का भक्ति-मार्ग’, चिन्ता०-१, २००

### —की भाषा

भाषा पर जैसा अधिकार गोस्वामी जी का था, वैसा और किसी हिंदी कवि का नहीं ।...‘अवघी’ और ‘ब्रज’ काव्य-भाषा की दोनों शाखाओं पर उनका समान और पूर्ण अधिकार था ।

—‘भाषा पर अधिकार’, गो० तु०, १४८

### —की समन्वय-भावना

गोस्वामी जी द्वारा प्रस्तुत नवरसों का रामरसायन ऐसा पुष्टिकर हुआ कि उसके सेवन से हिंदू जाति विदेशीय मतों के आक्रमणों से भी बहुत कुछ

रक्षित रही और अपने जातीय स्वरूप को भी दृढ़ता से पकड़े रही ।

—‘धर्म और जातीयता का समन्वय’, गो० तु०, ३५

गोस्वामी जी ने उपासना या भक्ति का केवल कर्म और ज्ञान के साथ ही सामंजस्य स्थापित नहीं किया, बल्कि भिन्न-भिन्न उपास्य देवों के कारण जो भ्रद दिखाई पड़ते थे, उनका भी एक मे पर्यवसान किया ।

—‘लोक-धर्म’, गो० तु०, २४

भक्ति और प्रेम के पुटपाक द्वारा धर्म को रागात्मिका वृत्ति के साथ सम्मिश्रित करके बाबा जी ने एक ऐसा रसायन तैयार किया जिसके सेवन से धर्म-मार्ग में कष्ट और श्रांति न जान पड़े, आनंद और उत्साह के साथ लोग आप-से-आप उसकी ओर प्रवृत्त हों, धरपकड़ और जबरदस्ती से नहीं ।

—‘लोक-धर्म’, गो० तु०, ३०

### —के आराध्य

भगवान् का जो प्रतीक तुलसीदास जी ने लोक के समुख रखा है, भक्ति का जो प्रकृत आलंबन उन्होंने खड़ा किया है, उसमें सौन्दर्य, शक्ति और शील तीनों विभूतियों की पराकाष्ठा है ।

—‘शील-नाईना और भक्ति’, गो० तु०, ४७

### —के राम

गोस्वामी जी को रामचरित की ओर सब प्रकार के लोगों को आकर्षित करना था; जो जिस रुचि से आकर्षित हो, उसी से सही ।

—‘अलकार विद्वान्’, गो० तु०, १४४

गोस्वामी जी ने राम के अलौकिक सौन्दर्य का दर्शन कराने के साथ ही उनकी अलौकिक शक्ति का भी साक्षात्कार कराया है ।

—‘शील-नाईना और भक्ति’, गो० तु०, ४६

गोस्वामी जी मनुष्य जीवन की बहुत अधिक परिस्थितियों का जो सन्तुलन कर सके, वह रामचरित की विशेषता के कारण ।

—‘तुलसी की भावुकता’, गो० तु०, ७५

तुलसी के राम स्वेच्छाचारी शासक नहीं; वे लोक के वशीभूत हैं क्योंकि लोक भी वास्तव में उन्हीं का व्यक्त विस्तार है ।

—‘लोक-नीति और मर्मदावाद’, गो० तु०, ४२

तुलसी को राम का लोकरंजक रूप वैसा ही प्रिय लगता है जैसा चातक को मेघ का लोक-सुखदायी रूप ।

—‘तुलसी की भक्ति-पद्धति’, गो० तु०, १०; २०६

राम की लीला के भीतर वे जगत् के सारे व्यवहार और जगत् के सारे व्यवहारों के भीतर राम की लीला देखते थे । पारमार्थिक दृष्टि से तो सारा जगत् राममय है, पर व्यावहारिक दृष्टि से उसके राम और रावण दो पक्ष हैं ।

—‘लोक-धर्म’, गो० तु०, २४

राम के शील के अंतर्गत ‘शरणागत की रक्षा’ को गोस्वामी जी ने बहुत प्रश्नान्तरा दी है । यह वह गुण है जिसे देख पापी से पापी भी अपने उद्धार की आशा कर सकता है ।

—‘शील-साधना और भक्ति’, गो० तु०, ५३

शील के असामान्य उत्कर्ष को प्रेम और भक्ति का आलंबन स्थिर कर उन्होंने सदाचार और भक्ति को अन्योन्याश्रित करके दिखा दिया । उन्होंने राम के शील का ऐसा विशद और मर्मस्पर्शी चित्रण किया कि मनुष्य का हृदय उसकी ओर आप-से-आप आकर्षित हो ।

—‘शील-साधना और भक्ति’, गो० तु०, ५६

### —, रामराज्य

गोस्वामी जी कहते हैं ‘राज्य’, ‘मुराज्य’, ‘रामराज्य’ । यह धर्मराज्य है—इसका प्रभाव जीवन के छोटे-बड़े सब व्यापारों तक पहुँचने वाला है, समस्त मानवी प्रकृति का रंजन करने वाला है ।

—‘लोकनीति और मर्यादावाद’, गो० तु०, ५५

### —, लोकमर्यादा

दाम्पत्य प्रेम का दृश्य भी गोस्वामी जी ने बहुत ही सुन्दर दिखाया है, पर बड़ी ही मर्यादा के साथ । नायिकाभेद वाले कवियों का-सा या कृष्ण की रासलीला के रसिकों का-सा लोकमर्यादा का उल्लंघन उसमें कहीं नहीं है ।

—‘तुलसी की भावृक्ता’, गो० तु०, ७१

### —, सामग्री-स्रोत

तुलसीदास जी ने बाल्मीकि रामायण, अथ्यात्म रामायण, महारामायण,

श्रीमद्भागवत्, हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव नाटक इत्यादि अनेक ग्रन्थों से  
रचना की सामग्री ली है।

—‘तुलसी की काव्य-पद्धति’, गो० तु०, ६६

॥ द ॥

### दर्शन और काव्य

परमार्थ की दृष्टि से दर्शन और काव्य दोनों अन्तःकरण की भिन्न-भिन्न  
प्रवृत्तियों का आश्रय लेकर एक ही लक्ष्य की ओर ले जाने वाले हैं।

—‘विभाव’, २० भी०, ११६

### दान

सच्चा दान दो प्रकार का होता है—एक वह जो श्रद्धा-वश दिया जाता है,  
दूसरा वह जो दया-वश दिया जाता है।

—‘श्रद्धा-भक्ति’, चिन्ता०-१, ३१

### देव

कवित्व-शक्ति और मौलिकता देव में खूब थी पर उनके सम्यक् स्फुरण  
में उनकी रुचि-विशेष प्रायः बाधक हुई है।

—‘रीति-ग्रथकार कवि’, हिं० सा० इ०, २४६

### देवकीनंदन खत्री

पहले मौलिक उपन्यास लेखक, जिनके उपन्यासों की सर्वसाधारण में धूम  
हुई, काशी के बाबू देवकीनंदन खत्री थे।

—‘धर्म-साहित्य का प्रसार’, हिं० सा० इ०, ४५८

### देश-प्रेम

इस प्रेम का आलंबन क्या है ? सारा देश अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, नदी,  
नाले, वन, पर्वत-सहित सारी भूमि । यह साहृच्यंगत प्रेम है।

—‘विभाव’, २० भी०, १५१

## दृश्य-चित्रण

दृश्य-चित्रण में केवल अर्थ ग्रहण करना नहीं होता, बिंब ग्रहण करना भी होता है।

—‘बाह्य-दृश्य चित्रण’, गो० तु०, १२०

## ॥ ८ ॥

धर्म-

धर्म का कोई ऐसा सामान्य लक्षण नहीं बताया जा सकता जो सर्वत्र और सब काल में—मनुष्य जाति की जबसे उत्पत्ति हुई तब से अब तक बराबर मान्य रहा हो। समाज की ज्योज्यो वृद्धि होती गई, त्यो-त्यों धर्म की भावना में भी देश-कालानुसार फेरफार होता गया।

—वि० प्र०, ६४

धर्म का भाव, कर्म, ज्ञान और भवित, इन तीनों धाराओं में चलता है। इन तीनों के सामंजस्य से धर्म अपनी सजीव दशा में रहता है। किसी एक के भी अभाव से वह विकलाग रहता है।

—‘भवित्काल, सामान्य परिचय’, हिं० सा० इ०, ५६

धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है।  
…पूर्णधर्म अंगी है और शेष धर्म अग।

—‘मानस’ की धर्म-भूमि’, चिन्ता०-१, २०८

धर्म की ऊँची-नीची कई भूमियाँ लक्षित होती हैं—जैसे—गृहधर्म, कुलधर्म, समाजधर्म, लोकधर्म और विश्वधर्म या पूर्णधर्म।

—‘मानस’ की धर्म-भूमि’, चिन्ता०-१, २०७

धर्म है ब्रह्म के सत्त्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति जिसकी असीमता का आभास अखिल-विश्व-स्थिति में मिलता है।

—‘मानस’ की धर्म-भूमि’, चिन्ता०-१, २०७; हिं० सा० इ०, १३६

यदि कहीं मूल या व्यापक लक्ष्यवाले धर्म की अवहेलना हो तो उसके मार्मिक और प्रभावशाली विरोध के लिए किसी परिमित क्षेत्र के धर्म या मर्यादा का उल्लंघन असंगत नहीं।

—‘मानस’ की धर्म-भूमि’, चिन्ता०-१, २११

लोक या समाज को धारण करने वाला धर्म है।

—वि० प्र०, ६४

वह व्यवस्था या वृत्ति, जिससे लोक में मंगल का विधान होता है,  
‘अच्युदय’ की सिद्धि होती है, धर्म है ।

—‘काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था’, चिन्ता०-१, २१७

### —, भागवत-

भागवत धर्म का उदय यद्यपि महाभारत-काल में ही हो चुका था और  
अवतारों की भावना देश में बहुत प्राचीनकाल से चली आती थी पर  
वैष्णव धर्म के साम्रादायिक स्वरूप का संगठन दक्षिण में ही हुआ ।

—‘श्री वल्लभाचार्य’, सूर०, १०१

### धैर्य

जग में जिन-जिन ने महत्कार्य कीन्हें है ।

सबने धैर्यहि हिय में आसन दीन्हे है ॥

—‘अन्योक्तियाँ’, मधु०, २२

‘साहित्य दर्पण’ के लक्षण के अनुसार संतोष या तुष्टि ही का नाम ‘धृति’  
प्रतीत होता है । पर मैं स्पष्टता के लिए उसे धैर्य से भिन्न रखना ठीक  
नहीं समझता ।

—‘भावो का वर्णकरण’, २० भी०, २२६

### ध्वनि

जहाँ विभिन्न प्रकार की ध्वनियों का एक ही आश्रय (शब्द और अर्थ)  
हो या वे अन्योन्याश्रित हों तो संकर ध्वनि होती है ।

—‘शब्द-शक्ति’, २० भी०, ३६८

ध्वनि शब्द का व्यवहार चार पृथक-पृथक अर्थों में होता है—(१) जहाँ  
व्यंग्यार्थ में वाच्यार्थ से अतिशयता है अर्थात् उत्तम काव्य, (२) जिसके  
द्वारा व्यंग्यार्थ व्यंजित हो अर्थात् प्रधान व्यंग्य, (३) रसादि की व्यंजना,  
(४) व्यंजित रसादि ।

—‘शब्द-शक्ति’, २० भी०, ३८६

॥ न ॥

### नक्ल

इधर कुछ दिनों से बिना छंद (मीटर) के पद्य भी—बिना तुकांत के होना  
तो बहुत ध्यान देने की बात नहीं—निराला जी ऐसे नई रगत के कवियों

मेरे देखने में आते हैं। यह अमेरिका के एक कवि वाल्ट हिटमैन की नकल है।

—‘आधुनिक काल’, हिंदू साहित्य इंडिया (२०२५ सं. ६१२) किसी साहित्य में केवल बाहर की भवी नकल उसकी अपनी उन्नति या प्रगति नहीं कही जा सकती। बाहर से सामग्री आए, खूब आए, पर वह कूड़ा-करकट के रूप में न इकट्ठी की जाय। उसकी कड़ी परीक्षा हो, उसपर व्यापक दृष्टि से विवेचन किया जाय; जिससे हमारे साहित्य के स्वतंत्र और व्यापक विकास में सहायता पहुँचे।

—‘आधुनिक काल’, हिंदू साहित्य इंडिया (२०२५ सं. ६१०), ५५०

## नागरी (दे० पद्मावत)

### नागरी प्रचारणी सभा

इस सभा के उद्देश्य दो हुए—नागरी अक्षरों का प्रचार और हिंदी-साहित्य की समृद्धि।

—‘गद्य का प्रवर्तन’, हिंदू साहित्य इंडिया (२०२५ सं. ६१२)

सच पूछिए तो इस सभा की सारी समृद्धि और कीर्ति बाबू श्यामसुदरदास जी के त्याग और सतत परिश्रम का फल है। वे ही आदि से अंत तक इसके प्राणस्वरूप स्थित होकर बराबर इसे अनेक बड़े उद्योगों में तत्पर करते रहे।

—‘गद्य का प्रवर्तन’, हिंदू साहित्य इंडिया (२०२५ सं. ६१२), ४६२

### नाटक

आधुनिक काल के आरंभ से ही बंगला की देखादेखी हमारे हिंदी नाटकों के ढाँचे पाश्चात्य होने लगे। नादी, मगलाचरण तथा प्रस्तावना हटाई जाने लगी।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिंदू साहित्य इंडिया (२०२५ सं. ६१०), ५०४

काव्य की अपेक्षा रूपक या नाटक में भाव-व्यंजना या चमत्कार के लिए स्थान परिमित होता है।

—‘काव्य में अभिव्यञ्जनावाद’, चिन्ता ०-२, १६१

—, हिन्दी-

तृतीय उत्थान के बीच हमारे वर्तमान नाटक क्षेत्र में दो नाटककार बहुत ऊँचे स्थान पर दिखाई पड़े—स्व० जयशक्ति प्रसाद जी और श्री हरिकृष्ण

‘प्रेमी’। दोनों को दृष्टि ऐतिहासिक काल की ओर रही।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ०, ५०६-५०७-

विलक्षण बात यह है कि आधुनिक गद्य-साहित्य परंपरा का प्रवर्त्तन नाटकों से हुआ। भारतेन्दु के पहले, ‘नाटक’ के नाम से जो दो-चार ग्रंथ ब्रजभाषा में लिखे गए थे उनमें महाराजा विश्वनाथसिंह के ‘आनन्दरघुनंदन नाटक’ को छोड़ और किसी में नाटकत्व न था।

—‘गद्य का प्रवर्त्तन’, हिं० सा० इ०, ४१५-४१६-

हिंदी नाटकों के स्वतन्त्र विकास के लिए ठीक मार्ग तो यह दिखाई पड़ता है कि हम उनका मूल भारतीय लक्ष्य तो बनाए रहें पर उनके स्वरूप के प्रसार के लिए और देशों की पद्धतियों का निरीक्षण और उनकी कुछ बातों का मेल सफाई के साथ करते चले।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ०, ५०५

## नाद-सौन्दर्य

नाद-सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है।

—‘कविता क्या है?’, चित्ता०-१, १७६

## नारायण

‘नारायण’ का अभिप्राय है ब्रह्म का वह स्वरूप जो नर प्रकृति का अनु-रंजनकारी हो।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, ५७-

## निर्गुण

‘निर्गुण’ और ‘अव्यक्त’ को लेकर कशी कोई भक्तिमार्ग भारतीय आर्य-धर्म के भीतर नहीं चला।... अव्यक्त को लेकर चलने वाला हमारे यहाँ बस योगमार्ग है। योगमार्ग भक्तिमार्ग से बिल्कुल अलग है।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, ३५-

महाराष्ट्र देश के प्रसिद्ध भक्त नामदेव (सं० १३२८-१४०८) ने हिंदू-मुसलमान दोनों के लिए सामान्य भक्ति-मार्ग का भी आभास दिया। उसके पीछे कबीरदास ने विशेष तत्परता के साथ एक व्यवस्थित रूप में यह मार्ग ‘निर्गुण-पंथ’ के नाम से चलाया।

—‘भक्तिकाल, सामान्य परिचय’, हिं० सा० इ०, ५६-

## —, ज्ञानाश्रयी-शाखा

इस शाखा की रचनाएँ साहित्यिक नहीं हैं—फुटकल दोहों या पदों के रूप में हैं जिनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित और ऊटपटाँग हैं।

—‘भक्तिकाल, सामान्य परिचय’, हिं० सा० ३०, ६६

संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता।

—‘भक्तिकाल, सामान्य परिचय’, हिं० सा० ३०, ६६

## —मार्ग

जहाँ तक पता चलता है ‘निर्गुण-मार्ग’ के निर्दिष्ट प्रवर्त्तक कबीरदास ही थे जिन्होंने एक और तो स्वामी रामानंद जी के शिष्य होकर भारतीय अद्वैतवाद की कुछ स्थूल बातें ग्रहण की और दूसरी ओर योगियों और सूफी फकीरों के स्स्कार प्राप्त किए।

—‘भक्तिकाल, सामान्य परिचय’, हिं० सा० ३०, ६५

निर्गुण पंथ के संतों के संबंध में यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिए कि उनमें कोई दार्शनिक व्यवस्था दिखाने का प्रयत्न व्यर्थ है। उन पर द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि का आरोप करके वर्गीकरण करना दार्शनिक पद्धति की अनभिज्ञता प्रकट करेगा।

—‘ज्ञानाश्रयी शाखा’, हिं०-सा० ३०, ८६.

## निबंध

यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबन्धों में ही सबसे अधिक संभव होता है। इसीलिए गद्य शैली के विवेचक उदाहरणों के लिए अधिकतर निबंध ही चुना करते हैं।

—‘गद्य-साहित्य का प्रसार’, हिं० सा० ३०, ४६३

शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वही कहा जा सकता है जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार दबा-दबाकर कसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचारखंड को लिए हों।

—‘गद्य-साहित्य का प्रसार’, हिं० सा० ३०, ४६७

## —लेखक

तत्वचित्तक या वैज्ञानिक से निबंध-लेखक की भिन्नता इस बात में भी है कि निबंध-लेखक जिधर चलता है उधर अपनी सम्पूर्ण मानसिक सत्ता के

साथ अर्थात् बुद्धि और भावात्मक हृदय दोनों लिए हुए ।

—‘जद्य-साहित्य का प्रसार’, हि० सा० इ०, ४६४-४६५

### निर्लंजता

‘कोई बुरा कहे चाहे भला’, इसकी परवा न करके जो काम किया करते हैं वे ही निर्लंज कहलाते हैं ।

—‘लज्जा और ग्लानि’, विन्ता०-१, ५६

॥ ४ ॥

### पद्माकर

इनकी भाषा में वह अनेकरूपता है जो एक बड़े कवि में होनी चाहिए । भाषा की ऐसी अनेकरूपता गोस्वामी तुलसीदास जी में दिखाई पड़ती है ।

—‘रीति-ग्रथकार कवि’, हि० सा० इ०, २८५

### —और प्रतापसाहि

रीतिकाल की कविता इनकी और प्रतापसाहि की वाणी द्वारा अपने पूर्ण उत्कर्ष को पहुँचकर फिर ह्लासोन्मुख हुई । अतः जिस प्रकार ये अपनी परंपरा के परमोत्कृष्ट कवि हैं उसी प्रकार प्रसिद्धि में अन्तिम भी ।

—‘रीति-ग्रथकार कवि’, हि० सा० इ०, २८३

### “पद्मावत” (‘जायसी’ भी दे०)

अपनी कथा को काव्योपयोगी स्वरूप देने के लिए ऐतिहासिक घटनाओं के बौरो में कुछ फेरफार करने का अधिकार कवि को बराबर रहता है । जायसी ने भी इस अधिकार का उपयोग कई स्थलों पर किया है ।

—‘ऐतिहासिक आधार’, जा० श्र०, २३

कवि की दृष्टि में मनुष्य जीवन का सच्चा अंत करण क्रंदन नहीं, पूर्ण शांति है ।... कवि ने सारी कथा का शांत रस में पर्यवसान किया है ।

—‘प्रबंध कल्पना’, जा० श्र०, ६५

‘पद्मावत’ की कथा की गति के बीच-बीच में अनावश्यक विराम बहुत से हैं ।

—‘सबध निर्वाहि’, जा० श्र०, ७१

‘पद्मावत’ के आरंभ में सृष्टि का जो वर्णन है वह तो बिल्कुल स्थूल तथा नैयायिकों, पौराणिकों तथा जनसाधारण के ‘आरंभवाद’ के अनुसार है। यही तक नहीं, उसमें हिंदुओं और मुसलमानों दोनों की भावनाओं का मेल है।

—‘मत और सिद्धात’, जा० ग्र०, १४४

‘पद्मावत’ के घटनाचक्र के भीतर ऐसे स्थलों का पूरा सन्निवेश है जो मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति का उद्बोधन कर सकते हैं, उसके हृदय को भावमग्न कर सकते हैं।

—‘संबंध निर्वाह’, जा० ग्र०, ७३

‘पद्मावत’ के सारे वाक्यों के दोहरे अर्थ नहीं हैं, सर्वत्र अन्य पक्ष के व्यवहार का आरोप नहीं है। केवल बीच-बीच में कही दूसरे अर्थ की व्यंजना होती है।

—‘ईश्वरोन्मुख प्रेम’, जा० ग्र०, ५४

‘पद्मावत’ को हम शृंगाररस-प्रधान काव्य ही कह सकते हैं। ‘रामचरित’ के समान मनुष्य-जीवन की भिन्न-भिन्न बहुत-सी परिस्थितियों और संबंधों का इसमें समन्वय नहीं है।

—‘पद्मावत की प्रेम-पद्धति’, जा० ग्र०, २८

‘पद्मावत’ में ‘कार्य’ है पद्मावती का सती होना। उसकी दृष्टि से राघव चेतन का उतना ही वृत्त आया है जितने का घटनाओं के ‘कार्य’ की ओर अग्रसर करने में योग है।

—‘संबंध निर्वाह’, जा० ग्र०, ७०

‘पद्मावत’ में यद्यपि हिंदू जीवन के परिचायक भावों की ही प्रधानता है, पर बीच-बीच में फारसी साहित्य द्वारा पोषित भावों के भी छीटे कही-कही मिलते हैं।

—‘वियोग-पक्ष’, जा० ग्र०, ४०-४१

‘पद्मावत’ में हम न तो किसी व्यक्ति के ही स्वभाव का ऐसा प्रदर्शन पाते हैं जिसमें कोई व्यक्तिगत विलक्षणता पूर्ण रूप से लक्षित होती हो, और न किसी वर्ग या समुदाय की ही विशेषताओं का विस्तृत प्रत्यक्षी-करण हमें मिलता है। मनुष्य प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का प्रमाण हमें जायसी के प्रबंध के भीतर नहीं मिलता।

—‘स्वभाव-चित्तण’, जा० ग्र०, ११४

पद्मावती के जन्म से लेकर रंगसेन के सिंहलगढ़ घेरने तक कथाप्रवाह का आदि समझिए; विवाह से लेकर सिंहलद्वीप से प्रस्थान तक मध्य;

और राधवै चेतन के देश-निवासिन से लेकर पदिमनी के सती होने तक अन्त ।

—‘सबंध निर्वाह’, जा० ग्र०, ७०-

प्रासादिक वस्तु ऐसी ही होनी चाहिए जो आविकारिक वस्तु की गति आगे बढ़ाती या किसी ओर मोड़ती हो, जैसा देवपाल के वृत्त ने अलाउद्दीन के फिर चित्तौड़ पहुँचने के पहले ही रत्नसेन के जीवन का अंत कर दिया ।

—‘सबंध निर्वाह’, जा० ग्र०, ६६

फारस के प्रेम मे नायक के प्रेम का वेग अधिक तीव्र दिखाई पड़ता है और भारत के प्रेम मे नायिका के प्रेम का । जायसी ने आगे चलकर नायक और नायिका दोनों के प्रेम की तीव्रता समान करके दोनों आदर्शों का एक मे मेल कर दिया है ।

—‘पद्मावत की प्रेम-पद्धति’, जा० ग्र०, २७

यद्यपि ‘पद्मावत’ की रचना संस्कृत प्रबंधकाव्यों की सर्गबद्ध पद्धति पर नहीं है, फारसी की मसननी शैली पर है, पर शृंगार, वीर आदि के वर्णन चली आती हुई भारतीय काव्य-परंपरा के अनुसार ही है ।

—‘प्रेममार्ती (सुकृती) शांखा’, हि० सा० इ०, ६७

यद्यपि ‘पद्मावत’ मे वियोग शृंगार ही प्रधान है, पर सयोग शृंगार का भी पूरा वर्णन हुआ है । जिस प्रकार ‘बारहमासा’ विश्रलंभ के उद्दीपन की दृष्टि से लिखा गया है, उसी प्रकार ‘घटकृतु वर्णन’ संयोग शृंगार के उद्दीपन की दृष्टि से ।

—‘सयोग शृंगार’, जा० ग्र०, ४६-४७

यही संभव जान पड़ता है कि कवि ने कुछ थोड़े से पद्य तो सन् १५२० ई० में ही बनाए थे, पर ग्रंथ को १६ या २० वर्ष पीछे शेरशाह के समय मे पूरा किया ।

—‘जायसी का जीवन-वृत्त’ जा० ग्र०, ५

रत्नसेन की सिंहलद्वीप-यात्रा से लेकर पदिमनी को लेकर चित्तौड़ लौटने तक हम कथा का पूर्वार्द्ध मान सकते हैं और राधव के निकाले जाने से लेकर पदिमनी के सती होने तक उत्तरार्द्ध ।...पूर्वार्द्ध तो बिल्कुल कल्पित कहानी है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक आधार पर है ।

—‘ऐतिहासिक आधार’, जा० ग्र०, २०

रसात्मकता के संचार के लिए प्रबंधकाव्य का जैसा घटनाचक्र चाहिए ‘पद्मावत’ का वैसा ही है । चाहे इसमें अधिक जीवन दशाओं को अंतर्भूत:

करने वाला विस्तार और व्यापकत्व न हो, पर इसका स्वरूप बहुत ठीक है।

—‘प्रबद्ध कल्पना’, जा० ग्रं०, ६८

### —के पात्र

नागमती का विरह-वर्णन हिंदी साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है। इस दशा में पशु, पक्षी, पेड़, पल्लव जो कुछ सामने आता है उसे वह अपना दुखड़ा सुनाती हैं। वह पुण्य दशा धन्य है जिसमें ये सब अपने सगे लगते हैं और यह जान पड़ने लगता है कि इन्हे दुख सुनाने से भी जी हलका होगा।

—‘वियोग-पक्ष’, जा० ग्रं०, ३८

पद्मावती का रूप-वर्णन करते-करते किस अनंत सौन्दर्यसत्ता की ओर कवि की दृष्टि जा पड़ी है ! जिसकी भावना संसार के सारे रूपों को भेदती हुई उस मूल सौन्दर्यसत्ता का कुछ आभास पा चुकी है वह सृष्टि के सारे सुन्दर पदार्थों में उसी का प्रतिरिबद्ध देखता है।

—‘कवि द्वारा वस्तु वर्णन’, जा० ग्र०, ८६

पद्मावती प्रेमिका के रूप में अधिक लक्षित होती है, पर नागमती पति-प्राणा हिंदू पत्नी के मधुर रूप में ही हमारे सामने आती है।

—‘पद्मावत की प्रेम-पद्धति’, जा० ग्र०, ३३

रत्नसेन के पूर्वराग के वर्णन में जो...अस्वाभाविकता आई है, इसका कारण है—लौकिक प्रेम और ईश्वर-प्रेम दोनों को एक साथ वर्णित करने का प्रयत्न।

—‘पद्मावत की प्रेम-पद्धति’, जा० ग्रं०, ३१

रत्नसेन-पद्मावती का प्रेम विषम से सम की ओर प्रवृत्त हुआ है जिसमें एक पक्ष की कष्टसाधना दूसरे पक्ष में पहले दया और फिर तुल्य-प्रेम की प्रतिष्ठा करती है।

—‘प्रेम-तत्त्व’, जा० ग्रं०, ६२

रूप-वर्णन सुनते ही रत्नसेन के प्रेम का जो प्रबल और अदम्य स्वरूप दिखाया गया है वह प्राकृतिक व्यवहार की दृष्टि से उपयुक्त नहीं दिखाई पड़ता।

—‘पद्मावत की प्रेम-पद्धति’, जा० ग्रं०, ३१

## परिस्थिति

हमारी परिस्थिति हमारे जीवन का आलंबन है, अतः उपचार से वह भावों का भी आलंबन है।

‘विभाव’, २० मी०, १११

## ‘पल्लव’ (‘सुमित्रानंदन पंत’ भी दे०)

पंत जी की पहली प्रौढ़ रचना ‘पल्लव’ है, जिसमें प्रतिभा के उत्साह या साहस का तथा पुरानी काव्य-पद्धति के विरुद्ध प्रतिक्रिया का बहुत बड़ा-चड़ा प्रदर्शन है।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ६४१-६४२

‘पल्लव’ के भीतर ‘उच्छ्वास’, ‘आँसू’, ‘परिवर्तन’ और ‘बादल’ आदि रचनाएँ देखने से पता चलता है कि यदि छायावाद के नाम से एक वाद न चल गया होता तो पंतजी स्वच्छंदता के शुद्ध और स्वाभाविक मार्ग (ट्रू रोमांटिसिज्म) पर ही चलते।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ६४४

## पाप

पाप का फल छिपाने वाला पाप छिपाने वाले से अधिक अपराधी है।

—‘श्रद्धा-भक्ति’, चिन्ता०-१, ३६

## पिंगल

प्रादेशिक बोलियों के साथ-साथ ब्रज या मध्यदेश की भाषा का आश्रय लेकर एक सामान्य साहित्यिक भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी जो चारणों में ‘पिंगल’ भाषा के नाम से पुकारी जाती थी।

—‘वीरगाथाकाल’, हिं० सा० इ०, ३५

## पुष्टि-मार्ग

जीव अपने शुद्ध ब्रह्म स्वरूप को तभी प्राप्त करता है जब आविर्भाव और तिरोभाव दोनों मिट जाते हैं और यह बात केवल ईश्वर के अनुग्रह से, जिसे पुष्टि या पोषण कहते हैं, हो सकती है। इस अनुग्रह-प्राप्ति के लिए वल्लभाचार्य ने एक विस्तृत उपासना-पद्धति भी चलाई, जिसे पुष्टि-मार्ग कहते हैं।

—‘महाकवि सूरदास’, ब्र० गी० सा०, ४४

पुष्टि-मार्ग में स्पष्ट रूप से 'शील' और 'त्याग' का अन्तर्भवित उच्च कोटि की भक्ति में न करने से और उन्हें तीसरी श्रेणी में रखने से भ्रम के लिए बहुत ज़गह रह गई ।

—‘बल्लभाचार्य’, सूर०, ६८

### ‘पृथ्वीराज रासो’ (‘चंद बरदाई’ भी दें०)

भारों के इस वारजाल के बीच कहाँ पर कितना अंश असली है, इसका निर्णय असंभव होने के कारण यह ग्रथ न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओं के काम का है ।

—‘वीरगाथाकाल’, हिं० सा० ३०, ४२

### —की भाषा

भाषा की कसौटी पर यदि इस ग्रंथ को कसते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है क्योंकि वह बिल्कुल बैठिकाने हैं—उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं है ।

—‘वीरगाथाकाल’, हिं० सा० ३०, ४२

### —की प्रामाणिकता

यदि यह ग्रंथ किसी समसामयिक कवि का रचा होता और इसमें कुछ थोड़े से अंश हीं पीछे से मिले होते तो कुछ घटनाएँ और कुछ संवत् तो ठीक होते ।

—‘वीरगाथाकाल’, हिं० सा० ३०, ४१

### प्रकृति

अपने ही सुख-दुख के रंग में रँगकर प्रकृति को देखा तो क्या देखा ?  
मनुष्य ही सब-कुछ नहीं है । प्रकृति का अपना रूप भी है ।

—‘नई धारा’, हिं० सा० ३०, ५४८

नर ने जो रूप वहाँ भूमि को दिया था कभी  
उसे अब प्रकृति मिटाती चली जाती है ।...  
मानव के हथ से निकाले जो गए थे कभी  
धीर-धीरे फिर उन्हे लाकर बसाती है ।  
फूलों के पड़ोस में घमोय, बेर औ बबूल  
बसे हैं; न रोक-टोक कुछ भी की जाती है ।

सुख के या रुचि के विरुद्ध एक जीव के ही  
होने से न माता कृपा अपनी हटाती है।  
देती है पवन, जल, धूप सबको समान,  
दाख औ बबूल में न भेद-भाव लाती है।

—‘हृदय का मधुर भार’, मधु०, ४०

प्राकृतिक वर्णन केवल अंग रूप से ही हमारे भावों के आलंबन नहीं हैं,  
स्वतन्त्र रूप में भी हैं।

—‘विभाव’, २० भी०, १११

मनुष्य शेष प्रकृति के साथ अपने रागात्मक सबंध का विच्छेद करने से  
अपने आनंद की व्यापकता को नष्ट करता है।

—‘विभाव’, २० भी०, ११३

### —और कवि

अनंत रूपों में प्रकृति हमारे सामने आती है—कही मधुर, सुसज्जित या  
मुन्दर रूपों में; कही रुखे, बेडौल या कर्कश रूप में; कही भव्य, विशाल  
या विचित्र रूप में; कही उग्र, कराल या भयकर रूप में। सच्चे कवि  
का हृदय उसके इन सब रूपों में लीन होता है, क्योंकि उसके अनुराग का  
कारण अपना खास सुख-भोग नहीं, बल्कि चिर साहचर्य द्वारा प्रतिष्ठित  
वासना है।

—‘कविता क्या है ?’, चिन्ता-१, १४६

### —चित्रण और हिन्दी कवि

हिन्दी कवियों में प्राचीन संस्कृत कवियों का-सा वह सूक्ष्म निरीक्षण नहीं है  
जिससे प्राकृतिक दृश्यों का पूरा चित्र सामने खड़ा होता है। यदि किसी  
में यह बात थोड़ी-बहुत है, तो गोस्वामी तुलसीदास में ही।

—‘बाह्य-दृश्य-चित्रण’, गो० तु०, १२०

### प्रतापनारायण मिश्र

प्रतापनारायण जी में विनोदप्रियता विशेष थी, इससे उनकी वाणी में  
व्यंग्यपूर्ण वक्ता की मात्रा प्रायः रहती है। इसके लिये वे पूरबीपन की  
परवाह न करके अपने बैसवारे की ग्राम्य कहावतें और शब्द भी कभी-  
कभी बेघड़क रख दिया करते थे।

—‘प्रथम उत्थान, सामान्य परिचय’, हिं० सा० इ०, ४२६

## प्रतापसाहि (दे० ‘पद्माकर’ भी)

हम प्रताप जी को पद्माकर जी के समकक्ष ही बहुत बड़ा कवि  
मानते हैं।

—‘रीतिश्रथकार कवि’, हिं० सा० इ०, २६२

## प्रतिर्विबवाद

‘प्रतिर्विबवाद’ का तात्पर्य यह है कि नामरूपात्मक दृश्य (जगत्) ब्रह्म के  
प्रतिर्विब हैं। विव ब्रह्म है; यह जगत् उसी का प्रतिर्विव है। इस प्रति-  
र्विबवाद की ओर जायसी ने ‘पद्मावत’ में बड़े ही अनूठे ढंग से संकेत  
किया है।

—‘भत और सिद्धात’, जा० ग्र०, १३६

## अतिभा

प्रतिभा से मेरा अभिप्राय अन्तःकरण की उस उद्भाविका किया से है  
जिसके द्वारा कला, विज्ञान आदि नाना क्षेत्रों में नई-नई बातें या कृतियाँ  
उपस्थित की जाती हैं।

—‘श्रद्धा-शक्ति’, चिन्ता-१, २२

## प्रतीक

प्रतीकों का व्यवहार हमारे यहाँ के काव्य में बहुत कुछ अलंकार-प्रणाली  
के भीतर ही हुआ है।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ११०

## अत्यभिज्ञान

दशा की विपरीतता की भावना लिए हुए जिस प्रत्यभिज्ञान का उदय होता  
है उसमें करणवृत्ति के संचालन की बड़ी गहरी शक्ति होती है।

—‘रसात्मक बोध के विविध रूप’, चिन्ता-१, २५६

प्रत्यभिज्ञान की रसात्मक दशा में मनुष्य मन में आई हुई वस्तुओं में ही  
रमा रहता है, अपने व्यक्तित्व को पीछे डाले रहता है।

—‘रसात्मक बोध के विविध रूप’, चिन्ता०-१, २५६

प्रत्यभिज्ञान में थोड़ा-सा अंश प्रत्यक्ष होता है और बहुत-सा अंश उसी के  
संबंध से स्मरण द्वारा उपस्थित होता है। “‘यह वही है’” इन्हीं शब्दों  
में प्रत्यभिज्ञान की व्यंजना होती है।

—‘रसात्मक बोध के विविध रूप’, चिन्ता०-१, २५५

## प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष से हमारा अभिप्राय केवल चाक्षुष ज्ञान से नहीं है। रूप शब्द के भीतर शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श भी समझ लेना चाहिए।

—‘रसात्मक बोध के विविध रूप’, चिन्ता०-१, २४४-

## —और परोक्ष

प्रत्यक्ष निश्चय कराता है और परोक्ष अनिश्चय से डालता है।

—‘करणा’, चिन्ता०-१, ४६.

## प्रबन्ध काव्य (दे० ‘काव्य’ भी)

जैसे दृश्यकाव्य का वैसे ही प्रत्येक घटना-प्रधान प्रबन्ध काव्य का एक ‘कार्य’ होता है जिसके लिए घटनाओं का सारा आयोजन होता है, जैसे रामचरित मे रावण का वध।

—‘सबध-वाहि’, जा० प्र०, ६६.

## प्रभु (दे० ‘तुलसीदास’ भी)

प्रभु की लोकरंजिनी छवि पर जब तक भक्ति रहेगी तब तक गिर-गिर कर उठने की हममें शक्ति रहेगी।

रजन करना साधुजनों का, दुष्टों को दहलाना दोनों रूप लोक रक्षा के हैं, यह भूल न जाना।

उभय रूप में देते हैं जिसमें भगवान दिखाई वह प्राचीन भक्ति तुलसी से फिर से हमने पाई।

—‘गोस्वामी जी और हिन्दू जाति’, मधु०, ६८

शोभा-शक्ति-शील-मय प्रभु का रूप मनोहर प्यारा दिखा लोक-जीवन के भीतर जिसने दिया सहारा, शक्ति बीज शुभ भव्य भक्ति वह पाकर मंगलकारी मिट्ठी खिन्नता, जीने की सूचि फिर कुछ जगी हमारी।

—‘गोस्वामी जी और हिन्दू जाति’, मधु०, ६०.

## प्रथन

जगत् की विघ्न-बाधा, अत्याचार, हाहाकार के बीच ही जीवन के प्रथन में सौन्दर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति तथा भगवान की मंगलमय शक्ति का दर्शन होता है।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ५१.

## ‘प्रियप्रवास’

नवशिक्षितों के संसर्ग से उपाध्याय जी ने लोक संग्रह का भाव अधिक ग्रहण किया है। उक्त काव्य में श्रीकृष्ण ब्रज के रक्षक नेता के रूप में अंकित किए गए हैं। खड़ी बोली में इतना बड़ा काव्य अभी तक नहीं निकला है। वडी भारी विशेषता इस काव्य की यह है कि यह सारा संस्कृत के वर्णवृत्तों में है, जिसमें अधिक परिमाण में रचना करना कठिन काम है।

—‘नई द्वारा’, हि० सा० इ०, ५५६

## प्रेम

कब घेर सकती है उसे चिन्ता भला निज छेम की,  
जिसके हृदय में जग रही है ज्योति पावन प्रेम की ?

—‘वसन्त पथिक’, मधु०, ५४

जहाँ आत्मतुष्टि की वासना विरत हो जाती है, या पहले से ही नहीं रहती, वहाँ प्रेम का अत्यन्त निखरा हुआ निर्मल और विशुद्ध रूप दिखाई पड़ता है।

—‘लोभ और प्रीति’, चिन्ता०-१, ६४

दहन दुःख का हो जाता है पलक मान्न में,  
पूर्ण ध्यान जब जग जाता है प्रेम-पात्र में ।  
प्रतिमा लगती प्रेम-पात्र की कैसी व्यारी ।  
प्रेम ! प्रेम !! हे प्रेम !!! जाऊं तेरी बलिहारी ॥

—‘प्रेम-प्रताप’, मधु०, २१

प्रेम की प्रतिष्ठा दो प्रकार से होती है—

- (१) सुन्दर रूप के अनुभव द्वारा और
- (२) साहचर्य द्वारा ।

—‘विभाव’, २० भी०, ११३

प्रेम को व्याधि के रूप में देखने की अपेक्षा हम संजीवनी शक्ति के रूप में देखना अधिक पसन्द करते हैं।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, १०९

प्रेम वास्तव में राग का ही पूर्ण विकसित रूप है। राग और द्वेष दोनों की स्थिति वासना के रूप में प्रत्येक प्राणी में होती है।

—‘काव्य के विभाग’, २० भी०, ७५

विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्त्विक रूप प्राप्त

करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं।...लोभ सामान्योन्मुख होता है और प्रेम विशेषोन्मुख।

—‘लोभ और प्रीति’, चिन्ता०-१, ६६

वे धन्य हैं पर-ध्यान में जो लीन ऐसे हो रहे,

जो दो हृदय के योग में कुछ भूल अपने को रहे।

—‘वसन्त पथिक’, मध्य०, ५४

### —और परिचय

परिचय प्रेम का प्रवर्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता।

—‘लोभ और प्रीति’, चिन्ता०-१, ७७

### —गाथाएँ

इनकी रचना बिल्कुल भारतीय चरित-काव्यों की सर्गबद्ध शैली पर न होकर फारसी की मसननियों के ढंग पर हुई है।

—‘प्रेमगाथा की पत्तरा’, जा० ग्रं०, ४

### प्रेमघन (दे० बदरीनारायण चौधरी)

#### प्रेमचंद

अंत-प्रकृति या शील के उत्तरोत्तर उद्घाटन का कौशल भी प्रेमचन्द जी के दो-एक उपन्यासों में, विशेषतः ‘गबन’ में देखने में आया।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ०, ४६५

प्रेमचंद की-सी चलती और पात्रों के अनुरूप रंग बदलने वाली भाषा भी पहले नहीं देखी गई थी।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ०, ४६५

प्रेमचंद जी के उपन्यासों और कहानियों में भी ऐसे (सामाजिक-राजनीतिक सुधार—सं०) आन्दोलनों के आभास प्रायः मिलते हैं। पर उनमें भी जहाँ राजनीतिक उद्धार या समाज-सुधार का लक्ष्य बहुत स्पष्ट हो गया है, वहाँ उपन्यासकार-रूप छिप गया है और प्रचारक (प्रोप्रेगेडिस्ट) का रूप ऊपर आ गया है।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ५१६

प्रेमचंद जी के ही कुछ पात्रों में ऐसे स्वाभाविक ढाँचे की व्यक्तिगत विशेषताएँ मिलने लगीं, जिन्हें सामने पाकर अधिकांश लोगों को यह भासित हो कि कुछ इसी ढंग की विशेषतावाले व्यक्ति हमने कहीं-न-कहीं

देखे हैं। ऐसी व्यक्तिगत विशेषता ही सच्ची विशेषता है, जिस क्लूठी विशेषता और वर्गगत विशेषता दोनों से अलग समझना चाहिए।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ५१५

## ॥ फ ॥

### फैशन

कर्म-सौन्दर्य के एक दूसरे पक्ष में ही—केवल प्रेम और आतृभाव के प्रदर्शन और आचरण में ही—काव्य का उत्कर्ष मानने का जो एक नया फैशन, टालस्टाय के समय से चला है, वह एकदेशीय है।

—‘काव्य में लोकमगल की साधनावस्था’, चिन्ता०-१, २२२

### फ्रायड

उसने कहा कि जिस प्रकार स्वप्न अंतसंज्ञा में निहित अवृप्त वासनाओं की वृप्ति का एक अंतर्विद्यान है, उसी प्रकार कलाओं का निर्माण करने वाली कल्पना भी। इससे कवि-कल्पना और स्वप्न का अभेद भाव और भी पक्का हो गया। पर सच पूछिए तो कल्पना में आई हुई वस्तुओं की अनुभूति और स्वप्न में दिखाई पड़ने वाली वस्तुओं की अनुभूति के स्वरूप में बहुत अंतर है।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ५४८

## ॥ ब ॥

### बदरीनारायण चौधरी ‘प्रेमघन’

(प्रेमघन—सं०) की शैली सबसे विलक्षण थी। वे गद्य रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करने वाले—कलम की कारीगरी समझने वाले लेखक थे और कभी-कभी ऐसे पेचीले मज़मून बाँधते थे कि पाठक एक-एक डेढ़-डेढ़ कालम के लंबे वाक्य में उलझा रह जाता था।

—‘प्रथम उत्त्यान, सामाच्य परिचय’, हिं० सा० इ०, ४३१

भाषा अनुप्रासमयी और चुहचुहाती हुई होने पर भी उनका पद-विन्यास व्यर्थ आड़बर के रूप में नहीं होता था। उनके लेख अर्थगम्भित और सूक्ष्म

विचारपूर्ण होते थे। लखनऊ की उर्दू का जो आदर्श था वही उनकी हिंदी का था।

—‘प्रथम उत्थान, सामान्य परिचय’, हि० सा० इ०, ४३०

### बालकृष्ण भट्ट

पंडित प्रतापनारायण मिश्र और पंडित बालकृष्ण भट्ट ने हिंदी गद्य-साहित्य में वही काम किया है जो अँगरेजी गद्य-साहित्य में एडीसन और स्टील ने किया था।

—‘प्रथम उत्थान, सामान्य परिचय’, हि० सा० इ०, ४२८

### बिम्बग्रहण

काव्य में अर्थग्रहण मात्र से काम नहीं चलता; बिम्बग्रहण अपेक्षित होता है। यह बिम्बग्रहण निर्दिष्ट, गोचर और मूर्त्ति विषय का ही हो सकता है।

—‘कविता क्या है?’, चिन्ता०-१, १४५;

(द० ‘काव्य में प्राकृतिक दृश्य’, चिन्ता०-२, २)

बिम्बग्रहण वही होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उनके आस-पास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट विवरण देता है।

—‘कविता क्या है?’, चिन्ता०-१, १४७-४८

### बिहारी

उनकी विरह-ताप की अत्युक्तियों में दूर की सूक्ष्म और नाजुक खयाली बहुत कुछ फारसी की शैली है, पर बिहारी रसभंग करने वाले वीभत्त रूप कही नहीं लाए हैं।

—‘रीतिकाल, सामान्य परिचय’, हि० सा० इ०, २२३

जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की समास-शक्ति जितनी ही अधिक होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा। यह क्षमता बिहारी से पूर्ण रूप से वर्तमान थी।

—‘रीति-प्रथकार कवि’, हि० सा० इ०, २२६

बिहारी का ‘गागर में सागर’ भरने का जो गुण इतना प्रसिद्ध है वह बहुत कुछ रूढ़ि की स्थापना से ही सम्भव हुआ है। यदि नायिका-मेद की प्रथा इतने जोर-शोर से न चल गई होती तो बिहारी को इस प्रकार की पहेली बुझाने का साहस न होता।

—‘रीति-प्रथकार कवि’, हि० सा० इ०, २३०

### —की अलंकार-योजना

अलंकारों की योजना भी इस कवि ने बड़ी निपुणता से की है। किसी-किसी दोहे में कई अलंकार उलझे पड़े हैं, पर उनके कारण कहीं भ्रापन नहीं आया है।

—‘रीति-ग्रंथकार कवि’, हिं० सा० इ०, २३०

### —की भाषा

बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य-रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है।

—‘रीति-ग्रंथकार कवि’, हिं० सा० इ०, २३१

### —की रस-व्यंजना

बिहारी की रस-व्यंजना का पूर्ण वैभव उनके अनुभावों के विधान में दिखाई पड़ता है। अधिक स्थानों पर तो इनकी योजना की निपुणता और उक्ति-कौशल के दर्शन होते हैं, पर रस विधान में इनकी कल्पना की मधुरता झलकती है। अनुभावों और हावों की ऐसी सुंदर योजना कोई शृंगारी कवि नहीं कर सका है।

—‘रीति-ग्रंथकार कवि’, हिं० सा० इ०, २२६

### —, लक्षण ग्रंथकार

बिहारी ने यद्यपि लक्षण ग्रंथ के रूप में अपनी सतसई नहीं लिखी है, पर ‘नख-शिख’, ‘नायिका भेद’, ‘षट्कृतु’ के अन्तर्गत उनके सब शृंगारी दोहे आ जाते हैं। दोहों को बनाते समय बिहारी का ध्यान लक्षणों पर अवश्य आ।

—‘रीति-ग्रंथकार कवि’, हिं० सा० इ०, २३२

### —‘सतसई’

शृंगार रस के अन्थों में जितनी ज्याति और जितना मान ‘बिहारी-सतसई’ का हुआ उतना और किसी का नहीं।

—‘रीति-ग्रंथकार कवि’, हिं० सा० इ०, २२८

## ‘बीसलदेव रासो’

यह पुस्तक न तो वस्तु के विचार से और न भाषा के विचार से अपने असली और मूल रूप में कही जा सकती है।

—‘दीर्घाथा काल’, हृषि साह १०, ३५.

## ब्रजभाषा

काव्य की यह भाषा बहुत प्राचीन काल में बन चुकी थी। यही हिंदी की काव्यभाषा का पूर्वरूप है। ढाँचा पच्छिमी होने पर भी यह काव्य की सामान्य भाषा थी जिसका प्रचार सारे उत्तरापथ में था।

—‘काव्यभाषा’, बुद्ध, ३

॥ भ ॥

## भक्त

भक्त अपनी साधना पूर्ण करके जिस स्वरूप के मेल में हो जाता है वही आनंदप्रधान रूप ब्रह्म का असली और श्रेष्ठ रूप है।

—‘श्री वल्लभाचार्य’, सूर०, ६५

भक्त की धर्म-भावना अपने गृह या कुल के तंग धेरे के भीतर बद्ध नहीं रह सकती। वह समस्त विश्व के कल्याण का व्यापक लक्ष्य रखकर प्रवृत्त होती है।

—‘‘मानस’ की धर्मशूलि’, चिन्ता ०-१, २१२

भक्त की सम्यक् दृष्टि वही कही जा सकती है जिसके सामने अन्तर्मुख शील साधना और बहिर्मुख लोकधर्म पालन के बीच तथा ‘साधारण धर्म’ और ‘विशेष धर्म’ के बीच सामंजस्य स्पष्ट हो।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, ७६

भक्त केवल हृदय के सहारे अपनी सत्ता को मंगल विद्यायिनी सत्ता में परिणत करता है और दूसरों के भी हृदय पर ही प्रभाव डालकर उन्हें कल्याण मार्ग की ओर आकर्षित करता है।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, ७८

भक्तों के भी दो वर्ग थे। एक तो भक्ति के प्राचीन स्वरूप को लेकर चला था; अर्थात् प्राचीन भागवत संप्रदाय के नवीन विकास का ही अनुयायी

था और दूसरा विदेशी परपरा का अनुयायी, लोक धर्म से उदासीन तथा समाज-व्यवस्था और ज्ञान-विज्ञान का विरोधी था।

—‘तुलसी की भक्ति-पद्धति’, गो० तु०, ५

—, प्राचीन परंपरा वाले

प्राचीन परंपरा वाले भक्त, वेद-शास्त्रज्ञ, तत्त्वदर्शी आचार्यों द्वारा प्रवर्तित संप्रदायों के अनुयायी थे। उनकी भक्ति का आधार भगवान का लोकधर्म-रक्षक और लोक रक्षक रूप था। सूर और तुलसी ने इसी भक्ति के सुधारस से सीचकर मुरझाते हुए हिंदू जीवन को फिर से हरा किया।

—‘तुलसी की भक्ति-पद्धति’, गो० तु०, २

भक्ति (दे० ‘ज्ञान’ भी)

ईश्वर के स्वरूप पर मन का आकर्षित होना या लुभाना ही भगवत्प्रेम है, जिसे भक्ति कहते हैं।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, २२

गीता के कई श्लोकों से यह ध्वनि निकलती है कि मोक्ष ज्ञान से ही होता है; भक्ति द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है अतः भक्ति ज्ञान का साधन है।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, २६

जिसके हृदय में भक्ति की प्रतिष्ठा हो गई उसका हृदय धर्म का हृदय हो गया।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, ७३

ज्ञान-प्रसार के भीतर ही भक्ति होती है।...ज्ञान की सार्थकता भक्ति में ही है।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, २८

भक्ति का मूल तत्त्व है महत्त्व की अनुभूति।

—‘तुलसी का भक्ति-मार्ग’, चिन्ता०-१, २०३

भक्ति की आनंदमयी प्रेरणा से शील की ऊँची-से-ऊँची अवस्था की प्राप्ति आप-से-आप हो जाती है और मनुष्य ‘संत’ पद को पढ़ूँच जाता है। इस प्रेरणा में रूप, गुण, शील, बल सबके प्रभाव का योग होता है।

—‘शील-साधना और भक्ति’, गो० तु०, ५४-

भक्ति के लिए दैन्य अर्थात् दूसरे के महत्त्व के साथ अपने लघुत्व की भावना पहली बात है।

—‘श्रद्धा-भक्ति’, चिन्ता०-१, ३४-

भक्ति धर्म और ज्ञान दोनों की रसात्मक अनुभूति है।

—‘काव्य में अभिव्यञ्जनावाद’, चिन्ता०-२, १६५

भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है।

—‘भाव वा भनोविकार’, चित्ता०-१, ५

भक्ति में किसी ऐसे सान्निध्य की प्रवृत्ति होती है जिसके द्वारा हमारी महत्त्व की अनुकूल गति का प्रसार और प्रतिकूल गति का संकोच होता है।

—‘श्रद्धा-भक्ति’, चिन्ता०-१, ३४

भक्ति में प्रेम के अतिरिक्त आलम्बन के महत्त्व और अपने दैन्य का अनु-भव परम आवश्यक है।

—‘तुलसी का भक्ति-मार्ग’, चिन्ता०-१, २००

भक्ति में लेन-देन का भाव नहीं रह जाता। भक्ति के बदले में उत्तम गति मिलेगी, इस भावना को लेकर भक्ति हो ही नहीं सकती।

—‘तुलसी का भक्ति-मार्ग’, चिन्ता०-१, २०५

भक्ति राग की वह दिव्य भूमि है जिसके भीतर सारा चराचर जगत आ जाता है।

—‘लोभ और प्रीति’, चिन्ता०-१, ६१

भक्ति हृदय से की जाती है। बुद्धि से भक्ति करना ऐसा ही है जैसा नाक से खाना और कान से सूँधना। हमारे यहाँ भक्ति-विद्यान के अत्तर्गत श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन ये नौ बातें ली गई हैं।

—‘श्रद्धा-भक्ति’, चिन्ता०-१, ४०

श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।

—‘श्रद्धा-भक्ति’, चिन्ता०-१, ३२

### —काल

अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?

—‘भक्तिकाल, सामान्य परिचय’, हिं० सा० इ०, ५६

जिस समय मुसलमान भारत में आये उस समय सच्चे धर्म-भाव का बहुत कुछ ह्लास हो गया था। परिवर्तन के लिए बहुत कड़े धर्कों की आवश्यकता थी।

—‘भक्तिकाल, सामान्य परिचय’, हिं० सा० इ०, ५७

## —काव्य

भारतीय भक्तिकाव्य अनुभूति की स्वाभाविक और वास्तविक पद्धति को लेकर ही चला है; उसमें किसी 'वाद' के द्वारा विपर्यय करके नहीं। वह अभिव्यक्ति या प्रकाश की ओर उन्मुख है; रहस्य या छिपाव की ओर नहीं।

—‘काव्य मेर रहस्यवाद’, चिन्ता ०-२, १२६

हम्मीर के समय में चारणों का वीर-गाथा काल समाप्त होते ही हिंदी कविता का प्रवाह राजकीय क्षेत्र से हटकर भक्तिपथ और प्रेमपथ की ओर चल पड़ा।

—‘तुलसी की भक्ति-पद्धति’, गो० तु०, १

## —नवधा-

भक्ति की साधना की वही शुद्ध, मुच्य और प्राचीन पद्धति है, जिसे ‘नवधा’ (श्रवण, कीर्तन इत्यादि) भक्ति कहते हैं।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, ७०

## —मार्ग

जहाँ से कर्म में हृदयतत्त्व को कुछ अधिक स्थान देने की प्रवृत्ति हुई वहीं से भक्ति-मार्ग का आरंभ मानना चाहिए।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, १८

जो भक्ति-मार्ग श्रद्धा के अवयव को छोड़कर केवल प्रेम को ही लेकर चलेगा, धर्म से उसका लगाव न रह जाएगा। वह एक प्रकार से अधूरा रहेगा।

—‘रामभक्ति-शाखा’, हि० सा० ३०, १४०

भक्ति-मार्ग अपने विशुद्ध रूप में धर्मभावना का भावात्मक या रसात्मक विकास है। यह विकास उपास्य ईश्वर के स्वरूप की प्रतिष्ठा के उपरान्त ही होता है।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, ४१

भक्ति-मार्ग का सिद्धांत है भगवान् को बाहर जगत् मे देखना। ‘मन के भीतर देखना’ यह योग-मार्ग का सिद्धांत है, भक्ति-मार्ग का नहीं।

—‘तुलसी की भक्ति-पद्धति’, गो० तु०, १

भक्ति के आंदोलन की जो लहर दक्षिण से आई उसी ने उत्तर भारत की परिस्थिति के अनुरूप हिंदू-मुसलमान दोनों के लिए एक सामान्य भक्ति-मार्ग की भावना कुछ लोगों में जगाई ।

—‘भक्तिकाल, सामान्य परिचय’, हिं० सा० इ०, ५६

भारतीय भक्ति-मार्ग में ज्ञान की उपलब्धि और भाव की उपलब्धि बराबर अन्तःकरण की दो अलग-अलग वृत्तियों द्वारा मानी गई है ।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, ४३

हिंदुओं और मुसलमानों के समागम से दोनों के लिए जो एक ‘सामान्य भक्ति-मार्ग’ आविर्भूत हुआ वह अद्वैती रहस्यवाद को लेकर, जिसमें वेदांत और सूफीमत दोनों का मेल था ।

—‘जायसी का रहस्यवाद’, जा० ग्र०, १५४

### भय

किसी आती हुई आपदा की भावना या दुःख के कारण के साक्षात्कार से जो एक प्रकार का आवेगपूर्ण अथवा स्तंभकारक मनोविकार होता है उसी को भय कहते हैं ।

—‘भय’, चिन्ता०-१, १२४

जंगली और असम्य जातियों में भय अधिक होता है । जिससे वे भयभीत हो सकते हैं उसी को वे श्रेष्ठ मानते हैं और उसी की स्तुति करते हैं ।

—‘भय’, चिन्ता०-१, १२७

जिस पर अपना वश न हो ऐसे कारण से पहुँचने वाले भावी अनिष्ट के निश्चय से जो दुःख होता है, वह भय कहलाता है ।

—‘भाव या मनोविकार’, चिन्ता०-१, २

निन्दा का भय लज्जा नहीं, भय ही है, और कई बातों का, जिसमें लज्जा भी एक है ।

—‘लज्जा और खलानि’, चिन्ता०-१, ५८

### भाखा

संस्कृत मिश्रित हिंदी को ही उर्दू-फारसी वाले भाखा कहा करते थे । भाखा से खास ब्रजभाषा का अभिप्राय उनका नहीं होता था ।

—‘आधुनिक काल’, हिं० सा० इ०, ३८२-८३

## भागवत

भागवत ने भगवान् को प्यार करने के लिए भक्तों के बीच खड़ा कर दिया ।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, २५

## भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परंपरा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंगदेश के मधुसूदन दत्त और हेमचन्द्र की श्रेणी में; एक ओर तो राधाकृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई ‘भक्तमाला’ गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर टीकाधारी बगला भगतों की हँसी उड़ाते तथा स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाए जाते थे । प्राचीन और नवीन का यही सुदर सामंजस्य भारतेन्दु की कला का विशेष माध्यर्थ है ।

—‘भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : परिचय’, आ० श० प्र० नि०, १७०;  
(द० हिं० सा० इ०, ४२३; चिन्ता०-१, १६२)

अपने समय के सब लेखकों में भारतेन्दु की भाषा साफ-मुथरी और व्यवस्थित होती थी । उसमें शब्दों के रूप भी एक प्रणाली पर मिलते हैं और वाक्य भी सुसबद्ध पाये जाते हैं ।

—‘प्रथम उत्थान, सामान्य परिचय’, हिं० सा० इ०, ४२५-४२६

इस कलाकार में बड़ा भारी गुण यह था कि इसने नए और पुराने विचारों को अपनी रचनाओं में इस सफाई से मिलाया कि कहीं से जोड़ मालूम न हुआ । पुराने भावों और आदर्शों को लेकर इन्होने नए आदर्श खड़े किए ।

—‘भारतेन्दु हरिश्चन्द्र’, चिन्ता०-१, १६३

उनकी भाषा में न तो लल्लूलाल का ब्रजभाषापन आने पाया, न मुंशी सदासुखलाल का पंडिताऊपन, न सदल मिश्र का पूरबीपन, न राजा शिव-प्रसाद का उर्दूपन और न लक्ष्मण सिंह का खालिसपन और आगरापन । इतने ‘पनों’ से एक साथ पीछा छुड़ाना भाषा के संबंध में बहुत ही परिष्कृत रुचि का परिचय देता है । संस्कृत शब्दों के आने पर भी भाषा का सुबोध बना रहना, फारसी-अरबी के शब्द आने पर भी साथ-साथ उर्दूपन न आना हिन्दी की स्वतंत्र सत्ता का प्रमाण था ।

—‘भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : परिचय’, आ० श० प्र० नि०, १६६

उनके भाषा-संस्कार की महत्ता को सब लोगों ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया और वे वर्तमान हिंदी गद्य के प्रवर्तक माने गए ।

—‘प्रथम उत्थान, सामान्य परिचय’, हि० सा० इ०, ४१२

उस समय एक ऐसे सामंजस्यपटु, साहसी और प्रतिभासंपन्न पुरुष की आवश्यकता थी, जो कौशल से इन बढ़ते हुए (नए-सं०) विचारों का मेल देश के परंपरागत साहित्य से करा देता । ऐसे ही पुरुष के रूप में बाबू हरिश्चन्द्र साहित्य-क्षेत्र में उतरे । उन्होंने हमारे जीवन के साथ हमारे साहित्य को फिर से लगा दिया । बड़े भारी विच्छेद से उन्होंने हमें बचाया ।

—‘भारतेन्दु हरिश्चन्द्रः परिचय’, आ० श० प्र० नि०, १७०

कविता की नवीन-धारा के बीच भारतेन्दु की वाणी का सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति का था ।

—‘भारतेन्दु हरिश्चन्द्रः’, चिन्ता०-१, १६२

खड़ी बोली को दिल्ली वाली कस्टी पर कसते हैं तो भारतेन्दु की भाषा में कहीं-कहीं ‘पूरबीपन’ की कुछ झाई मिल जाती है—पर बहुत कम ।

—‘भारतेन्दु हरिश्चन्द्रः परिचय’, आ० श० प्र० नि०, १७२

गद्य को जिस परिमाण में भारतेन्दु ने नए-नए विषयों और मार्गों की ओर लगाया उंस परिमाण में पद्य को नहीं ।

—‘नई धारा’, हि० सा० इ०, ५४३

नाटकों की रचना-शैली में उन्होंने मध्यम-मार्ग का अबलंबन किया । न तो बँगला के नाटकों की तरह प्राचीन भारतीय शैली को एकबारी छोड़ वे अँगरेजी नाटकों की नकल पर चले और न प्राचीन नाट्यशास्त्र की जटिलता में अपने को फँसाया ।

—‘प्रथम उत्थान, सामान्य परिचय’, हि० सा० इ०, ४२३

प्राचीन और नवीन के सन्धिय-स्थल पर खड़े होकर वे दोनों का जोड़ इस प्रकार मिलाना चाहते थे कि नवीन प्राचीन का प्रवर्द्धित रूप प्रतीत हो, न कि ऊपर से लपेटी हुई वस्तु ।

—‘प्रथम उत्थान, सामान्य परिचय’, हि० सा० इ०, ४१५

बड़ा भास्य काम भारतेन्दु ने यह किया कि स्वदेशभिमान, स्वजाति-प्रेम, समाज-सुधार आदि की आधुनिक भावनाओं के प्रवाह के लिए हिन्दी को चुना तथा इतिहास, विज्ञान, नाटक, उपन्यास, पुरावृत्त इत्यादि अनेक समयानुकूल विषयों की ओर हिन्दी को दौड़ा दिया ।

—‘भारतेन्दु हरिश्चन्द्रः’, चिन्ता०-१, १६५

बाबू हरिश्चन्द्र ने यद्यपि समयानुकूल प्रसंग छेड़ नए-नए सस्कार उत्पन्न किए पर उन्होंने भी प्रकृति पर प्रेम न दिखाया। १००वें प्रकृति के उपासक न थे।

—‘भारतेन्दु हरिश्चन्द्र’, चिन्ता०-१, १६७-

भारतेन्दु जी ने हिन्दी काव्य को केवल नए-नए विषयों की ओर ही उन्मुख किया, उसके भीतर किसी नवीन विद्यान या प्रणाली का सूत्रपात नहीं किया।

—‘नई धारा’, हि० सा० इ०, ५४३

भारतेन्दु जी मे हम दो प्रकार की शैलियों का व्यवहार पाते हैं। उनकी भावावेश की शैली दूसरी है और तथ्य-निरूपण की शैली दूसरी।

—‘प्रथम उत्थान, सामान्य परिचय’, हि० सा० इ०, ४२४

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर बड़ा गहरा पड़ा। उन्होंने जिस प्रकार गद्य की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता, मधुर और स्वच्छ रूप दिया, उसी प्रकार हिन्दी साहित्य को भी नए मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया।

—‘प्रथम उत्थान, सामान्य परिचय’, हि० सा० इ०, ४१२

भाषा का निखरा हुआ शिष्ट सामान्य रूप भारतेन्दु की कला के साथ ही प्रकट हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पद्य की ब्रजभाषा का भी बहुत कुछ संस्कार किया। पुराने पड़े हुए शब्दों को हटाकर काव्य-भाषा मे भी वे बहुत कुछ चलतापन और सफाई लाए।

—‘प्रथम उत्थान, सामान्य परिचय’, हि० सा० इ०, ४१२

राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह ने जो कुछ गद्य लिखा था वह एक प्रकार से प्रस्ताव के रूप मे था। जब भारतेन्दु अपनी मैंजी हुई परिष्कृत भाषा सामने लाये तब हिन्दी बोलने वाली जनता को गद्य के लिए खड़ी बोली का प्रकृत साहित्यिक रूप मिल गया और भाषा के स्वरूप का प्रश्न न रह गया। प्रस्ताव काल समाप्त हुआ और भाषा का स्वरूप स्थिर हुआ।

—‘प्रथम उत्थान, सामान्य परिचय’, हि० सा० इ०, ४१३

वे सिद्ध-वाणी के अत्यन्त सरस-हृदय कवि थे।

—‘भारतेन्दु हरिश्चन्द्र’, चिन्ता०-१, १६२

शिष्ट शराफत में थे लगे

यह चंद औ सूर की बानी बड़ी।

केवल तानों में जाती तनी

मृँह मे मँगतो के थी जाती सड़ी।

राज के काज को त्याग सभी  
फिर धर्म की धार पै आकै अड़ी ।  
श्री हरिचंद जो होते न तो  
रह जाती वहाँ की वहाँ ही पड़ी ॥

—‘भारतेन्दु हरिश्चन्द्र’, मध्य०, ६२

साहित्य के एक नवीन युग के आदि में प्रवर्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नए-नए या बाहरी भावों को पचाकर इस ढंग से मिलना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें । प्राचीन और नवीन के उस सम्बन्धिकाल में जैसी शीतल और मृदुल कला का संचार अपेक्षित था, वैसी ही शीतल और मृदुल कला के साथ भारतेन्दु का उदय हुआ ।

—‘भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : परिचय’, आ० श० प्र० नि०, १७०

### —मंडल

उस समय ऐसे लेखक न थे जो बँगला की पदावली और वाक्य ज्यों के त्यों रखते हों या अँगरेजी वाक्यों और मुहावरों का शब्द प्रतिशब्द अनुवाद करके हिन्दी लिखने का दावा करते हों ।

—‘गद्य का प्रवर्तन’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ४३६

भारतेन्दु का अस्त तो संवत् १६४१ से ही हो गया पर उनका यह मंडल बहुत दिनों तक साहित्य-निर्माण करता रहा ।...जो मौलिकता इन लेखकों में थी वह द्वितीय उत्थान के लेखकों में न दिखाई पड़ी ।

—‘गद्य का प्रवर्तन’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ४४१

हरिश्चन्द्र काल के सब लेखकों में अपनी भाषा की प्रकृति की पूरी परख थी ।...उनकी लिखावट में न ‘उड़ीयमान’ और ‘अवसाद’ ऐसे शब्द मिलते हैं, न ‘औदार्य’, ‘सौकर्य’ और ‘मौख्य’ ऐसे रूप ।

—‘गद्य का प्रवर्तन’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ४३१

हरिश्चन्द्र तथा उनके समसामयिक लेखकों में जो एक सामान्य गुण लक्षित होता है वह है सजीवता या जिंदादिली । सबमें हास्य या विनोद की माश्वा थोड़ी या बहुत पाई जाती है ।

—‘प्रथम उत्थान, सामान्य परिचय’, हिं० सा० इ०, ४१५

### भाव

अनुभूति दो प्रकार की हो सकती है, सुखात्मक और दुखात्मक । इसी के अनुसार भावों के भी दो वर्ग किए जा सकते हैं—सुखात्मक और दुःखात्मक ।

—‘भावों का वर्णकरण’, २० सी०, १११

इंद्रियज संवेदन वेदना-प्रधान होता है, वासना प्रवृत्ति-प्रधान होती है और भाव वेद्य-प्रधान (आलंबन-प्रधान) होता है।

—‘भाव’, २० मी०, १६२

एक ही आश्रय में, एक ही आलंबन के प्रति, आनंदात्मक और दुःखात्मक भावों की एक साथ स्थिति नहीं हो सकती।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हि० सा० इ०, ५०३

किसी भाव के प्रकृतिस्थ हो जाने पर वह एक ही आलंबन से बद्ध नहीं रहता समय-समय पर भिन्न-भिन्न आलंबन ग्रहण करता रहता है।

—‘भाव’, २० मी०, १८२

कोई भाव या वेगयुक्त चित्त-विकार या तो सुखात्मक होगा या दुःखात्मक। भावदशा में सुखात्मक भाव का संचारी सुखात्मक भाव या चित्त-विकार ही होगा और दुःखात्मक का दुःखात्मक।

—‘भाव’, २० मी०, १८१

जो ‘प्रधान भाव’ कहे गए हैं वे यदि संचारी आदि से रहित होकर भी आएं तो आलंबन के सामान्य होने पर अपना संचार श्रोता के हृदय में उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार संचारी आदि से पुष्ट होकर आने पर।

—‘असबद्ध भावों का रसवत् ग्रहण’, २० मी०, २३६

जो भाव और वेग आदि नियत सचारियों में रखे गए हैं वे कभी-कभी प्रधान होकर भी आते हैं।

—‘भावों का वर्गीकरण’, २० मी०, २३४

निद्रा और विवोध दोनों का संबंध यद्यपि चेतना की प्रवृत्ति और निवृत्ति से है पर वे अधिकतर शारीर-धर्म के रूप में ही दिखाई पड़ते हैं। इसी से उन्हे मानसिक अवस्था में न रखकर शारीरिक अवस्था में रखा है।

—‘भावों का वर्गीकरण’, २० मी०, २३१

प्रत्यय-बोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति—इन तीनों के गूढ़ संश्लेष का नाम ‘भाव’ है।

—‘भाव’, २० मी०, १६८

‘प्रत्यय-बोध’ की ओर लक्ष्य करके ही साहित्यिकों ने ‘भाव’ शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ है चित्त की चेतन दशा-विशेष। रति, क्रोध, भय आदि की वासनात्मक अवस्था में किसी चेतन दशा की अपेक्षा नहीं।

—‘भाव’, २० मी०, १६२

प्रधानों में परिगणित कोई भाव भी दूसरे प्रधान भाव का संचारी होकर आ सकता है—जैसे रति और उत्साह में हास, युद्धोत्साह में क्रोध ।

—‘भावों का वर्णकरण’, २० भी०, २३६

भारतीय दृष्टि ने भाव-पक्ष को प्रधानता दी और रस के सिद्धांत की प्रतिष्ठा की । पर पश्चिम में ‘कल्पना’, ‘कल्पना’ की पुकार के सामने धीरे-धीरे समीक्षकों का ध्यान भाव-पक्ष से हट गया और बोध-पक्ष ही पर झिड़ गया ।

—‘प्रस्तुत रूप-विद्यात्’, २० भी०, ३०५

भाव-कोश से अभिप्राय भाव-समष्टि नहीं है, बल्कि अन्तःकरण में संचरित एक प्रणाली मात्र है जिसमें कई भिन्न-भिन्न भावों का संचार हुआ करता है ।

—‘भाव’, २० भी०, १७०

भाव में संकल्प वेगयुक्त होते हैं पर भाव-कोश में धीर और संयत । मनुष्य में आचरण या शील की प्रतिष्ठा भाव-प्रणाली-स्थापना के अनुसार होती है ।

—‘भाव’, २० भी०, १७१

‘भाव’ से अभिप्राय संवेदना के स्वरूप की व्यंजना से है; विभाव से अभिप्राय उन वस्तुओं या विषयों के वर्णन से है जिनके प्रति किसी प्रकार का भाव या संवेदना होती है । (दै० ‘विभाव’ भी—सं०)

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, १००

‘भावों’ के स्वरूप के भीतर ही वह वस्तु है जिसके अनुसार प्रधान और संचारी का विभाग हो जाता है ।

—‘भावों का वर्णकरण’, २० भी०, २०५

युग-युग के रूपों में सनते

भाव चले आते हैं बनते ।

जिस शोभा के लिए हृदय में

पहले से कुछ प्यार धरा है,

काव्यमयी रसमयी वही है —

कहीं न कुछ खोटा, न खरा है ।

यही प्यार जिसमें जितना है,

जाग्रत, वह भावुक उतना है ।

—मधु०, ४

रति, शोक, क्रोध, भय आदि पहले वासना के रूप में थे, पीछे भाव-रूप में आये।

—‘भाव’, २० मी०, १६१

रसात्मक प्रसंगों में केवल किसी वात के आधिक्य या न्यूनता की हद से ही काम नहीं चलता। जो भावुक और रसज्ञ न होकर केवल अपनी दूर की पहुँच दिखाया चाहते हैं वे कभी-कभी आधिक्य या न्यूनता की हद दिखाने में ही फँसकर भाव के प्रकृत स्वरूप को भूल जाते हैं।

—‘अलंकार’, जा० प्र०, १००

### —की अवस्थाएँ

उदय से अस्त तक भावों की तीन अवस्थाएँ मानी जा सकती हैं—उदय, स्थिति और शांति। किसी भाव के संचार का आरंभ मात्र ‘भावोदय’ कहलाता है।

—‘असंबद्ध भावों का रसवत् ग्रहण’, २० मी०, २४०

### —के तीन अंग

(१) वह अंग जो प्रवृत्ति या संस्कार के रूप में अंतस्संज्ञा में रहता है।  
(वासना)

(२) वह अग जो विषय-बिंब के रूप में चेतना में रहता है और ‘भाव’ का प्रकृत स्वरूप है (भाव, आलंबन आदि की भावना)।

(३) वह अंग जो आकृति या आचरण में अभिव्यक्त होता है और बाहर देखा जा सकता है (अनुभाव और नाना प्रयत्न)।

—‘भाव’, २० मी०, १६४

### —कोश

‘प्रत्येक ‘भाव’ उस स्थायी अंतर्हित दशा को प्राप्त हो सकता है जिसे ‘भाव-कोश’ या स्थायी कहते हैं।

—‘भाव’, २० मी०, १७६

### —दशा

स्थायी दशा को प्राप्त होने पर भी भाव का मूल स्वरूप बीच-बीच में अवसर या उत्तेजन पाकर उदित हुआ करता है। स्थायी दशा के बीच-बीच में मूल स्वरूप के इस स्थिति-काल को हम भाव-दशा भी कहेंगे।

—‘भावों का वर्गीकरण’, २० मी०, २०१

जिन्हे साहित्य में भाव कहते हैं उनकी तीन दशाएँ मिलती हैं—भाव दशा, स्थायी दशा और शील दशा ।

—‘भाव’, २० मी०, १८६

### —विधान

भाव-विधान के अन्तर्गत केवल ‘बुद्धि का क्रिया करना’ यह बात होती है, स्वयं क्रिया नहीं । केवल बुद्धि की विलक्षणता सूचक जो बातें होती हैं वे ‘रस’ में नहीं घुलती ।

—‘भाव’, २० मी०, १८८

### —सन्धि और शबलता

दो भावों के साथ को ‘भाव-सन्धि’ और दो से अधिक भावों के संघात को ‘भाव-शबलता’ कहते हैं ।

—‘असंबद्ध भावों का रसवत् ग्रहण’, २० मी०, २४३

### भावना

आत्मबोध और जगद्बोध के बीच ज्ञानियों ने गहरी खाई खोदी पर हृदय ने कभी उसकी परवा न की; भावना दोनों को एक ही मान कर चलती रही ।

—‘काव्य में लोकमगल की साधनावस्था’, चिन्ता०-१, २१३

भाषा का भावनाओं के साथ इतना घनिष्ठ संबंध है कि शब्द संकेत के सहारे पर विचारों के लिए बहुत कुछ मार्ग खुलता है ।

—‘माव’, २० मी०, १७७

हृदय का योग जब तक न होगा, तब तक न कर्म सच्चे होगे, न अनुकूल वचन निकलेगे ।

—‘लोक-नीति और मर्यादावाद’, गो० तु०, ३४

### भावुकता (दे० ‘अतीत’ भी)

अतीत के नाना खंडों से जाकर रमनेवाली भावुकता का मनुष्य की प्रकृति में एक विशेष स्थान है । मनुष्य की इस प्रकृतिस्थ भावुकता का अनुभव हम-अप भी करते हैं और दूसरे को भी करते हुए पाते हैं । अतः यह मानव हृदय की एक सामान्य वृत्ति है ।

—‘गण-साहित्य की वर्तमान गति’, हि० सा० इ०, ५१५

‘भावुकता’ भी जीवन का एक अंग है। अतः साहित्य की किसी शाखा से हम उसे बिल्कुल हटा तो सकते नहीं। हाँ, यदि वह व्याधि के रूप में—फीलपाँव की तरह बढ़ने लगे तो उसकी रोक-थाम आवश्यक है।

—‘गदा-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ०, ५१०

## भाषा

भाषा के दो पक्ष होते हैं—एक सांकेतिक (सिम्बालिक) और दूसरा विबाधायक (प्रेजेटेटिव)। एक में तो नियत सकेत द्वारा अर्थ बोध मात्र हो जाता है, दूसरे में वस्तु का विव या चित्र अंतःकरण में उपस्थित होता है।

—‘अलकार’, जा० ग्र०, १११

### —काव्य-

कविता में नए-पुराने दोनों रूपों का साथ-साथ पाया जाना केवल परंपरा का निर्वाह ही नहीं, कवियों का आलस्य और भाषा की उतनी परवा न करना भी सूचित करता है।

—‘काव्यभाषा’, बुद्ध०, २३

### —के लाक्षणिक प्रयोग

प्रत्येक भाषा की लाक्षणिक प्रवृत्ति उसके बोलने वालों की अन्तःप्रकृति और संस्कारों के अनुरूप हुआ करती है अतः एक भाषा के लाक्षणिक प्रयोग दूसरी भाषा में बहुत कम काम दे सकते हैं।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, १४२

### —लोक-

जब पंडितों की काव्यभाषा स्थिर होकर उत्तरोत्तर आगे बढ़ती हुई लोकभाषा से दूर पड़ जाती है और जनता के हृदय पर प्रभाव डालने की उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है तब शिष्ट समुदाय लोकभाषा का सहारा लेकर अपनी काव्य परंपरा में नया जीवन डालता है।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ५५२

## भीस्ता

भय जब स्वभावगत हो जाता है तब कायस्ता या भीस्ता कहलाता है।

—‘भय’, चिन्ता०-१, १२५

सब प्रकार की भीख्ता की तह में सहन करने की अक्षमता और अपनी शक्ति का अविश्वास छिपा रहता है। एक ही प्रकार की भीख्ता ऐसी दिखाई पड़ती है जिसकी प्रशंसा होती है। वह धर्म-भीख्ता है।

—‘भय’, चिन्ता-१, १२५-

## भूषण

भूषण के बीर रस के उद्गार सारी जनता के हृदय की संपत्ति हुए। भूषण की कविता कवि-कीर्ति संबंधी एक अविचल सत्य का दृष्टांत है। जिसकी रचना को जनता का हृदय स्वीकार करेगा उस कवि की कीर्ति तब तक बराबर बनी रहेगी जब तक स्वीकृति बनी रहेगी।

—‘रीति-ग्रंथकार कवि’, हि० सा० ३०, २३६-

वे हिन्दू जाति के प्रतिनिधि कवि हैं।

—‘रीति-ग्रंथकार कवि’, हि० सा० ३०, २३६-

## ॥ म ॥

### मंगल

ऐसे कूर कठिन विधान में कहाँ से यह

मंगल की आभा की झलक रह पावेगी ?

नगरों के धातु खंड-राशि जिस घड़ी सब

ग्राम-नगत भूमि ज्ञनकार से जुतावेगी,

खोके पति-पानी, हार अपनी स्वतंत्रता को

जनता वहाँ की मज़ाहूर बन जावेगी।

लुच्चे औ लफंगे नई काट के मिलेगे, फिर

वहाँ भी पुनीतता न मैंह दिखलावेगी।

—‘हृदय का मधुर भार’, मधु०, ४६-

जीवन के चरम मंगल में धर्म और सुख दोनों की पराकाष्ठा है। इश्वर दोनों के बीच संयोग स्थापित करता है।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ८१

भावों की छान-बीन करने पर मंगल का विधान करने वाले दो भाव ठहरते हैं—करुणा और प्रेम। करुणा की गति रक्षा की ओर होती है और प्रेम की रंजन की ओर।

—‘काव्य में लोक-मंगल की साधनावस्था’, चिन्ता०-१, २२३-

## मतिराम

मतिराम की रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसकी सरसता अत्यंत स्वाभाविक है, न तो उसमें भावों की कृतिमता है, न भाषा की।

—‘रीति-ग्रथकार कवि’, हिं० सा० ६०, २३३

## मनुष्य

मनुष्य उस कोटि की पहुँची हुई सत्ता है जो उस अल्प क्षण में ही आत्म-प्रसार को बद्ध रखकर सन्तुष्ट नहीं हो सकती जिसे वर्तमान कहते हैं।

—‘काव्य में प्राकृतिक दृश्य’, चिन्ता०-२, ३८

## —का हृदय

मनुष्य का हृदय अत्यन्त पवित्र वस्तु है। उसे प्रकृत मार्ग से यों ही इधर-उधर भटकाने की चेष्टा, चाहे वह निष्फल ही क्यों न हो, उचित नहीं।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ७०

## मनोवेग

किया में तत्पर करने वाली प्राणियों की आदि अंतःकरण-वृत्ति, मन या मनोवेग है। मनुष्य के आचरण के प्रवर्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं, बुद्धि नहीं।

—‘करुणा’, चिन्ता०-१, ४८

तीन मनोविकार ही ऐसे हैं जिनके विषय प्रधान भाव के आलंबन से स्वतंत्र हो सकते हैं—गर्व, लज्जा और असूया।

—‘भावों का वर्गीकरण’, २० भी०, २०७

दैन्य, मद, जड़ता, चपलता इत्यादि मानसिक अवस्थाएँ दो प्रकार की होती हैं—प्रकृतिगत और आगन्तुक।

—‘भावों का वर्गीकरण’, २० भी०, २१६

मनुष्य की सजीवता मनोवेग या प्रवृत्ति में, भावों की तत्परता में है। …यदि मनोवेग न हों तो स्मृति, अनुमान, बुद्धि आदि के रहते भी मनुष्य बिल्कुल जड़ है।

—‘करुणा’, चिन्ता०-१, ५३

ये स्वतन्त्र रूप में बहुत कम आते हैं, अधिकतर किसी ‘भाव’ के कारण उत्पन्न होकर उसी के अन्तर्गत उद्भूत और विलीन होते हैं।

—‘भावों का वर्गीकरण’, २० भी०, २०८

सुख और दुःख की मूल अनुभूति ही विषय-भेद के अनुसार, प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, करुणा, धृणा इत्यादि मनोविकारों का जटिल रूप धारण करती है।

—‘भाव या मनोविकार’, चिन्ता०-१, १

### मलिक मुहम्मद जायसी (दे० ‘जायसी’)

#### महादेवी वर्मी

गीत लिखने में जैसी सफलता महादेवी जी को हुई वैसी और किसी को नहीं। न तो भाषा का ऐसा स्निग्ध और प्रांजल प्रवाह और कही मिलता है, न हृदय की ऐसी भावधंगी। जगह-जगह ऐसी ढली हुई और अनूठी व्यंजना से भरी हुई पदावली मिलती है कि हृदय खिल उठता है।

—‘नई धारा’, हि० सा० ३०, ६६५

छायावादी कहे जाने वाले कवियों में महादेवी जी ही रहस्यवाद के भीतर रही है। उस अज्ञात प्रियतम के लिए वेदना ही इनके हृदय की भावकेन्द्र है जिससे अनेक प्रकार की भावनाएँ छूट-छूटकर झलक मारती रहती हैं। वेदना से इन्होने अपना स्वाभाविक प्रेम व्यक्त किया है, उसी के साथ वे रहना चाहती हैं।

—‘नई धारा’, हि० सा० ३०, ६६५

वेदना को लेकर इन्होने हृदय की ऐसी अनुभूतियाँ सामने रखी हैं जो लोकोत्तर हैं। कहाँ तक वे वास्तविक अनुभूतियाँ हैं और कहाँ तक अनुभूतियों की रमणीय कल्पना है, यह नहीं कहा जा सकता।

—‘नई धारा’, हि० सा० ३०, ६६५

#### महावीरप्रसाद द्विवेदी

उनकी अधिकतर कविताएँ इतिवृत्तात्मक (मैटर ऑफ़ फ़ैक्ट) हुईं। उनमें वह लाक्षणिकता, वह चित्रमयी भावना और वक्ता बहुत कम आ पाई जो रस-संचार की गति को तीव्र और मन को आकर्षित करती है।

—‘नई धारा’, हि० सा० ३०, ५६३

द्विवेदी जी के लेख या निबंध विचारात्मक क्षेणी में आयेगे। पर विचारों की वह गूढ़ गुफित परंपरा उनमें नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार-पद्धति पर दौड़ पड़े।

—‘शब्द-साहित्य का प्रसार’, हि० सा० ३०, ४६७

यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरण विरुद्ध और ऊटपटांग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी, उसकी परंपरा जल्दी न रुकती।

—‘गद्य-साहित्य का प्रसार’, हिं० सा० ६०, ४५३  
व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक द्विवेदी जी ही थे। ‘सरस्वती’ के संपादक के रूप में उन्होंने आई हुई पुस्तकों के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धियाँ दिखा-दिखाकर लेखकों को बहुत कुछ सावधान कर दिया।

—‘गद्य-साहित्य का प्रसार’, हिं० सा० ६०, ४५१  
श्रीयुत् पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने पहले-पहल विस्तृत आलोचना का रास्ता निकाला। फिर मिश्रबंधुओं और पंडित पद्मर्सिंह शर्मा ने अपने ढंग पर कुछ पुराने कवियों के संबंध में विचार प्रकट किए। पर यह सब आलोचना अधिकतर बहिरंग बातों तक ही रही।

—‘गद्य-साहित्य का प्रसार’, हिं० सा० ६०, ४५२

### माधुर्य

असामान्यता, दीप्ति, चमत्कार इत्यादि से सर्वथा स्वतंत्र आकर्षण माधुर्य का है। सामान्य से सामान्य, तुच्छ से तुच्छ वस्तुओं और दृश्यों में माधुर्य का पूरा आकर्षण रहता है।

—‘काव्य के विभाग’, २० मी०, ८५

कही हृदय अपना समेटकर  
कोश-कीट बन जाय न तू नर !  
इसी हेतु अविरत मधु-धारा  
द्वार-द्वार पर टकराती है,

—मध०, ८

भेद में अभेद की रसात्मक प्रतीति इसी माधुर्य का स्वाद है जिसे हमारे यहाँ के भक्तों ने भगवान का प्रसाद बताया है—ऐसा प्रसाद जिससे आत्मा का पोषण होता है।

—‘काव्य के विभाग’, २० मी०, ८७

### भाव

सूफियों और ईसाई भक्तों में माधुर्य भाव रहस्यवाद का एक अंग है, पर कृष्णोपासकों में वह भगवान की विज्ञात नर-लीला का एक अंग है।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, ६६

## मायावाद और भक्ति

रामानुज से लेकर वल्लभाचार्य तक जितने भक्त दार्शनिक या आचार्य हुए हैं सबका लक्ष्य शंकराचार्य के मायावाद या विवर्तवाद को हटाने का था जिसके भीतर उपासना या भक्ति अविद्या या भ्रांति ही ठहरती थी।

—‘श्री वल्लभाचार्य’, सूर०, द३-

## मिश्रबंधु

हिन्दी के पुराने कवियों को समालोचना के लिए सामने लाकर मिश्रबंधुओं ने बेशक ज़रूरी काम किया। उनकी बातें समालोचना कही जा सकती हैं या नहीं, यह दूसरी बात है।

—‘गद्य का प्रसार’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ५०५-५०६-

## मीराबाई

मीराबाई का नाम भारत के प्रधान भक्तों में है और इनका गुणगान नाभाजी, ध्रुवदास, व्यास जी, मलूकदास आदि सब भक्तों ने किया है। इनके पद कुछ तो राजस्थानी मिश्रित भाषा में है और कुछ विशद्द साहित्यिक ब्रजभाषा में।

—‘कृष्णभक्ति-परपरा’, हि० सा० इ०, १७१;

## मुहावरे

मुहावरे लाक्षणिक प्रयोग ही हैं, पर वर्द्धे हुए।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, १५३.

## मृदुलता

शृंगार और करुण दोनों रसों में ‘मृदुलता’ संचारी होकर आ सकती है। प्रिय और मधुर वचन इसके सूचक होते हैं।

—‘भावो का वर्गीकरण’, र० मी०, २२०

## मेघदूत

मेघदूत न कल्पना की कीड़ा है, न कला की विचित्रता। वह है प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूप-माधुरी पर सीधी-सादी प्रेम-दृष्टि।

—‘कविता क्या है ?’, चिन्ता०-१, १४६

## मधिलीशारण गुप्त

गुप्तजी की प्रतिभा की सबसे बड़ी विशेषता है कालानुसरण की क्षमता—  
अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्यप्रणालियों को ग्रहण—  
करते चलने की शक्ति ।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ५६६-

गुप्तजी वास्तव में सामंजस्यवादी कवि है; प्रतिक्रिया का प्रदर्शन करने  
वाले अथवा मद में ज्ञाने (या ‘झीमने’) वाले कवि नहीं । सब प्रकार  
की उच्चता से प्रभावित होने वाला हृदय उन्हें प्राप्त है । प्राचीन के प्रति  
पूज्य भाव और नवीन के प्रति उत्साह, दोनों इनमें है ।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ५६७-

‘साकेत’ और ‘यशोधरा’ इनके दो बड़े प्रबंध हैं । दोनों में उनके काव्यत्व  
का तो पूरा विकास दिखाई पड़ता है, पर प्रबंधत्व की कमी है । बात यह  
है कि इनकी रचना उस समय हुई जब गुप्त जी की प्रवृत्ति गीतकाव्य या  
नए ढंग के प्रगीत मुक्तकों की ओर हो चुकी थी ।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ५६५.

## ॥ य ॥

### युद्ध

कर्म का सबसे अधिक विकट क्षेत्र युद्ध है ।

—‘लोभ और प्रीति’, चिन्ता०-१, ८६-

### —वीरता

(युद्धवीरता—सं०) में साहस और प्रयत्न दोनों चरम उत्कर्ष पर  
पहुँचते हैं ।

—‘उत्साह’, चिन्ता०-१, ६-

### योगधारा

सिद्धों और योगियों की रचनाएँ साहित्यकोटि में नहीं आतीं और योग-  
धारा काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं मानी जा सकती ।

—‘दो बातें’, हिं० सा० इ०, ६-

## योरप

यदि हमें वर्तमान जगत के बीच से अपना रास्ता निकालना है तो वहाँ के अनेक 'बादो' और प्रवृत्तियों तथा उन्हे उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का पूरा परिचय हमें होना चाहिए।...पर उनमें से कभी इसको, कभी उसको, यह कहते हुए सामने रखना कि वर्तमान विश्व-साहित्य का स्वरूप यही है, जिससे हिन्दी-साहित्य अभी बहुत दूर है, अनाड़ीपन ही नहीं जंगलीपन भी है।

—‘गदा की वर्तमान गति’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ५११  
यह ठोक है कि विज्ञान की साधना द्वारा संसार के वर्तमान युग का बहुत-सा रूप योरप का खड़ा किया हुआ है। पर इसका क्या यह मतलब है कि युग का सारा रूप-विद्यान योरप ही करे और हम आराम से जीवन के सब क्षेत्रों में उसी के दिए हुए रूपों को लेकर रूपवान बनते चलें? क्या अपने स्वतंत्र रूप-विकास की हमारी शक्ति सब दिन के लिए मारी गई?

—‘गदा की वर्तमान गति’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ५१०-११

## ॥ र ॥

### (दे० ‘रसानुभूति’ भी)

कवि द्वारा अंकित संपूर्ण दृश्य को श्रोता के भावों का आलंबन मान लेने पर पूर्ण रस वही मानना पड़ेगा जहाँ (क) आश्रय श्रोता के रति भाव कम आलंबन होगा और (ख) आलंबन श्रोता के भी उन्ही भावों का आलंबन होगा आश्रय के जिन भावों का है।

—‘विभाव’, र० भी०, १५७

चमक-दमक कुछ नहीं जहाँ पर,  
भोग-विभूति नहीं विस्मयकर,  
रूप वहाँ के भी अंतस् में कोई प्रिय प्रसंग कहते हैं;  
साहचर्य-सूत-स्निग्ध इलेष रस-सिक्ति सदा लिपटे रहते हैं।  
चमत्कार की चाह वाह पर  
नहीं चारूता उसकी निर्भर।

—‘रूपमय हृदय’, मधु०, ५८

पूर्ण रस में कसर आलम्बन के अनौचित्य और अनुपयुक्तता के कारण होगी, साधारणत्व के कारण नहीं।

—‘काव्य का लक्ष्य’, र० भी०, ६२

रसात्मक प्रसंगों में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि अप्रस्तुत—  
(उपमान) भी उसी प्रकार के भाव-उत्तेजक हो, प्रस्तुत जिस प्रकार के—  
भाव का उत्तेजक हो।

— अलंकार, जा० अं०, ६६

### —, अलंकार और कल्पना

काव्य का आध्यात्मिक स्वरूप या आत्मा भाव या रस है। अलंकार उसके बाह्य स्वरूप हैं। दोनों में कल्पना का काम पड़ता है।

—‘काव्य का लक्ष्य’, र० मी०, १०५

### —दशा

रस-दशा में अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है।...इसी को पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति में अहं का विसर्जन और निःसंगता (इम्पर्स-नैलिटी एंड डिटैचमेट) कहते हैं। इसी को चाहे रस का लोकोत्तरत्व या ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व कहिए, चाहे विभावन-व्यापार का अलौकिकत्व।

—‘रसात्मक बोध के विविध रूप’, चिन्ता०-१, २४७

सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेष-ताओं के बीच मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को देख सके। इसी लोक-हृदय में लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।

—‘साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्रियवाद’, चिन्ता०-१, २२७

### —निर्णय

सहृदय पुरुषों के हृदय में प्रसुप्त भाव ही रस का रूप धारण करते हैं, जब वे विभावादि के द्वारा वर्णित किये जाते हैं।

—‘शब्द-शक्ति’, र० मी०, ४१४

### —प्रवणता

कवि अपनी स्वभावगत भावुकता की जिस उमंग में रखना करने में प्रवृत्त होता है और उसके विधान में तत्पर रहता है, उसे यदि हम कुछ कहना चाहे तो रस-प्रवणता या रसोन्मुखता कह सकते हैं।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, १०४

## —विरोध

- तीन दृष्टियों से हो सकता है—  
(१) आश्रय की दृष्टि से,  
(२) आलंबन की दृष्टि से, और  
(३) श्रोता की दृष्टि से।

—‘विरोध-विचार’, २० मी०, २४८

## —स्रोत

ए हो बन बंजर कछार हरे-भरे खेत !  
विटप विहंग ! सुनो अपनी सुनावें हम ।  
छूटे तुम, तो भी चाह चित से न छूटी यह,  
बसते तुम्हारे बीच फिर कभी आवें हम ।  
सड़े चले जा रहे हैं गड़े अपने ही बीच;  
जो कुछ बचा है उसे बचा कहाँ पावें हम ?  
मूल रस-स्रोत हो हमारे वही, छोड़ तुम्हें  
सूखते हृदय सरसाने कहाँ जावें हम !

—‘हृदय का मधुर भार’, मधु०, ३२

## रसखान

इनकी भाषा बहुत चलती, सरस और शब्दाडंबरमुक्त होती थी। शुद्ध ब्रजभाषा का जो चलतापन और सफाई इनकी और घनानंद की रचनाओं में है वह अन्यदि दुर्लभ है।

—‘कृष्ण भक्ति शास्त्र’, हि० सा० ६०, १७७

## रसानुभूति

भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामन्जस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति हो नहीं सकती।

—‘साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद’, चिन्ता०-१, २२७  
रस की अनुभूति एक प्राकृतिक, और स्वाभाविक अनुभूति है जो किसी प्रकार उत्कृष्ट काव्य द्वारा भी हो सकती है।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, ६५

रसानुभूति प्रत्यक्ष या वास्तविक अनुभूति से सर्वथा पूर्शक कोई अन्तर्वृत्ति नहीं है बल्कि उसी का एक उदात्त और अवदात स्वरूप है।

—‘रसात्मक बोध के विविध रूप’, चिन्ता०-१, २५३

शील विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादातम्य-दशा की अनुभूति (जिसे आचार्यों ने रस कहा है) दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ हैं।

—‘साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद’, चिन्ता०-१, २३३  
साक्षात्कार होने पर ही, कल्पना में पूर्ण बिंबन होने पर ही रसानुभूति हो सकती है।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, ३२

### —की कोटियाँ

शील विशेष के परिज्ञान से उत्पन्न भाव की अनुभूति और आश्रय के साथ तादातम्य-दशा की अनुभूति (जिसे आचार्यों ने रस कहा है) दो भिन्न कोटि की रसानुभूतियाँ हैं।

—‘प्रस्तुत रूप-विद्यान्’, र० मी०, ३१५

## रहस्य

किसी विशेष समुदाय या व्यक्ति के भीतर स्फुरित स्वरूप भावना का ही नाम हमारे यहाँ ‘रहस्य’ है। ‘रहस्य’ का अर्थ है किसी का निजी या प्राइवेट (Private)।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, ५७

### रहस्यवाद (दे० ‘छायावाद’ भी)

अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद को लेकर चलने वाली भावना से सूक्ष्म और उच्च कोटि के रहस्यवाद की प्रतिष्ठा होती है।

—‘जायसी का रहस्यवाद’, जा० ग्र०, १५०

अव्यक्त, अमौलिक और अज्ञात का अभिलाष—यह बिल्कुल विदेशी कल्पना है और मजहबी रुकावटों के कारण पैगम्बरी मत मानने वाले देशों में की गई है।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ८१

काव्य में ‘रहस्य’ कोई ‘वाद’ है न ऐसा, जिसे लेकर निराला कोई पंथ ही खड़ा करे; यह तो परोक्ष सूचि रंग की ही ज्ञाइं है, जो पड़ती है व्यक्त में अव्यक्त बिंबता धरे। दृष्टि जो हमारी कर देती है लीन किसी धुँधली सी माधुरी में लोक-काल से परे;

किनु जो इसी के सदा झूठे स्वाँग रचे, उसे  
हँक दो, न धूम-धूम खेतो काव्य की चरे ।

—‘पाखड प्रतिषेध’, मध्य०, ८४

जिस प्रकार पूर्वराग में आलंबन अज्ञात नहीं रहता, चित्र आदि द्वारा अंशतः ज्ञात रहता है, उसी प्रकार जिसे रहस्यवादी अज्ञात कहता है वह भी, छाया या प्रतिर्बिब के द्वारा सही, अंशतः ज्ञात रहता है ।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ११४

भारतवर्ष में तो यह ज्ञानक्षेत्र से निकला और अधिकतर ज्ञानक्षेत्र में ही रहा; पर अरब, फारस आदि में जाकर यह भाव-क्षेत्र के बीच मनोहर रहस्य-भावना के रूप में फैला ।

—‘जायसी का रहस्यवाद’, जा० ग्र०, १४६

भारतवर्ष में धर्म के भीतर भी ज्ञान की प्रकृत पद्धति स्वीकृत थी; अतः न ज्ञान के क्षेत्र में और न भगवत्प्रेम के क्षेत्र में रहस्यवाद की आवश्यकता दुर्ही ।

—‘काव्य में अभिव्यजनावाद’, चिन्ता०-२, २०६

भारतवर्ष में साधनात्मक रहस्यवाद ही हठयोग, तन्त्र और रसायन के रूप में प्रचलित था । जिस समय सूफी यहाँ आए उस समय उन्हे रहस्य की प्रवृत्ति हठयोगियों, रसायनियो और तांत्रिकों में ही दिखाई पड़ी ।

—‘जायसी का रहस्यवाद’, जा० ग्र०, १५३

योग के नाम से जो साधनात्मक रहस्यवाद बौद्ध और शैव सम्प्रदायों में चला था रहा था वही सूफियों को मिला ।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, ३५

रहस्यवाद की कविताओं में सबसे अधिक विरक्ति-जनक दो बातें होती हैं—भावों में सच्चाई का अभाव (इनसिन्सियरिटी) और व्यंजना की क्विमता (आर्टीफिशैलिटी)

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, १२२

रहस्यवाद की सबसे पहली बात है अज्ञात निर्विशेष परम सत्ता के साथ समानम और संलाप, सीधे जिसके द्वारा भक्त या साधक को लोकोत्तर या पारमार्थिक ज्ञान की उपलब्धि होती है । हमारे भक्ति मार्ग में इसका कही नाम नहीं है ।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, ६१

रहस्यवाद दो प्रकार का होता है—भावात्मक और साधनात्मक । हमारे यहाँ का योग मार्ग साधनात्मक रहस्यवाद है ।

—‘जायसी का रहस्यवाद’, जा० ग्र०, १५०

स्वाभाविक रहस्य-भावना बड़ी रमणीय और मधुर भावना है, इसमें सन्देह नहीं।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, १३०

### —और उपनिषद्

‘रहस्यवाद’ का मूल मंत्र है ‘अज्ञात की उपासना’। उपनिषदों का मूल मंत्र है स्वरूपबोधि के सहित उपासना।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, ५५

### —और नक्ल

नक्ल से किसी जाति के साहित्य का असली गौरव नहीं हो सकता। इससे उसकी अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता और अपनी उद्भावना का अभाव ही व्यंजित होता है। (द० ‘नक्ल’ भी—सं०)

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, १५५

### —काव्यगत-

काव्यगत रहस्यवाद की उत्पत्ति भक्ति की व्यापक व्यंजना के लिए ही फारस, अरब तथा योरप में हुई जहाँ पैगम्बरी मतों के कारण मनुष्य का हृदय बँधा-बँधा ऊब रहा था।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, १२३

रहस्यवाद की कविता के सम्बन्ध में हिन्दी वालों के दीच यह भ्रांति फैलाना कि सारे योरप में इसी प्रकार की कविता हो रही है, यही वर्तमान युग की कविता का स्वरूप है, घोर साहित्यिक अपराध है।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, १२१

विलयती रहस्यवाद की कविताओं में बाहरी विशेषता जो दिखाई पड़ी, वह थी लाक्षणिक प्रगल्भता और वाग्वैचित्र्य।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, १४२

### —छायावाद में-

क्या बाल्मीकि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक कोई एक भी ऐसा कवि बताया जा सकता है, जिसने अज्ञेय और अव्यक्त को अज्ञेय और अव्यक्त ही रखकर प्रियतम बनाया हो और उसके प्रति कामुकता के शब्दों में प्रेम व्यंजना की हो? कबीरदास...हमारे यहाँ के ज्ञानवाद और सूक्षियों के

भावात्मक रहस्यवाद को लेकर चले...उसी भावात्मक रहस्य-परंपरा का यह (छायावाद—स०) नूतन भावभंगी और लाक्षणिकता के साथ आविभाव है।

—‘नई धारा’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६२२-६२३

रहस्यवाद के अतर्भूत (छायावादी—स०) रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने संतों या साधकों की उस वाणी के अनुकरण पर होती है जो तुरीयावस्था या समाधि-दशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थीं। इस रूपात्मक आभास को योरप में ‘छाया’ (फैटसमाटा) कहते थे। इसीसे बंगाल में ब्रह्मसमाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे, वे ‘छायावाद’ कहलाने लगे। धीरे-धीरे यह शब्द धार्मिक-क्षेत्र से वहाँ के साहित्य क्षेत्र में आया और फिर रवीद्र बाबू की धूम मचने पर हिन्दी के साहित्य क्षेत्र में भी प्रकट हुआ।

—‘नई धारा’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६३७

### —भक्तिकाव्य में-

भक्तिकाव्य में रहस्यवाद की उत्पत्ति के धार्मिक और सामाजिक कारण पर जो विचार करेगा उसे यह लक्षित हो जायेगा कि यह सब द्वाविड़ी प्राणायाम मजहबी तहजीब, धार्मिक शिष्टता (रेलीजस कर्टेसी) के अनुरोध से करना पड़ा।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, १२५

### —भारतीय-, पञ्चिंग में चर्चा

भारतीयों की आध्यात्मिकता और रहस्यवादिता की चर्चा पञ्चिंग में बहुत हुआ करती है। इस चर्चा के मूल में कई बातें हैं। एक तो ये शब्द हमारी अकर्मण्यता और बुद्धि-शैथिल्य पर पर्दा डालते हैं।...दूसरी यह है कि ये शब्द पूरबी और पञ्चिंगी जातियों के बीच एक ऐसी सीमा बांधते हैं, जिससे पञ्चिंग में हमारे संबंध में एक कुतूहल-सा जाग्रत रहता है...तीसरी बात यह है कि आधिभौतिक समृद्धि के हेतु जो भीषण संघर्ष संकड़ों वर्ष तक योरप में रहा, उससे क्लात और शिथिल होकर बहुत से लोग जीवन के लक्ष्य में कुछ परिवर्तन चाहने लगे—शांति और विश्राम के अभिलाषी हुए।

—‘गद की वर्तमान गति’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ५४०

## —साधनात्मक-

यह कौन कहता है कि मत-मतांतरों की साधना के क्षेत्र में रहस्यमार्ग नहीं चले ? योग रहस्यमार्ग है, तत्र रहस्यमार्ग है, रसायन भी रहस्यमार्ग है। पर ये सब साधनात्मक हैं; प्रकृत भावभूमि या काव्यभूमि के भीतर चले हुए मार्ग नहीं। भारतीय परपरा का कोई कवि मणिपुर, अनाहत आदि चक्रों को लेकर तरह-तरह के रंगमहल बनाने में प्रवृत्त नहीं हुआ।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ६२२

## —सिद्धों-नाथों में (दे० ‘योगधारा’, ‘सत’, ‘सिद्ध’ भी)

अपने को रहस्यदर्शी प्रदर्शित करने के लिए शास्त्रज्ञ पंडितों और विद्वानों को फटकारना भी वे (नाथपंथी—सं०) जल्ही समझते थे।

—‘आदिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), २१

इस (नाथ—सं०) संप्रदाय के कनफटे रमते योगी घट के भीतर के चक्रों, सहस्रदल कमल, इला, पिंगला नाड़ियों इत्यादि की ओर सकेत करनेवाली रहस्यमय बानियाँ सुनाकर और करामात दिखाकर अपनी सिद्धाई की धाक सामान्य जनता पर जमाए हुए थे।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ६६

उनकी बानी तो ‘गुह्य, रहस्य और सिद्ध’ लेकर उठी थी। अपनी रहस्य-दर्शिता की धाक जमाने के लिए वे बाह्य जगत की बातें छोड़, घर के भीतर के कोठों की बात बताया करते थे।

—‘भक्तिकाल’ हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ६४

रहस्यमार्गियों की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार सिद्ध लोग अपनी बानी को ऐसी पहेली के रूप में भी रखते थे, जिसे कोई विरला ही बूझ सकता है।

—‘आदिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), १४

## रहीम

भाषा पर तुलसी का सा अधिकार हम रहीम का भी पाते हैं। ये ब्रज और अवधी—पच्छमी और पूर्वी—दोनों काव्य-भाषाओं में समान कुशल थे।

—‘भक्तिकाल की फुटकल रचनाएँ’, हिं० सा० इ०, २०१

ये संस्कृत, अरबी और फारसी के पूर्ण विद्वान् और हिंदी काव्य के पूर्ण मर्मज्ञ कवि थे।

—‘भक्तिकाल की फुटकल रचनाएँ’, हिं० सा० इ०, २००

रहीम के दोहे वृन्द और गिरिधर के पद्मों के समान कोरी नीति के पद्म नहीं हैं। उनमें मार्मिकता है, उनके भीतर से एक सच्चा हृदय ज्ञाँक रहा है। जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि में होगी वही जनता का प्यारा कवि होगा।

—‘भक्तिकाल की फुटकल रचनाएँ’, हिं० साँ० इ०, २०१

### राग

किसी व्यक्ति या वस्तु को जानना ही वह शक्ति नहीं है जो उस व्यक्ति या वस्तु को हमारी अंतस्सत्ता में सम्मिलित कर दे, वह शक्ति है राग या प्रेम।

‘स्मृत रूप-विद्यान्’, २० मी०, २७८

रति या प्रीति नाम की पद्धति का मूल संस्थापक भाव क्या कहा जा सकता है? मैं तो उसे राग कहना अच्छा समझता हूँ। लोभ भी कह सकते हैं।

—‘विभाव’, २० मी०, १७६

राग की वासना दो भावों का प्रवर्त्तन करती है—प्रेम का और करुणा का। प्रेम के लिए व्यक्ति की कोई विशेषता अपेक्षित होती है। अपने प्रवर्त्तक ‘राग’ के समान उसमें निर्विशेषता नहीं होती। इस प्रकार की निर्विशेषता करुणा ही में होती है।

—‘काव्य के विभाग’, २० मी०, ७८

रागात्मिका वृत्ति को मार डालना तो बात ही बात है। अतः उसे एक अच्छी जगह टिका देना चाहिए...जहाँ से वह न लोकधर्म के पालन में, न शील की उच्च साधना में और न ज्ञान के मार्ग में बाधक हो सके। इसके लिए भगवान के सगुण रूप से बढ़कर और क्या आलंबन हो सकता है!

—‘ज्ञान और भक्ति’, गो० तु०, ५६

सीधी बात यह कि वासनात्मक अवस्था में आया हुआ राग ही अनुराग या प्रेम है। राग वास्तव में व्यक्तिबद्ध नहीं होता। किसी के रूप, गुण आदि का उत्कर्ष सुनकर जो पूर्वराग होता है वह भी उत्तेजित राग ही रहता है।

—‘काव्य के विभाग’, २० मी०, ७६

### —द्वेष

राग मिलाने वाली वासना है और द्वेष अलग करने वाली।

—‘काव्य के विभाग’, २० मी०, ७६

हम केवल उन्हीं से राग-द्वेष नहीं रखते जिनसे हम घरे हुए हैं, बल्कि  
उनसे भी जो अब इस संसार में नहीं है, पहले कभी हो चुके हैं।

—‘विभाव’, २० सौ, १४८

## राज्याश्रय

क्या सस्कृत साहित्य में, क्या हिंदी साहित्य में सहसो कवियों ने अपने  
आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा में ग्रंथ रचे, जिनका आज पता तक नहीं  
है। पुरानी वस्तु खोजने वालों को ही कभी-कभी किसी राजा के पुस्त-  
कालय में, कहीं किसी घर के कोने में, उनमें से दो-चार इधर-उधर मिल  
जाते हैं। जिस भोज ने दान देकर अपनी इतनी तारीफ कराई उसके  
चरितकाव्य भी कवियों ने लिखे होगे। पर उन्हे आज कौन जानता है?

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), २४६

यदि बिहारी ने जयर्सिंह की प्रशंसा में ही अपने सात सौ दोहे बनाए होते  
तो उनके हाथ केवल अशर्फियाँ ही लगी होती। संस्कृत और हिंदी के न  
जाने कितने कवियों का प्रौढ़ साहित्यिक श्रम इस प्रकार लुप्त हो गया।  
काव्य-क्षेत्र में यह एक शिक्षाप्रद घटना हुई है।

—‘रीतिकाल के अन्य कवि’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ३०६

शृंगार के वर्णन को बहुतेरे (रीतिकालीन—सं०) कवियों ने अश्लीलता की  
सीमा तक पहुँचा दिया था। इसका कारण जनता की रुचि नहीं, आश्रय-  
दाता राजा-महाराजाओं की रुचि थी, जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता  
का जीवन बहुत कम रह गया था।

—‘रीतिकाल, सामान्य परिचय’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), २३३

## राधा-कृष्ण (दे० ‘कृष्णभक्ति’, ‘भक्ति’, ‘सूरदास’ भी)

जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन (भक्तिकालीन—सं०) भक्तों ने  
अपनी गुढातिमूढ़ चरम भक्ति का व्यंजक बनाया, उसको लेकर आगे के  
कवियों ने शृंगार की उन्मादकारिणी उकितयों से हिन्दी काव्य को भर  
दिया।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), १५६

जो लड़ी चौंज किसी बरतन में जाकर तिरछी हो जायगी, वह बड़ी  
मुश्किल से निकलेगी। कृष्ण की मूर्ति का राधा जब ध्यान करने लगती हैं,  
तब उनकी निर्भंगी मूर्ति ही ध्यान में आती है, इसी से वह मन में अटक-

सी गई है, निकलती नहीं है। वचन की जो वक्ता भाव प्रेरित होती है, वही काव्य होती है।

—‘महाकवि सूरदास’, छ० गी० सा० (२०२६ स०), ४६

मेरी समझ में शृंगार में नायिका की प्रेम-दशा या विरह-दशा का प्राधान्य ‘श्रीमद्भागवत’ और ‘ब्रह्मवैवर्तपुराण’ की कृष्ण-लीला के अधिकाधिक प्रचार के साथ हुआ, जिसमें एक ओर तो अनंत सौंदर्य की स्थापना की गई और दूसरी ओर स्वाभाविक प्रेम का उदय दिखाया गया। पुरुष आलंबन हुआ और स्त्री आश्रय। जनता के बीच प्रेम के इस स्वरूप ने यहाँ तक प्रचार पाया कि क्या नगरो में, क्या ग्रामों में, सर्वत्र प्रेम के गीतों के नायक कृष्ण हुए और नायिका राधा।

—‘महाकवि सूरदास’, छ० गी० सा० (२०२६ स०), २०

राधा-कृष्ण के प्रेम को लेकर कृष्ण-भक्ति की जो काव्यधारा चली, उसमें लीला पक्ष अर्थात् बाह्यार्थ-विद्यान की प्रधानता रही है। उसमें केलि, विलास, रास, छेड़छाड़, मिलन की युक्तियों आदि बाहरी बातों का ही विशेष वर्णन है। प्रेमलीन हृदय की नाना अनुभूतियों की व्यंजना कम है।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), १६७

राम(दे० ‘तुलसीदास’, ‘भक्ति’, ‘रामचरितमानस’ भी)

अनन्त शक्ति के साथ धीरता, गंभीरता और कोमलता ‘राम’ का प्रधान लक्षण है। यही उनका ‘रामत्व’ है। अपनी शक्ति की स्वानुभूति ही उस उत्साह का मूल है जिससे बड़े-बड़े दुर्साध्य कर्म होते हैं।

—‘शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण’, गो० तु०, १०९

भक्तों को सबसे अधिक वश में करने वाला राम का गुण है—शरणागत की रक्षा। अत्यत प्राचीन काल से ही शरणप्राप्त की रक्षा करना भारत-वर्ष में बड़ा भारी धर्म माना जाता है।

—‘शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण’, गो० तु०, १०४

राम के चरित्र की इस (उपर्युक्त—स०) उज्ज्वलता के बीच एक धब्बा भी दिखाई देता है। वह है बालि को छिपकर मारना। बाल्मीकि और तुलसीदास जी दोनों ने इस धब्बे पर कुछ सफेद रंग पोतने का प्रयत्न किया है। पर हमारे देखने में तो यह धब्बा ही संपूर्ण रामचरित को उच्च आदर्श के अनुरूप एक कल्पना मात्र समझे जाने से बचाता है।

—‘शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण’, गो० तु०, १०५

राम के बिना हिंदू जीवन नीरस है—फीका है। यही रामरस उसका स्वाद बनाए रहा और बनाए रहेगा। राम ही का पूँह देख हिंदू जनता का इतना बड़ा भाग अपने धर्म और जाति के घेरे में पड़ा रहा। न उसे तलवार हटा सकी, न धनमान का लोभ, न उपदेशों की तड़क-भड़क।

—‘धर्म और जातीयता का समन्वय’, गो० तु०, ३१

राम पूर्ण धर्मस्वरूप हैं क्योंकि अखिल विश्व की स्थिति उन्हीं से है। धर्म का विरोध और राम का विरोध एक ही बात है। जिसे राम प्रिय नहीं, उसे धर्म प्रिय नहीं।

—‘‘मानस’ की धर्मभूमि’, गो० तु०, १५७

विदेशी कच्चा रग एक चढ़ा, एक छूटा, पर भीतर जो पक्का रग था, वह बना रहा। हमने चौड़ी मोहरी का पायजामा पहना, ‘आदाब अर्ज’ किया, पर ‘राम-राम’ न छोड़ा। अब कोट-पतलून पहनकर बाहर ‘डैम नान्सेंस’ कहते हैं, पर घर में आते ही फिर वही ‘राम-राम’।

—‘धर्म और जातीयता का समन्वय’, गो० तु०, ३१

### —और कृष्ण

मंगल-शक्ति के अधिष्ठान राम और कृष्ण जैसे पराक्रमशील और धीर हैं वैसे ही उनका रूप-माधुर्य और उनका शील भी लोकोत्तर है।

—‘काव्य के विभाग’, र० मी०, ६२

यदि राम द्वारा रावण का वध तथा कृष्ण के साहाय्य द्वारा जरासंघ और कौरवों का दमन न हो सकता तो भी राम-कृष्ण की गतिविधि में पूरा सौन्दर्य रहता पर उनमें भगवान की पूर्ण कला का दर्शन न होता क्योंकि भगवान की शक्ति अमोघ है। (द० ‘श्रीकृष्ण’ भी)

—‘काव्य के विभाग’, र० मी०, ६०

### —और दशरथ

सत्य की रक्षा उन्होंने प्रिय पुत्र को बनवास देकर और स्नेह की रक्षा प्राण देकर की। यही उनके चरित्र की विशेषता है—यही उनके जीवन का महत्व है।

—‘शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण’, गो० तु०, १०८

### —और भरत

भरत के हृदय का विश्लेषण करते पर हम उसमें लोकभीरुता, स्नेहाद्रता,

भक्ति और धर्मप्रवणता का मेल पाते हैं ।

—‘शील-निरूपण और चरित्र-चित्तण’, गो० तु०, १०७

भरत धर्मस्वरूप भगवान रामचंद्र के सच्चे प्रेमी और भक्त के रूप में हमारे सामने रखे गए हैं ।

—‘मानस’ की धर्मभूमि’, गो० तु०, १५७

### —और रावण

जिस प्रकार राम राम थे, उसी प्रकार रावण रावण था । वह भगवान को उन ललकारने वालों में से था जिसकी ललकार पर उन्हें आना पड़ा था ।

—‘शील-निरूपण और चरित्र-चित्तण’, गो० तु०, ११२

रावण में केवल अपने लिए और अपने दल के लिए शक्ति अर्जित करने भर को धर्म था, समाज में उस शक्ति का सहयोग करनेवाला धर्म नहीं था । रावण पंडित था, तपस्वी था, राजनीतिकुशल था, धीर था, वीर था, पर सब गुणों का उसने दुर्घटयोग किया । उसके मरने पर उसका तेज राम के मुख में समा गया । सत् से निकलकर जो शक्ति असत् रूप हो गई थी, वह फिर सत् में विलीन हो गई ।

—‘शील-निरूपण और चरित्र-चित्तण’, गो० तु०, ११३

### —और लक्ष्मण

उनकी उग्रता ऐसी न थी जो करुणा या दया के गहरे अवसरों पर भी कोमलता या आद्रेता न आने दे ।

—‘शील-निरूपण और चरित्र-चित्तण’, गो० तु०, ११३-११४

राम का स्वभाव धीर और गंभीर था और लक्ष्मण का उग्र और चपल ।

—‘शील-निरूपण और चरित्र-चित्तण’, गो० तु०, १०१

### —और विभीषण

उसे भक्तों की श्रेणी में दाखिल करते समय गोस्वामी जी की दृष्टि गृह-नीति या कुल धर्म की संकुचित सीमा के भीतर बैंधी न रह कर व्यापक लक्ष्यवाले धर्म की ओर थी । धर्म की उच्च और व्यापक भावना के अनु-सार विभीषण को भक्त का स्वरूप प्रदान किया गया है ।

—‘मानस’ की धर्मभूमि’, गो० तु०, १५८

## —और सीता

बन में स्त्रीता का वियोग चारपाई पर करवटे बदलने वाला प्रेम नहीं है... यह राम को निर्जन वनों और पहाड़ों में घुमाने वाला, सेना एकद कराने वाला, पृथ्वी का भार उतारने वाला वियोग है। इस वियोग की गंभीरता के सामने सूरदास द्वारा अंकित वियोग अतिशयोक्तिपूर्ण होने पर भी बालकीड़ा-सा लगता है।

—‘तुलसी की भावुकता’, गो० तु०, ८२

भारत की कुलवधु का विरह आवारा आशिकों-माशूकों का विरह नहीं है, वह जीवन के गांभीर्य को लिए हुए रहता है। यह वह विरह नहीं है, जिसमें विरही अपना ही जलना और मरना देखता है, प्रिय मरता है कि जीता है, इससे कोई मतलब नहीं।

—‘तुलसी की भावुकता’, गो० तु०, ८३

राम ने एक धोबी तक के कहने से अपनी स्त्री को निकाल दिया। इतने पर भी सीता और राम में जो परस्पर गूढ़ प्रेम था, उसमें कुछ भी अंतर न पड़ा। सीता ने स्वामी के इस व्यवहार का कारण राजधर्म की कठोरता ही समझा। यह नहीं समझा कि राम का प्रेम मेरे ऊपर कम हो गया।

—‘शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण’, गो० तु०, १११

सीता प्रकृतिस्वरूप हैं और राम ब्रह्म हैं।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), १३६

सीता-राम के परम पुनीत प्रणय की...परिपक्वता जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं के बीच पति-पत्नी के संबंध की उच्चता और रमणीयता संघटित करती दिखाई देती है।

—‘तुलसी की भावुकता’, गो० तु०, ७६

## —और हनुमान

हनुमान के संबंध में इतना समझ रखना आवश्यक है कि वे सेवक के आदर्श हैं। सेव्य-सेवक-भाव का पूर्ण स्फुरण उनमें दिखाई पड़ता है। बिना किसी प्रकार के पूर्व परिचय के, राम को देखते ही उनके शील, सौदर्य और शक्ति के साक्षात्कार मात्र पर मुराद हो कर पहले-पहल आत्मसमर्पण करने वाले भक्तिराशि हनुमान ही हैं।

—‘शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण’, गो० तु०, ११२

### —कथा

रामकथा के भीतर ये स्थल अत्यत मर्मस्पर्शी हैं—राम का अयोध्या-त्याग और पथिक के रूप में वन-गमन; चित्रकूट में राम और भरत का मिलन; शबरी का आतिथ्य; लक्ष्मण को शक्ति लगने पर राम का विलाप; भरत की प्रतीक्षा।

—‘तुलसी की भावुकता’, गो० तु०, ७१

### —चरित

आत्मपक्ष और लोकपक्ष दोनों का समन्वय रामचरित का लक्ष्य है। हमें अपनी अतर्वृत्ति भी शुद्ध और सात्त्विक रखनी चाहिए और अपने संबंध में लोक की धारणा भी अच्छी बनानी चाहिए। जिसका प्रभाव लोक पर न पड़े, उसे मनुष्यत्व का पूर्ण विकास नहीं कह सकते।

—‘शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण’, गो० तु०, १०७

कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानवस्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता है! जीवन-स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पड़ते हैं! इस क्षेत्र में जो कवि (तुलसीदास—सं०) सर्वत्र पूरा उत्तरता दिखाई पड़ता है, उसकी भावुकता को और कोई नहीं पहुँच सकता।

—‘तुलसी की भावुकता’, गो० तु०, ७४

### —भक्ति शाखा

रामभक्ति की काव्यधारा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सब प्रकार की रचनाएँ हुईं, उसके द्वारा कई प्रकार की रचना-पद्धतियों को उत्तेजना मिली। कृष्णोपासी कवियों ने मुक्तक के एक विशेष अंग गीत-काव्य की ही पूर्ति की, पर रामचरित को लेकर अच्छे-अच्छे प्रबन्धकाव्य रचे गए।

—‘रामभक्ति-शाखा’, हिं० सा० इ०, १३६

### —राज्य

लोक की रक्षा ‘सत्’ का आभास है, लोक का मंगल ‘परमानंद’ का आभास है। इस व्यावहारिक ‘सत्’ और ‘आनंद’ का प्रतीक है रामराज्य।

—‘मगलाशा०’, गो० तु०, ३२

### ‘रामचंद्रिका’ (दे० ‘केशवदास’ भी)

केशव की ‘रामचंद्रिका’ मे पचीसों ऐसे पद्य हैं जिनमे अलंकारों की भट्टी भरती के चमत्कार के सिवा हृदय को स्पर्श करनेवाली या किसी भावना मे मग्न करनेवाली कोई बात न मिलेगी ।

—‘काव्य’, २० मी०, ३६

‘रामचंद्रिका’ अवश्य एक प्रसिद्ध ग्रंथ है । पर यह समझ रखना चाहिए कि केशव के बल उक्ति-वैचित्र्य और शब्द-क्रीड़ा के प्रेमी थे । जीवन के नाना गंभीर और मार्मिक पक्षों पर उनकी दृष्टि नहीं थी । अतः वे मुक्तक रचना के ही उपयुक्त थे, प्रबंध-रचना के नहीं ।

—‘भक्तिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), २०२

‘रामचंद्रिका’ मे केशव को सबसे अधिक सफलता हुई है संवादों में । इन संवादों मे पाद्मों के अनुकूल क्रीड़ा, उत्साह आदि की व्यंजना भी सुदर है ॥००० तथा वाक्पटुता और राजनीति के दाँव-पेच का आभास भी प्रभावपूर्ण है । उनका रावण-अंगद संवाद तुलसी के संवाद से कही अधिक उपयुक्त और सुदर है ।

—‘भक्तिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), २०४

रामायण की कथा का केशव के हृदय पर कोई विशेष प्रभाव रहा हो, यह बात नहीं पाई जाती । उन्हे एक बड़ा प्रबंध काव्य भी लिखने की इच्छा हुई और उन्होंने उसके लिए राम की कथा ले ली । उस कथा के भीतर जो मार्मिक स्थल है उनकी ओर केशव का ध्यान बहुत कम गया है । वे ऐसे स्थलों को या तो छोड़ गए हैं या यो ही इतिवृत्त मात्र कहकर चलता कर दिया है ।

—‘भक्तिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), २०२

### ‘रामचरितमानस’ (दे० ‘तुलसीदास’ ‘भक्ति’, ‘राम’ भी)

इसी एक ग्रंथ से जनसाधारण को नीति का उपदेश, सत्कर्म की उत्तेजना, दुःख में धैर्य, आनंदोत्सव मे उत्साह, कठिन स्थिति को पार करने का बल सबकुछ प्राप्त होता है । यह उनके जीवन का साथी हो गया है ।

—‘तुलसी की कान्यपद्धति’, गो० तु०, ६३

जिस धूमधाम से ‘मानस’ की प्रस्तावना चली है उसे देखते ही ग्रंथ के महत्व का आभास मिल जाता है । उससे साफ़ झलकता है कि तुलसीदास

जी अपने ही तक दृष्टि रखने वाले भक्त न थे, संसार को भी दृष्टि फैलाकर देखने वाले भक्त थे ।

—‘रामभक्ति-शाखा’, हिं० सा० इ०, १३१

‘मानस’ के काव्य-पक्ष का तो कहना ही क्या है ! उसके भीतर मनुष्य जीवन में साधारणतः आनेवाली प्रत्येक दशा और प्रत्येक परिस्थिति का सन्निवेश तथा उस दशा और परिस्थिति का अत्यंत स्वाभाविक, मर्मस्पर्शी और सर्वग्राह्य चित्रण है ।

—‘तुलसी की काव्यपद्धति’, गो० तु०, ६३

‘मानस’ में तुलसीदास जी धर्मोपदेष्टा और नीतिकार के रूप में सामने आते हैं । वह ग्रंथ एक धर्मग्रंथ के रूप में भी लिखा गया और माना जाता है ।

—‘तुलसी की काव्यपद्धति’, गो० तु०, ६४

रचना-कौशल, प्रबन्ध-पटुता, सहृदयता इत्यादि सब गुणों का समाहार हमें ‘रामचरितमानस’ में मिलता है । पहली बात जिस पर ध्यान जाता है, वह है कथा-काव्यों के सब अवयवों का उचित समीकरण ।……इसरी बात है कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान ।…… तीसरी बात है प्रसंगानुकूल भाषा ।…… चौथी बात है शृंगार रस का शिष्ट मर्यादा के भीतर बहुत ही व्यंजक वर्णन ।

—‘रामभक्ति-शाखा’, हिं० सा० इ०, १३०-१३१

‘रामचरितमानस’ में धर्म की ऊँची-नीची विविध भूमियों की झाँकी हमें मिलती है ।

—‘मानस’ की धर्मभूमि’, गो० तु०, १५६

शील और नियम, आत्मपक्ष और लोकपक्ष के समन्वय द्वारा धर्म की…… सर्वतोमुखरक्षा रामायण का गूढ़ रहस्य है । वह धर्म के किसी अंग को नोचकर दिखानेवाला ग्रंथ नहीं है ।

—‘शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण’, गो० तु०, १०६

शैवों और वैष्णवों के विरोध के परिहार का प्रयत्न ‘रामचरितमानस’ में स्थान-स्थान पर लक्षित होता है ।

—‘लोक-धर्म’, गो० तु०, २३

## रामनरेश त्रिपाठी

देशभक्ति को रसात्मक रूप त्रिपाठी जी द्वारा प्राप्त हुआ, इसमें संदेह नहीं ।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ५७८

भाषा की सफाई और कविता के प्रसाद गुण पर इनका बहुत जोर रहता है।...काव्यक्षेत्र में जिस स्वाभाविक स्वच्छता (रोमांटिसिज्म) का आभास प० श्रीधर पाठक ने दिया था, उसके पथ पर चलने वाले द्वितीय उत्थान में त्रिपाठी जी ही दिखाई पड़े।

—‘नई धारा’, हि० सा० इ०, ५७७-५७८

**रामानंद (दे० ‘रामानुजाचार्य’, ‘वैष्णव भक्ति’, ‘शंकराचार्य’ भी)**

इन्होंने उपासना के लिए वैकुठ निवासी विष्णु का स्वरूप न लेकर लोक में लीला-विस्तार करनेवाले उनके अवतार राम का आश्रय लिया। इनके इष्टदेव राम हुए और मूलमन्त्र हुआ राम नाम।

—‘भक्तिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ११६

कर्म के क्षेत्र में शास्त्र मर्यादा इन्हें मान्य थी; पर उपासना के क्षेत्र में किसी प्रकार का लौकिक प्रतिवर्त्य ये नहीं मानते थे।

—‘रामभक्ति-शाखा’, हि० सा० इ०, १०६

भक्ति-मार्ग में इनकी उदारता का अभिप्राय यह कदापि नहीं है—जैसा कि कुछ लोग समझा और कहा करते हैं—कि रामानंदजी वर्णश्रम के विरोधी थे। समाज के लिए वर्ण और आश्रम की व्यवस्था मानते हुए, वे भिन्न-भिन्न कर्तव्यों की योजना स्वीकार करते थे। केवल उपासना के क्षेत्र में उन्होंने सबका समान अधिकार स्वीकार किया।

—‘रामभक्ति-शाखा’, हि० सा० इ०, १०६

रामानंद जी ने केवल यह किया कि विष्णु के अन्य रूपों में ‘रामरूप’ को ही लोक के लिए अधिक कल्याणकारी समझ छाँट लिया और एक सबल सम्प्रदाय का संगठन किया।

—‘रामभक्ति-शाखा’, हि० सा० इ०, १०६

रामानुज संप्रदाय में दीक्षा केवल द्विजातियों को दी जाती थी, पर स्वामी रामानंद ने रामभक्ति का द्वार सब जातियों के लिए खोल दिया और एक उत्साही विरक्त दल का संगठन किया जो आज भी वैरागी के नाम से प्रसिद्ध है।

—‘रामभक्ति-शाखा’, हि० सा० इ०, १०६

**रामानुजाचार्य (दे० ‘रामानंद’, ‘वैष्णव भक्ति’, ‘शंकराचार्य’ भी)**

भक्ति के सम्यक् प्रसार के लिए जैसे दृढ़ आधार की आवश्यकता थी, वैसा दृढ़ आधार स्वामी रामानुजाचार्य (सं० १०७३) ने खड़ा किया।

आचार्य शुक्ल विचार-कोश :: १५७.

उनके विशिष्टाद्वैत के अनुसार चिदचिदिंशिष्ट ब्रह्म के ही अंश जगत् के सारे प्राणी हैं जो उसी से उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन होते हैं। अतः इन जीवों के लिए उद्धार का मार्ग यही है कि वे भक्ति द्वारा उस अंशी का सामीप्य-लाभ करने का यत्न करें।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ११४

### —और अन्य आचार्य

रामानुज से लेकर वल्लभाचार्य तक जितने भक्त दार्शनिक या आचार्य हुए हैं, सबका लक्ष्य शकराचार्य के मायावाद और विवर्तवाद से पीछा छुड़ाना था, जिनके अनुसार भक्ति अविद्या या भ्रांति ही ठहरती थी।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), १५१

### —और वल्लभाचार्य

रामानुजाचार्यजी ने अद्वैत को दो पक्षों (चित् और अचित्) से युक्त या विशिष्ट दिखाया था। वल्लभ ने यह विशिष्टता हटाकर ब्रह्म को फिर शुद्ध किया।...रामानुज और वल्लभ दोनों का मोक्ष कौवल्य से भिन्न है। रामानुज की मुक्ति सारूप्य या सालोक्य मुक्ति है, वल्लभ की सायुज्य।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा० (२०२६ स०), ५१

## रासो

कुछ लोग इस शब्द का संबंध ‘रहस्य’ से बतलाते हैं। पर ‘बीसलदेव रासो’ में काव्य के अर्थ में ‘रसायण’ शब्द बार-बार आया है। अतः हमारी समझ में इसी ‘रसायण’ शब्द से होते-होते ‘रासो’ हो गया है।

—‘बीरगाथाकाल’, हिं० सा० इ०, ३१

### रिचर्ड् स, आई० ए०

आजकल के बहुत गंभीर अँगरेज समालोचक रिचर्ड् स को भी कुछ दशाओं में वास्तविक अनुभूति के रसात्मक होने का आभास-सा हुआ है।

—‘प्रत्यक्ष रूप-विद्यान्’, २० मी०, २७२

### रीतिकार (दे० ‘रीतिकाल’, ‘रीतिग्रथ’ भी)

रीतिकाल के भीतर जितने लक्षणग्रन्थ लिखने वाले हुए वे वास्तव में कवि थे और उन्होंने कविता करने के उद्देश्य से ही वे ग्रन्थ लिखे थे, न कि विषय प्रतिपादन की दृष्टि से। पर महाराज जसवंतसिंहजी इस

नियम के अपवाद थे। वे आचार्य की हैसियत से साहित्य-क्षेत्र में आए, कवि की हैसियत से नहीं।

—‘रीतिकाल : रीतिग्रथकार कवि’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), २३६  
संस्कृत साहित्य में कवि और आचार्य दो भिन्न-भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे हैं। हिन्दी काव्य-क्षेत्र में यह भेद लुप्त-सा हो गया। इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा न पड़ा। आचार्यत्व के लिए जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्यालोचन शक्ति की अपेक्षा होती है उसका विकास नहीं हुआ। कवि लोग एक दोहे में अपर्याप्त लक्षण देकर अपने कविकर्म में प्रवृत्त हो जाते थे। काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खंडन-मंडन, नवे-नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि कुछ भी न हुआ।

—‘रीतिकाल : सामान्य परिचय’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), २२६  
हिन्दी में लक्षणग्रंथ की परिपाठी पर रचना करनेवाले जो सैकड़ों कवि हुए, वे आचार्य कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्तव में कवि ही थे। उनमें आचार्यत्व के गुण नहीं थे।

—‘रीतिकाल : सामान्य परिचय’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), २२७

### रीतिकाल (दे० ‘रीतिकार’, ‘रीतिग्रंथ’ भी)

प्रबन्ध काव्य की उन्नति इस काल में कुछ विशेष न हो पाई। लिखे तो अनेक कथाप्रबन्ध गए पर उनमें से दो ही चार में कवित्व का यथेष्ट आकर्षण पाया जाता है।

—‘रीतिकाल के अन्य कवि’, हि० सा० इ०, २६७  
यह न समझा जाये कि रीतिकाल के भीतर साहित्यशास्त्र पर गंभीर और विस्तृत विवेचन तथा नई-नई बातों की उद्भावना होती रही।

—‘रीतिकाल : सामान्य परिचय’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), २२७  
रीतिकाल में एक बड़े भारी अभाव की पूर्ति हो जानी चाहिए थी, पर वह नहीं हुई। १०० यदि शब्दों के रूप स्थिर हो जाते और शुद्ध रूपों के प्रयोग पर जोर दिया जाता तो शब्दों को तोड़मरोड़कर विकृत करने का साहस कवियों को न होता। पर इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं हुई, जिससे भाषा में बहुत कुछ गड़बड़ी बनी रही।

—‘रीतिकाल : सामान्य परिचय’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), २३०

### —का आरंभ

हिन्दी रीति ग्रंथों की अखंड परंपरा चितामणि निपाठी से चली, अतः

रीतिकाल का आरंभ उन्ही से मानना चाहिए।

—‘रीतिकाल : सामान्य परिचय’, हिं० सा० ३०, २१६

### —का नामकरण

वास्तव में शृंगार और वीर इन्ही दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई ‘शृंगार काल’ कहे तो कह सकता है।

‘रीतिकाल : सामान्य परिचय’, हिं० सा० ३०, २२३

### —की कविता

सूर और तुलसी आदि स्वच्छन्द कवियों ने हिन्दी कविता को उठाकर छाड़ा ही किया था कि रीतिकाल के शृंगारी कवियों ने उसके पैर छीनकर उसे गन्दी गलियों में भटकने के लिए छोड़ दिया।

—‘आरतेन्दु हरिश्चन्द्र’, चिन्ता०-१, १६७

### —के छंद

रीतिकाल के कवियों के प्रिय छंद कवित्त और सबैया ही रहे।

—‘रीतिकाल : सामान्य परिचय’, हिं० सा० ३०, २२३

### —के प्रमुख कवि

(आलम) आलम रीतिबद्ध रचना करने वाले कवि नहीं थे। ये प्रेमोन्मत्त कवि थे और अपनी तरंग के अनुसार रचना करते थे। इसी से इनकी रचनाओं में हृदय-नत्त्व की प्रधानता है। ‘प्रेम की पीर’ या ‘इश्क का दर्द’ इनके एक-एक वाक्य में भरा पाया जाता है।...प्रेम की तन्मयता की दृष्टि से आलम की गणना ‘रसखान’ और ‘धनानंद’ की कोटि में ही होनी चाहिए।

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० ३० (२०२५ सं०), ३१५

(गिरधर कविराज) इनकी नीति की कुँडलियाँ ग्राम-ग्राम में प्रसिद्ध हैं। अपढ़ लोग भी दो-चार चरण जानते हैं। इस सर्वप्रियता का कारण है बिलकुल सीधी-सादी भाषा में तथ्यमात्र का कथन। इनमें न तो अनुप्राप्त आदि द्वारा भाषा की सजावट है, न उपमा-उत्प्रेक्षा आदि का चमत्कार।

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० ३० (२०२५ सं०), ३३८

सब बातों के विचार से ये कोरे ‘पद्यकार’ ही कहे जा सकते हैं; सूक्तिकार भी नहीं। वृंद कवि में और इनमें यही अंतर है।

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० ३० (२०२५ सं०), ३३६

(धनआनंद) इनकी अधिकांश कविता भक्तिकाव्य की कोटि में नहीं आएगी, शृंगार की ही कही जाएगी। लौकिक प्रेम की दीक्षा पाकर ही ये पीछे भगवत्प्रेम में लीन हुए।

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ३२१

धनानंद जी उन विरले कवियों में हैं जो भाषा की व्यंजकता बढ़ाते हैं। अपनी भावनाओं के अनूठे रूपरंग की व्यंजना के लिए भाषा का ऐसा बेघड़क प्रयोग करनेवाला हिन्दी के पुराने कवियों में दूसरा नहीं हुआ।

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ३२२

धनानंद ने न तो विहारी की तरह विरहताप को बाहरी माप से मापा है, न बाहरी उछल-कूद दिखाई है। जो कुछ हलचल है, वह भीतर की है—बाहर से वह कियोग प्रशांत और गंभीर है, न उसमें करवटें बदलना है, न सेज का आग की तरह तपना है, न उछल-उछलकर भागना है।

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० इ०, (२०२५ सं०), ३२२

प्रेम-मार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबादानी का ऐसा दावा रखनेवाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ।

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ३२०

ये साक्षात् रसमूर्ति और ब्रजभाषा काव्य के प्रधान स्तंभों में हैं।

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ३१६

लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और प्रयोग-वैचित्र्य की जो छटा इनमें दिखाई पड़ी, खेद है कि वह फिर पौने दो सौ वर्ष पीछे जाकर आधुनिक काल के उत्तरार्द्ध में, अर्थात् वर्तमानकाल की नूतन काव्यधारा में ही, ‘अभिव्यंजनावाद’ के प्रभाव से कुछ विदेशी रंग लिए प्रकट हुईं।

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ३२२-३२३

(चंद्रशेखर) शृंगाररस की कविता करने में भी ये बहुत ही प्रवीण थे, पर इनकी कीर्ति को चिरकाल तक स्थिर रखने के लिए ‘हम्मीर हठ’ ही पर्याप्त है। उत्साह की उमंग की व्यंजना जैसी चलती, स्वाभाविक और जोरदार भाषा में इन्होने की है, वैसे ढंग से करने में बहुत ही कम कवि समर्थ हुए हैं। वीर रस के वर्णन में इस कवि ने बहुत ही सुदर साहित्यिक विवेक का परिचय दिया है।

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ३६८

(ठाकुर) ठाकुर बहुत ही सच्ची उमंग के कवि थे। इनमें कृतिमत्ता का लेश नहीं। न तो कही व्यर्थ का शब्दांबर है, न कल्पना की झूठी उड़ान और न अनुभूति के विश्वद्वारों का उत्कर्ष। जैसे भावों का जिस ढंग से मनुष्य

मात्र अनुभव करते हैं, वैसे भावों को उसी ढंग से यह कवि अपनी स्वाभा-विक भाषा में उतार देता है।

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ३६२-लोकोक्तियों का जैसा मधुर उपयोग ठाकुर ने किया है, वैसा और किसी कवि ने नहीं। । ॥ ठाकुर सच्चे उदार, भावुक और हृदय के पारखी कवि थे।

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ३६३-  
(दीनदयालगिरि) जलदी नहीं कहते बनता कि इनमें कलापक्ष प्रधान है या हृदयपक्ष। बड़ी अच्छी बात इनमें यह है कि इन्होंने दोनों को प्रायः अलग-अलग रखा है। अपनी मार्मिक रचनाओं के भीतर इन्होंने चमत्कार प्रवृत्ति का प्रवेश प्रायः नहीं होने दिया है।

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ३७२-ये एक अत्यंत सहृदय और भावुक कवि थे। इनकी-सी अन्योक्तियाँ हिन्दी के और किसी कवि की नहीं हुईं। यद्यपि इन अन्योक्तियों के भाव अधिकांश सस्कृत से लिए हुए हैं, पर भाषा-शैली की सरसता और पद-विन्यास की मनोहरता के विचार से वे स्वतंत्र काव्य के रूप में हैं।

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ३७१-  
(इलह) देव, दास, मतिराम आदि के साथ इलह का भी नाम लिया जाता है। इनकी इस सर्वप्रियता का कारण इनकी रचना की मधुर कल्पना, मार्मिकता और प्रौढ़ता है। इनके वचन अलंकारों के प्रमाण में भी सुनाए जाते हैं और सहृदय श्रोताओं के मनोरंजन के लिए भी। किसी कवि ने इनपर प्रसन्न होकर यहाँ तक कहा है कि ‘और बराती सकल कवि, दूल्ह हूँ दूलहराय।’

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), २७७-२७८-  
(देव) इनका-सा अर्थ-सौष्ठुव और नवोन्मेष विरले ही कवियों में मिलता है। रीतिकाल के कवियों में वे बड़े ही प्रगल्भ और प्रतिभासंपन्न कवि थे, इसमें सदेह नहीं।

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), २५७-  
कभी-कभी वे कुछ बड़े और पेचीले मजमून का हौसला बांधते थे, पर अनुप्रास के आडंबर की रुचि बीच ही में उसका झंग-झंग करके सारे पञ्च को कीचड़ में फैसा छकड़ा बना देती थी। भाषा में कहीं-कहीं स्निग्ध-प्रचाह न आने का एक कारण यह भी था।

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), २५८-

थे आचार्य और कवि दोनों रूपों में हमारे सामने आते हैं... आचार्यत्व के पद के अनुरूप कार्य करने में रीतिकाल के कवियों में पूर्णरूप से कोई समर्थ नहीं हुआ... आचार्य के रूप में देव को भी कोई विशेष स्थान नहीं दिया जा सकता। (द० 'देव' भी—सं०)

—‘रीतिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), २५५

(द्विजदेव) ब्रज भाषा के शृंगारी कवियों की परंपरा में हँहें अंतिम प्रसिद्ध कवि समझना चाहिए। जिस प्रकार लक्षण ग्रंथ लिखनेवाले कवियों में पद्माकर अंतिम प्रसिद्ध कवि हैं, उसी प्रकार समूची शृंगार-परंपरा में ये। इनकी-सी सरस और भावमयी फुटकल शृंगारी कविता फिर दुर्लभ हो गई।

—‘रीतिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), ३७७

(पद्माकर भट्ट) भाषा की सब प्रकार की शक्तियों पर इस कवि का अधिकार दिखाई पड़ता है। कहीं तो इनकी भाषा स्त्रिघ्न, मधुर पदावली द्वारा एक सजीव भावभरी प्रेममूर्ति खड़ी करती है, कहीं आव या रस की धारा बहाती है, कहीं अनुप्रासों की मिलित क्षंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीरदर्प से क्षुब्ध वाहनी के समान अकड़ती और कड़कती हुई चलती है और कहीं प्रशांत सरोवर के समान स्थिर और गंभीर होकर मनुष्य जीवन की विश्रांति की छाया दिखाती है।

—‘रीतिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), २६४

ये ऊहा के बल पर कारीगरी के मज़मून बाँधने के प्रयासी कवि न ये, हृदय की सच्ची स्वाभाविक प्रेरणा इनमें थी। लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग द्वारा कहीं-कहीं ये मन की अव्यक्त भावना को ऐसा मूर्तिमान कर देते हैं कि सुननेवालों का हृदय आप-से-आप हामी भरता है। यह लाक्षणिकता भी इनकी एक बड़ी भारी विशेषता है।

—‘रीतिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), २६६

रीतिकाल के कवियों में सहृदय समाज इन्हें बहुत श्रेष्ठ स्थान देता आया है। ऐसा सर्वप्रिय कवि इस काल के भीतर बिहारी को छोड़ दूसरा नहीं हुआ। इनकी रचना की रमणीयता ही इस सर्वप्रियता का एकमात्र कारण है। (द० ‘पद्माकर’ भी—सं०)

—‘रीतिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), २६३

(प्रतापसाहि) इनकी भाषा में बड़ा भारी गुण यह है कि वह बराबर एक समान चलती है—उसमें न कही कृत्तिम आड़बर का अड़ंगा है, न गति का शैथिल्य और न शब्दों की तोड़-मरोड़।

—‘रीतिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), ३०२

यदि हम आचार्यत्व और कवित्व दोनों के एक अनूठे संयोग की दृष्टि से विचार करते हैं तो मतिराम, श्रीपति और दास से ये कुछ बीस ही छहते हैं। इधर भाषा की स्निग्ध सुख-सरल गति, कल्पना की मूर्तिमत्ता और हृदय की द्रवणशीलता मतिराम, श्रीपति और बेनी प्रवीन के मेल में जाती हैं तो उधर आचार्यत्व इन तीनों से भी और दास से भी कुछ आगे ही दिखाई देता है। (द० 'पद्माकर' भी—सं०)

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ३०१-३०२

(बिहारी) बिहारी ने यद्यपि लक्षण-ग्रंथ के रूप में अपनी ‘सतसई’ नहीं लिखी है, पर ‘नख-शिख’, ‘नायिका-भेद’, ‘षट् ऋतु’ के अंतर्गत उनके सब शृंगारी दोहे आ जाते हैं।...दोहों को बनाते समय बिहारी का ध्यान लक्षणों पर अवश्य था। (द० 'बिहारी' भी—सं०)

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), २४२

(भिखारीदास) इनमें देव की अपेक्षा अधिक रस-विवेक था। इनका ‘शृंगार निर्णय’ अपने ढंग का अनूठा काव्य है। उदाहरण मनोहर और सरस है। भाषा में शब्दाङ्कबार नहीं है। न ये शब्द-चमत्कार पर टूटे हैं, न दूर की सूझ के लिए व्याकुल हुए हैं। इनकी रचना कलापक्ष में संयत और भावपक्ष में रंजनकारिणी है।...देव की-सी ऊँची आकाशा या - कल्पना जिस प्रकार इनमें कम पाई जाती है, उसी प्रकार उनकी-सी असफलता भी कही नहीं मिलती।

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), २६८

दासजी के आचार्यत्व के संबंध में भी हमारा यही कथन है जो देव आदि के विषय में। यद्यपि इस क्षेत्र में औरों को देखते, दासजी ने अधिक काम किया है, पर सच्चे आचार्य का पूरा रूप इन्हें भी नहीं प्राप्त हो सका है। ‘परिस्थिति से’ ये भी लाचार थे। इनके लक्षण भी व्याख्या के बिना अपर्याप्त और कहीं-कहीं भ्रामक हैं और उदाहरण भी कुछ स्थलों पर अशुद्ध हैं।

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ३६७

(भूषण) जो कविताएँ इन्हीं प्रसिद्ध हैं, उनके संबंध में...यह कहना कि वे कितनी ओजस्विनी और वीरतापूर्ण हैं, पिष्टपेषण मात्र होगा। यहाँ इनना ही कहना आवश्यक है कि भूषण वीर रस के ही कवि थे। (द० 'भूषण' भी—सं०)

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), २४७

(मतिराम) मतिराम की रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनकी सरलता अत्यंत स्वाभाविक है, न तो उसमें भावों की कुत्रिमता है, न भाषा

की। भाषा शब्दार्दंबर से सर्वथा मुक्त है।……इनका सच्चा कवि-हृदय था। ये यदि समय की प्रथा के अनुसार रीति की बँधी लीकों पर चलने के लिए विवश न होते, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार चलने पाते, तो और भी स्वाभाविक और सच्ची भाव-विभूति दिखाते।

—‘रीतिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), २४३-२४४

(लाल) लाल कवि का सा प्रबंधकौशल हिन्दी के कुछ इन-गिने कवियों में ही पाया जाता है। शब्द-वैचित्र्य और चमत्कार के फेर में इन्होंने कृतिमता कही से नहीं आने दी है। भावों का उत्कर्ष जहाँ दिखाना हुआ है, वहाँ भी कवि ने सीधी और स्वाभाविक उक्तियों का ही समावेश किया है, न तो कल्पना की उड़ान दिखाई है और न ऊहा की जटिलता।

—‘रीतिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ३१७-३१८

### —में शृंगार

शृंगार के वर्णनों को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया था। इसका कारण जनता की रुचि नहीं, आश्रयदाता राजा महाराजाओं की रुचि थी जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।

—‘रीतिकाल : सामान्य परिचय’, हि० सा० इ०, २२३

### रीति-ग्रंथ

आवश्यकता से अधिक लीक बना देने से लीक पीठने वालों की संख्या अवश्य बहुत बढ़ गई—पर इससे काव्य के व्यापक उद्देश्य की अधिक सिद्धि नहीं हुई।

—‘काव्य का लक्ष्य’, र० मी०, ६६

इन रीति-ग्रंथों के कर्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसो (विशेषतः शृंगार रस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए।

—‘रीतिकाल : सामान्य परिचय’, हि० सा० इ०, २१६

इसमें सदेह नहीं कि काव्य-रीति का सम्यक् समावेश पहले पहल आचार्य केशव ने ही किया।

—‘रीतिकाल : सामान्य परिचय’, हि० सा० इ०, २१५

काव्य-रीति का निरूपण थोड़ा-बहुत सब देशों के साहित्य में पाया जाता है। पर हमारे यहाँ के कवियों को रीति-ग्रन्थों ने जैसा चारों ओर से जकड़ा वैसा और कहीं के कवियों को नहीं। इन ग्रन्थों के कारण उनकी दृष्टि संकुचित हो गई।

—‘काव्य का लक्ष्य’, २० भी०, ६५

केशव के ५० या ६० वर्ष पीछे हिन्दी में लक्षण ग्रन्थों की जो परंपरा चली, वह केशव के मार्ग पर नहीं चली। काव्य के स्वरूप के संबंध में तो वह रस की प्रधानता मानने वाले ‘काव्य प्रकाश’ और ‘साहित्य दर्पण’ के पक्ष पर रही और अलंकारों के निरूपण में उसने अधिकतर ‘चंद्रालोक’ और ‘कुवलयानंद’ का अनुसरण किया।

—‘अधिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), २०१

जिस प्रकृति-क्षेत्र के एक-एक अंग का दर्शन कवि का काम है उसके बीच पगड़ियों निकाल देने से कवियों की यात्रा तो सुगम हो गई पर उसका अधिकाश उनकी दृष्टि से दूर हो गया।

—‘काव्य का लक्ष्य’, २० भी०, ६६

नायक-नायिका-भेद चरित्र-चित्रण में सहायक नहीं हुए, बाधक हुए। उनके अनुसार जिन प्रबन्ध काव्यों वा नाटकों में पात्रों की योजना हुई उनमें मानव-प्रकृति के बहुत ही थोड़े अंश का चित्र हमें मिलता है—सो भी परंपरा-भूक्त और पिष्टपेषित।

—‘काव्य का लक्ष्य’, २० भी०, ६६

यह परम्परा केशव के दिखाए हुए पुराने आचार्यों (भामह, उद्भट आदि) के मार्ग पर न चलकर पर्वर्ती आचार्यों के परिष्कृत मार्ग पर चली जिसमें अलंकार-अलंकार्य का भेद हो गया था।

—‘रीतिकाल : सामान्य परिचय’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), २२६

रीति-ग्रन्थों की इस परम्परा द्वारा साहित्य के विस्तृत विकास में कुछ बाधा पड़ी। प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न-भिन्न चित्त्य बातों तथा जगत के नाना रहस्यों की ओर कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वह एक प्रकार से बढ़ और परिमित-सी हो गई।...दूसरी बात यह हुई कि कवियों की व्यक्तिगत विशेषता की अभिव्यक्ति का अवसर बहुत ही कम रह गया।

—‘रीतिकाल : सामान्य परिचय’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), २३०

रीति-ग्रन्थों की बदौलत रस-दृष्टि परिमित हो जाने से उसके संयोजक विषयों में कुछ तो ‘उद्दीपन’ में डाल दिये गए और कुछ ‘भाव-क्षेत्र’ से ही निकाले जाकर ‘अलंकार’ के हाते में हाँक दिये गए।

—‘विशाव’, २० भी०, ११२

वर्ष्य वस्तुओं को गिनाने और उनका वर्गीकरण करने से बाह्य और आश्यंतर दोनों सृष्टियों की अनेकरूपता का काव्यों में अभाव सा हो चला ।

—‘काव्य का लक्ष्य’, २० मी०, ६५

व्यापक दृष्टि से काव्य का विवेचन करने से लक्षण-ग्रंथों में निर्दिष्ट संकीर्णता कहीं-कहीं बहुत खटकती है । वन, उपवन, चाँदनी इत्यादि को दाम्पत्य रति के उद्दीपन मात्र मानने से संतोष नहीं होता ।

—‘विभाव’, २० मी०, ११६

हिन्दी के पद्यबद्ध लक्षण-ग्रंथों में दिए हुए लक्षणों और उदाहरणों में बहुत जगह गड़बड़ी पाई जाती है । अब इस गड़बड़ी के सम्बन्ध में दो बातें कहीं जा सकती हैं । या तो यह कहे कि कवियों ने अपना मतभेद प्रकट करने के लिए जानबूझकर भिन्नता कर दी है अथवा प्रमादवश और का और समझकर । मतभेद तो तब कहा जाता है जब कहीं कोई नूतन विचार-पद्धति मिलती । अतः दूसरा कारण ही ठहरता है ।

—‘रीतिकाल : सामान्य परिचय’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), २२८

## रीतिमुक्त कवि

अधिकांश में ये भी श्रृंगारी कवि हैं और इन्होंने भी श्रृंगार रस के फुटकल पद्य कहे हैं ॥ प्रबंधकाव्य की उन्नति इस काल में कुछ विशेष न हो पाई । लिखे तो अनेक कथाप्रबंध गए पर उनमें में दो ही चार में कवित्व का यथेष्ट आकर्षण पाया जाता है ॥ कथात्मक प्रबंधों से भिन्न एक और प्रकार की रचना भी बहुत देखने में आती है, जिसे हम वर्णनात्मक प्रबंध कह सकते हैं । ॥ चौथा वर्ग नीति के फुटकल पद्य कहने वालों का है । इनको हम ‘कवि’ कहना ठीक नहीं समझते ॥ पांचवाँ वर्ग ज्ञानोपदेशकों का है ॥ ऐसे ग्रंथकारों को हम केवल ‘पद्यकार’ कहेंगे ॥ छठा वर्ग कुछ भक्त कवियों का है, जिन्होंने भक्ति और प्रेमपूर्ण विनय के पद आदि पुराने भक्तों के ढंग पर गाए हैं । इनके अतिरिक्त आश्रयदाताओं की प्रशंसा में बीर रस की फुटकल कविताएँ भी बराबर बनती रहीं ।

—‘रीतिकाल के अन्य कवि’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ३०७-३०९

जिन्होंने रीतिग्रंथ न लिखकर दूसरे प्रकार की पुस्तकें लिखी हैं, ऐसे कवियों में कुछ ने तो प्रबन्ध काव्य लिखे हैं, कुछ ने नीति या भक्ति-सम्बन्धी पद्य, और कुछ ने श्रृंगार रस की फुटकल कविताएँ लिखी हैं ॥ ॥ ऐसे कवियों में घनानंद सर्वश्रेष्ठ हुए हैं ।

—‘रीतिकाल के अन्य कवि’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ३०६ ॥

रसखान, घनानंद, आलम, ठाकुर आदि जितने प्रेमोन्मत्त कवि हुए हैं उनमें  
किसी ने लक्षणबद्ध रचना नहीं की है।

—‘रीतिकाल के अन्य कवि’, हिं० शा० ३०, २६७-

### रूप

जहाँ-जहाँ ये रूप खड़े हैं  
जहाँ-जहाँ ये दृश्य अड़े हैं  
कालिदास, भवभूति आदि के  
हृदय वहाँ पर मिल जाते हैं;  
एक अखंड हृदय भारत का  
अविच्छिन्न हो हम पाते हैं।  
भाव-भूमि का भरत बंड यह  
सदा, भारती ! तू भरती रह !

—मधु०, ७,

दूरता के गर्भ मे जो रूपता भरी है वही  
माधुरी ही जीवन की कटुता मिटाती है।

—‘हृदय का मधुर भार,’ मधु०, ३६

भव्य भावना-भवन हमारे,  
रचित इन्हीं रूपों से सारे।  
इनकी ही अनुभूति-भूति से विश्व मूर्तिमय योग जोगा।  
किन्तु न किसी अरूप लोक से हृदय हमारा कभी लगेगा।  
रसमय-रूप, रूपमय-रस धर  
चलित चराचर चक्र निरंतर।

—‘रूपमय हृदय’, मधु०, ५६

ये ही रूप खेलकर मन मे,  
देशकाल के धृंघलेपन मे  
नंदनवन बनकर ललचाते, अमर धाम की आहट लाते,  
शोभा-शक्ति-शीलमय प्रभु की लोकरंज की कला दिखाते—  
धन्य ! धन्य ! जगमगल झाँकी  
यह नारायणमय नरता की।

—‘रूपमय हृदय’, मधु०, ५८-५९

रस-विद्यायक कवि का काम श्रोता या पाठक में भाव-संचार करना नहीं,  
उसके समक्ष भाव का रूप प्रदर्शित करना है (जिसके) दर्शन से श्रोता के:

हृदय में भी उक्त भाव की अनुभूति होती है जो प्रत्येक दशा में आनन्द-स्वरूप ही रहता है ।

—‘काव्य का लक्ष्य’, २० शी०, ८६.

रूपों से तुम्हारे पले होगे जो हृदय वे ही  
मंगल की योग विधि पूरी पाल पावेगे ।  
जोड़ के चराचर की सुख-सुषमा के साथ,  
सुख को हमारे शोभा सृष्टि की बनावेगे ।  
वे ही इस महँगे हमारे नर-जीवन का  
कुछ उपयोग इस लोक में दिखावेगे ।  
सुमन-विकास, मृदु आनन के हास, खण-  
मृग के विलास-बीच भंद को घटावेगे ।

—‘हृदय का मधुर भार’, मधु०, ३५.

रूपों से तो परे हमारा  
हृदय नहीं है कभी पधारा  
और पधारेगा न कभी वह, जो चाहे सो पैर उभारे—  
ज्ञान जाय, अज्ञान जाय, मतवाद जाय, बकवाद सिधारे ।  
अखिल व्यजना को इस सुंदर  
छोड़े कौन लक्षणा कहकर ?

—‘रूपमय हृदय’, मधु०, ५८

संचित है जिन रूपों की यह छाया जीवन-सार  
उनके कुछ अवशेष मिलेगे बाहर फिर दो-चार,  
आशा पर बस, इसी, सहे चलता हूँ, है संसार !  
तेरे इन रूपों रूपों के कड़वेपन की ज्ञार ।

—‘हृदय का मधुर भार’, मधु०, २८

## रूप-विधान

रूप-विधान तीन प्रकार के हुए—१. प्रत्यक्ष रूप-विधान २. स्मृत रूप-विधान और ३. संभावित या कल्पित रूप-विधान । इन तीनों प्रकार के रूप-विधानों में भावों को इस रूप में जागरित करने की शक्ति होती है कि वे रस-कोटि में आ सकें ।

—‘रसात्मक बोध’, २० शी०, २६०.

## —अप्रस्तुत-

उसकी योजना भी यदि किसी भाव के संकेत पर होगी—सौंदर्य, माधुर्य,

“भीषणता, कांति, दीप्ति इत्यादि की भावना में वृद्धि करने वाली होगी— तब तो वह काव्य के प्रयोजन की होगी, यदि केवल रंग, आकृति, छोटाई, बड़ाई आदि का ही हिसाब-किताब बैठाकर की जाएगी तो निष्फल ही नहीं, बाधक भी होगी।

—‘कल्पित रूप-विद्यान्’, २० मी०, २६५

कहीं-कहीं तो बाहरी सादृश्य या साधर्म्य अत्यन्त अल्प या न रहने पर भी अभ्यंतर प्रभाव-साम्य लेकर ही अप्रस्तुओं का संनिवेश कर दिया जाता है।

—‘अप्रस्तुत रूप-विद्यान्’, २० मी०, ३४१

(अप्रस्तुत रूप-विद्यान्—सं०) काव्य में किसी न किसी वेश में, चाहे अलंकार रूप में, चाहे लक्षण के रूप में, प्रायः रहता है।

—‘अप्रस्तुत रूप-विद्यान्’, २० मी०, ३३६

स्वरूप-बोध के लिये भी काव्य में जो सदृश वस्तु लाई जाती है उसमें यदि भाव उत्तेजित करने की शक्ति भी हो तो काव्य के स्वरूप की प्रतिष्ठा हो जाती है।

—‘अप्रस्तुत रूप-विद्यान्’, २० मी०, ३४४

### —कल्पित-

अतीत की कल्पना भावुकों में स्मृति की सी सजीवता प्राप्त करती है और कभी-कभी अतीत का कोई बचा हुआ चिह्न पाकर प्रत्यभिज्ञान का सा रूप ग्रहण करती है । ००० इसका आधार या तो आप्त शब्द (इतिहास) होता है अथवा शुद्ध अनुमान।

—‘रसात्मक बोध के विविध रूप, चिन्ता०-१, २५७

आजकल तो भाव की बात दब-सी गई है, केवल इसी का नाम लिया जाता है, क्योंकि ‘कवि की नूतन सृष्टि’ केवल इसी की कृति समझी जाती है। पर जैसा कि हम अनेक स्थलों पर कह चुके हैं, काव्य के प्रयोजन की कल्पना वही होती है, जो हृदय की प्रेरणा से प्रवृत्त होती है और हृदय पर प्रभाव डालती है।

—‘कल्पित रूप-विद्यान्’, २० मी०, २६१

कल्पना की वही रूप-योजना काव्य के अंतर्गत आ सकती है जो श्रोता या पाठक के मन में कोई भाव जगाने में समर्थ हो; भाव जगाने में वही रूप-योजना समर्थ होगी जो जगत या जीवन का कोई गूढ़ या मार्मिक

तथ्य सामने लाएगी, जो विश्व के किसी अनुरंजनकारी, क्षीभकारी या विस्मयकारी विद्यान का चित्र होगी।

—‘प्रस्तुत रूप-विद्यान’, २० मी०, ३०४

-कल्पना के भीतर जो कुछ रहता है या आता है वह प्रकृति के ही विशाल क्षेत्र से प्राप्त होता है।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ११६

-कल्पित रूप-विद्यान दो प्रकार का होता है—

(१) प्रस्तुत रूप-विद्यान और

(२) अप्रस्तुत रूप-विद्यान।

-यह प्रस्तुत रूप-विद्यान हमारे पुराने आचार्यों का विभाव पक्ष है जिसके अन्तर्गत आलंबन और उद्दीपन दोनों हैं।

—‘प्रस्तुत रूप विद्यान’, २० मी०, ३०१

काव्य की पूर्ण अनुभूति के लिए कल्पना का व्यापार कवि और श्रोता दोनों के लिए अनिवार्य है। काव्य की कोई उक्ति कान में पड़ते समय जब काव्य-वस्तु के साथ-साथ वक्ता या बोद्धव्य पात्र की कोई मूर्त भावना भी खड़ी रहती है तभी पूरी तन्मयता प्राप्त होती है।

—‘कल्पित रूप-विद्यान’, २० मी०, २६६

-यह कहना कि प्रत्यक्ष-रूप-विद्यान से कवि के काल्पनिक रूप-विद्यान का कोई संबंध नहीं, बात बनाना ही माना जायगा।

—‘कल्पित रूप-विद्यान’, २० मी०, ३००

हमारे यहाँ काल्पनिक रूप-विद्यान साधन की कोटि में रखा गया है; साध्य वस्तु रसानुभूति ही रखी गई है।

—‘प्रस्तुत रूप-विद्यान’, २० मी०, ३०३

—प्रत्यक्ष-

कोरा प्रकृति-वृण्ड भी रसात्मक होता है। आलंबन मात्र का वर्णन भी बराबर रसात्मक होता है।

—‘प्रस्तुत रूप-विद्यान’, २० मी०, ३०३

भावुकता को प्रतिष्ठा करने वाले मूल आधार या उपादान ये ही हैं। इन प्रत्यक्ष रूपों की मार्मिक अनुभूति जिनमें जितनी ही अधिक होती है, वे उतने ही रसानुभूति के उपयुक्त होते हैं।

—‘रसात्मक बोध के विविध रूप’, चिन्ता०-१, २४३

## —स्मृत-

अपनी स्मृति बनाये रखने के लिए कुछ मनस्वी कला का सहारा लेते हैं और उसके आकर्षक सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करके विस्मृति के खड़क में ज्ञोंकने वाले काल के हाथों को बहुत दिनों तक—सहजों वर्ष तक—थामे रहते हैं। इस प्रकार ये स्मारक काल के हाथों को कुछ थामकर मनुष्य की कई पीढ़ियों की आँखों से आँसू बहवाते चले चलते हैं। मनुष्य अपने पीछे होने वाले मनुष्यों को अपने लिए रुलाना चाहता है।

—‘स्मृत रूप-विधान’, २० भी०, २८८

कुशल यही है कि जिनका दिल सही सलामत है, जिनका हृदय मारा नहीं गया है, उनकी दृष्टि अतीत की ओर जाती है।

—‘स्मृत रूप-विधान’, २० भी०, २८५

जिस प्रकार हमारी आँखों के सामने आये हुए कुछ रूप-व्यापार हमें रसात्मक भावों में मग्न करते हैं उसी प्रकार भूतकाल में प्रत्यक्ष की हुई कुछ परोक्ष वस्तुओं का वास्तविक स्मरण भी कभी-कभी रसात्मक होता है। (दै० ‘स्मृति’, ‘हृदय’ भी—सं०)

—‘रसात्मक बोध के विविध रूप’, वित्ता-१, २५३

## रूप-व्यापार

आदिम रूपों और व्यापारों में, वंशानुगत वासना की दीर्घ परंपरा के प्रभाव से, भावों के उद्बोधन की गहरी शक्ति संचित है; अतः इनके द्वारा जैसा रस-परिपाक संभव है, वैसा कल-कारखाने, गोदाम...ऐसी वस्तुओं तथा अनाथालय के लिए चेक काटना, सर्वस्व-हरण के लिए जाली दस्तावेज बनाना...आदि व्यापारों द्वारा नहीं।

—‘काव्य’, २० भी०, ७

जिन वस्तुओं और व्यापारों के प्रति हमारे प्राचीन पूर्वज अपने ‘भाव’ अंकित कर गये हैं उनके सामने अपने को पाकर मानो हम उन पूर्व पुरुषों के निकट जा पहुँचते हैं, और उसी प्रकार के भावों को अनुभव कर उनके हृदय से अपना हृदय मिलाते हुए उनके सर्गे बन जाते हैं।

—‘विभाव’, २० भी०, १४९

जो व्यापार केवल मनुष्य की अधिक समुन्नत बुद्धि के परिणाम होगे, जो उसके आदिम जीवन से बहुत इधर के होंगे, उनमें प्राकृतिक या पुरातन व्यापारों की-सी तल्लीन करने की शक्ति न होगी।

—‘विभाव’, २० भी०, १४२

भावना को मूर्तरूप में रखने की आवश्यकता के कारण कविता की भाषा में दूसरी विशेषता यह रहती है कि उसमें जाति-संकेत वाले शब्दों की अपेक्षा विशेष रूप-व्यापार-सूचक शब्द अधिक रहते हैं।

—‘काव्य’, २० मी०, ४२

### —और पिछले कवि

इधर के कवियों ने जहाँ परंपरा-पालन के लिए ऐसे (प्राकृतिक दृश्यों के—सं०) चित्र खीचे भी हैं, वहाँ वे पूर्ण चित्र क्या, चित्र भी नहीं हुए हैं। उनके चित्र (यदि चित्र कहे जा सकें) ऐसे ही हुए हैं, जैसा किसी चित्रकार का अद्वूरा छोड़ा हुआ चित्र; जिसमें कहीं एक रेखा यहाँ लगी है, कहीं वहाँ—कहीं कुछ रंग भरा जा सका है, कहीं जगह खाली है।

—‘विभाव’, २० मी०, १२०

खेद है कि जिस कल्पना का उद्घोग मुख्यतः पदार्थों का रूप संघटित करने, प्राकृतिक व्यापारों को प्रत्यक्ष करने और इस प्रकार किसी दृश्य-खंड के व्यौरे पूरे करने में होना चाहिए था, उसका प्रयोग पिछले कवियों ने उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टात आदि की उद्भावना करने से ही अधिक किया।

—‘विभाव’, २० मी०, १२०

## ॥ ल ॥

### •लक्षणा (दे० ‘लाक्षणिकता’ भी)

मुख्यार्थ का बाध (तर्कसिद्ध सबंध का अभाव या कथन की अनुपपत्ति का अभाव—सं०) होने पर...रुद्धि के कारण या किसी प्रयोजन के लिए मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का ज्ञान जिस शक्ति के द्वारा होता है, वह लक्षणा है।

—‘शब्द-शक्ति’, २० मी०, ३७३

लक्षणा के लिए तीन शर्तें होती हैं—(१) मुख्यार्थ का बाध, (२) मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से संबंध, (३) रुद्धि या प्रयोजन। ये तीनों लक्षणा के हेतु हैं।

—‘शब्द-शक्ति’, २० मी०, ३७३

### •लज्जा (दे० ‘भय’ भी)

दूसरों के चित्र में अपने विषय में बुरी या तुच्छ धारणा होने के निश्चय

आचार्य शुक्ल विचार-सोश :: १७३

या आशंका मात्र से वृत्तियों का जो संकोच होता है—उनकी स्वच्छंदता के विद्यात का जो अनुभव होता है, उसे लज्जा कहते हैं।

—‘लज्जा और ग्लानि’, चिन्ता०-१, ५६-

लज्जा का कारण अपनी बुराई, दुष्टि या दोष का हमारा अपना निश्चय नहीं; दूसरे के निश्चय का निश्चय या अनुमान है, जो हम बिना किसी प्रकार का प्रमाण पाए केवल अपने आचरण या परिस्थिति-विशेष पर दृष्टि रखकर ही कभी-कभी कर लिया करते हैं।

—‘लज्जा और ग्लानि’, चिन्ता०-१, ५७-

### लल्लूलाल

लल्लूलाल जी का काव्याभास गद्य भक्तों की कथावार्ता के काम का ही अधिकतर है, न नित्य व्यवहार के अनुकूल है, न संबद्ध विचारधारा के योग्य।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ३६६-

### लाक्षणिकता (द० ‘छायावाद’, ‘लक्षणा’ भी)

आजकल हमारी वर्तमान (छायावादी—सं०) काव्यधारा की प्रवृत्ति इसी प्रकार की लाक्षणिक वक्रता की ओर विशेष है। यह अच्छा लक्षण है। इसके द्वारा हमारी भाषा की अभिव्यञ्जना-शक्ति के प्रसार की बहुत कुछ आशा है।

—‘कल्पित रूप-विद्यान्’, २०मी०, २६७-

छायावाद समझकर लिखी हुई कविताओं में से बहुतों में, अनुकरणवश सही, लाक्षणिकता की ओर अधिक प्रवृत्ति देख बड़ी प्रसन्नता होती है।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, १५३-

### लालसा

लालसा को व्यक्त और ज्ञात के बाहर, अव्यक्त और अज्ञात तक ले जाना चाहिए। लालसा ऐसी वस्तुओं के प्रति होती है जिनकी प्राप्ति या साक्षात्कार से सुख और आनंद होता है।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ७५-

### लोक

सत् और असत्, भले और बुरे दोनों के मेल का नाम संसार है। पापी-

१७४ :: आचार्य शुक्ल विचार-कोश

और पुण्यात्मा, परोपकारी और अत्याचारी, सज्जन और दुर्जन सदा से-  
संसार में रहते आए हैं ।

—‘लोक-धर्म’, गो० तु०, २०-

### —गति

उच्छृंखलता नदी की स्थायी वृत्ति नहीं है । नदी के इस स्वरूप के भीतर-  
सूक्ष्म मार्मिक दृष्टि लोक-गति के रूप का साक्षात्कार करती है ।

—‘काव्य’, २० शी०, १६

लोक-जीवन की धारा जब एक बैंधे मार्ग पर कुछ काल तक अबाध गति  
से चलने पाती है, तभी सम्यता के किसी रूप का पूर्ण विकास और उसके  
भीतर सुख-शांति की प्रतिष्ठा होती है ।

—‘काव्य’, २० शी०, १६ . ,

### —धर्म

कर्म, ज्ञान और उपासना लोक-धर्म के ये तीन अवयव जनसमाज की  
स्थिति के लिए बहुत प्राचीन काल से भारत में प्रतिष्ठित हैं । मानव-जीवन  
की पूर्णता इन तीनों के मेल के बिना नहीं हो सकती ।

—‘लोक-धर्म’, गो० तु०, १६

खीच वीरता, विद्या, बल पर से जो भक्ति हमारी,

अपनी ओर फेर करते हों लोक-धर्म से न्यारी ।

हमें चाहिए उनसे अपना पीछा आप छुड़ावे,

तुलसी का कर ध्यान न उनकी बातों में हम आवें ।

—‘गोस्वामी जी और हिंदू जाति’, मध्य०, ६८

जब भगवान् मनुष्य के पैरों से दीन-दुखियों की पुकार पर दौड़कर आते  
दिखाई दें और उनका हाथ मनुष्य के हाथ के रूप में दुष्टों का दमन करता  
और पीड़ितों को सहारा देता दिखाई दे, उनकी अंखे मनुष्य की अंखें  
होकर आँसू गिराती दिखाई दें, तभी मनुष्य के भावों की पूर्ण तृप्ति हो  
सकती है और लोकधर्म का स्वरूप प्रत्यक्ष हो सकता है ।

—‘तुलसी की भक्ति-पद्धति’, गो० तु०, ३

धर्म के सब पक्षों का ऐसा सामंजस्य जिससे समाज के भिन्न-भिन्न व्यक्ति  
अपनी प्रकृति और विद्या-बुद्धि के अनुसार धर्म का स्वरूप ग्रहण कर सकें,  
यदि पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो जाय तो धर्म का रास्ता अधिक चलता हो  
जाय ।

—‘लोक-धर्म’, गो० तु०, १६ ..

धर्म जितने अधिक विस्तृत जनसमूह के सुख-दुःख से संबंध रखनेवाला होगा उतनी ही उच्च श्रेणी का माना जाएगा । धर्म के स्वरूप की उच्चता उसके लक्ष्य की व्यापकता के अनुसार समझी जाती है । जहाँ धर्म की पूर्ण, शुद्ध और व्यापक भावना का तिरस्कार दिखाई पड़ेगा वहाँ उत्कृष्ट पात्र के हृदय में भी रोष का आविर्भाव स्वाभाविक है ।

—‘मानस’ की धर्मभूमि’, गो० तु०, १५७

भीषणता और सरसता, कोमलता और कठोरता, कटुता और मधुरता, प्रचण्डता और मृदुता का सामञ्जस्य ही लोक-धर्म का सौन्दर्य है ।

—‘काव्य में लोक-भंगल की साधनावस्था’, चिन्ता०-१, २१६

मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति और निवृत्ति की दिशा को लिए हुए धर्म की जो लीक निकलती है, लोगों के चलते-चलते चौड़ी होकर वह सीधा राजमार्ग हो सकती है ।

—‘लोक-धर्म’, गो० तु०, ३०

संसार जैसा है, वैसा मानकर उसके बीच से एक-एक कोने को स्पर्श करता हुआ जो धर्म निकलेगा वही धर्म लोक-धर्म होगा ।...जनता की प्रवृत्तियों का औसत निकालने पर धर्म का जो मान निर्धारित होता है, वही लोक-धर्म होता है ।

—‘लोक-धर्म’, गो० तु०, २१

सत्स्वरूप की व्यक्त प्रवृत्ति अर्थात् धर्म की ऊँची-नीची कई भूमियाँ लक्षित होती हैं, जैसे, गृहधर्म, कुलधर्म, समाजधर्म, लोकधर्म और विश्वधर्म या पूर्णधर्म । किसी परिमित वर्ग के कल्याण से संबंध रखनेवाले धर्म की अपेक्षा विस्तृत जन-समूह के कल्याण से संबंध रखनेवाला धर्म उच्चकोटि का है ।

—‘मानस’ की धर्मभूमि’, गो० तु०, १५४

### —धर्म और व्यक्ति-धर्म

जहाँ लोक-धर्म और व्यक्ति-धर्म का विरोध हो, वहाँ कर्ममार्गी गृहस्थों के लिए लोक-धर्म का ही अवलंबन श्रेष्ठ है । यदि किसी अत्याचारी का दमन सीधे न्यायसंगत उपायों से नहीं हो सकता तो कुटिल नीति का अवलंबन लोक-धर्म की दृष्टि से उचित है ।

—‘लोक-धर्म’, गो० तु०, २८

जो धर्म उपदेश द्वारा न सुधरनेवाले दुष्टों और अत्याचारियों को दुष्टता के लिए छोड़ दे, उनके लिए कोई व्यवस्था न करे, वह लोक-धर्म नहीं, व्यक्तिगत साधना है।

—‘लोक-धर्म’, गो० तु०, २१

लोग प्रायः कहा करते हैं कि अपना मन शुद्ध है, तो सासार के कहने से क्या होता है? यह बात केवल साधना की ऐकांतिक दृष्टि से ठीक है, लोक-संग्रह की दृष्टि से नहीं।

—‘शील-निरूपण और चरित्र-चित्तण’, गो० तु०, १०६

व्यक्तिगत सफलता के लिए जिसे ‘नीति’ कहते हैं, सामाजिक आदर्श की सफलता का साधक होकर वह ‘धर्म’ हो जाता है।

—‘लोक-धर्म’, गो० तु०, २६

व्यक्तिगत साधना के कोरे उपदेशों की तड़क-भड़क दिखाकर लोक-धर्म के प्रति उपेक्षा प्रकट करना पाषंड ही नहीं है, उस समाज के प्रति घोर कृतज्ञता भी है, जिसके बीच काया पली है।

—‘लोक-धर्म’, गो० तु०, २१

### —मंगल

अपने निज के लाभ वाले विकट कर्म की ओर जो उत्साह होगा वह तो रसात्मक न होगा, पर जिस विकट कर्म को हम लोक-कल्याणकारी समझेंगे उसके प्रति हमारे उत्साह की गति हमारी व्यक्तिगत परिस्थिति के सकुचित मंडल से बढ़ न रहकर बहुत व्यापक होगी।

—‘प्रत्यक्ष रूप-विद्यान्’, २० मी०, २७२

भक्त की भावना अपने गृह या कुल के तंग धेरे के भीतर बढ़ नहीं रह सकती। वह समस्त विश्व-कल्याण का व्यापक लक्ष्य रखकर प्रवृत्त होती है। अतः वह लोक-कल्याण विद्यायक धर्म का अवलंबन करता है और धर्म-मूर्ति भगवान् श्रीराम की शरण में जाता है। (देव० ‘मंगल’ भी—सं०)

—‘‘मानस’ की धर्मभूमि’, गो० तु०, १५८

### —मर्यादा

यदि कही मूल या व्यापक लक्ष्यवाले धर्म की अवहेलना हो तो उसके मार्मिक और प्रभावशाली विरोध के लिए किसी परिमित क्षेत्र के धर्म या मर्यादा का उल्लंघन असंगत नहीं। काव्य में तो प्रायः ऐसी अवहेलना से

उत्पन्न क्षेभ की अबाध अंजना के लिए मर्यादा का उल्लंघन आवश्यक हो जाता है।

—‘‘मानस’ की धर्मभूमि’, गो० तु०, १५८

### —रक्षा

जनता के सम्पूर्ण जीवन को स्पर्श करने वाला क्षात्र-धर्म है।...क्षात्र-धर्म एकान्तिक नहीं है। उसका सम्बन्ध लोक-रक्षा से है।

—‘शदा-भक्ति’, चिन्ता०-१, ४२

जिन गुणों से लोक की रक्षा होती है, जिन गुणों को देख हमारा हृदय प्रफुल्ल हो जाता है, उन गुणों को हम जिसमें देखें, वही इष्टदेव है—हमारे लिए वही सबसे बड़ा है।

—‘लोक-धर्म’, गो० तु०, २५

प्रभु के रक्षामय स्वरूप में है ‘सत’ का संकेत सुभासित।

रुचिर लोकरंजन सुषमा में है ‘आनंद’ भोद अधिवासित।

—‘रूपमय हृदय’, मधु०, ६०

लोकरक्षणी शक्ति उदय तो अपना आप करेगी विद्या, बल, वैभव वितरित कर सब संताप हरेगी। पर जनता के मन से ये शुभ भाव भगाने वाले दिन-दिन नए निकलते आते थे मत के मतवाले। इतने में सुन पड़ी अतुल-सी तुलसी की वर बानी जिसने भगवत्कला लोक के भीतर की पहचानी।

—‘गोस्वामीजी और हिंदू जाति’, मधु०, ६७

### लोकोत्तर

कवि कभी-कभी सौन्दर्य, माधुर्य, दीप्ति इत्यादि की अनूठी सृष्टि खड़ी करने के लिए चारों ओर से सामग्री एकत्र करके पराकाष्ठा को पहुँची हुई लोकोत्तर योजना करते हैं। यह भी कवि कर्म के अंतर्गत है, पर सर्वत्र अपेक्षित उसकी कोई नित्य प्रक्रिया नहीं।

—‘कल्पित रूप-विद्यान्’, २० मी०, २६३

### लोभ (दे० ‘प्रेम’, ‘लोभी’ भी)

किसी प्रकार का सुख या आनन्द देने वाली वस्तु के सम्बन्ध में मन की ऐसी स्थिति को जिसमें उस वस्तु के अभाव की भावना होते ही प्राप्ति,

सान्निध्य या रक्षा की प्रबल इच्छा जग पड़े, लोभ कहते हैं।

—‘लोभ और प्रीति’, चिन्ता०-१, ६५

जो लोभ दूसरे की सुख-शांति या स्वच्छन्दता का बाधक होता है, अधिकतर वही निद्य समझा जाता है।

—‘लोभ और प्रीति’, चिन्ता०-१, ७५

### —और प्रीति

वह लोभ धन्य है जिससे किसी के लोभ का विरोध नहीं और लोभ की जो वस्तु अपने सब लोभियों को एक-दूसरे का लोभी बनाए रहती है वह भी परम पूज्य है।

—‘लोभ और प्रीति’, चिन्ता०-१, ८०

साधारणतः मन की ललक यदि वस्तु के प्रति होती है तो लोभ और किसी प्राणी या मनुष्य के प्रति होती है तो प्रीति कहलाती है।

—‘लोभ और प्रीति’, चिन्ता०-१, ७०

### —और सान्निध्य

जिस प्रकार लोभ से सान्निध्य की इच्छा उत्पन्न होती है उसी प्रकार सान्निध्य से भी लोभ या प्रेम की प्रतिष्ठा होती है।

—‘लोभ और प्रीति’, चिन्ता०-१, ७७

### लोभी (दे० ‘प्रेम’, ‘लोभ’ भी)

पक्के लोभी लक्ष्य-घ्रष्ट नहीं होते, कच्चे हो जाते हैं।

—‘लोभ और प्रीति’, चिन्ता०-१, ८५

लोभियो ! तुम्हारा अकोध, तुम्हारा इंद्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है। तुम्हारी निषुरता, तुम्हारी निलंजता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो ! तुम्हें धिक्कार है !

—‘लोभ और प्रीति’, चिन्ता०-१, ८५

लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता।

लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान-अपमान में समानभाव रखते हैं। ऊँन उन्हें मक्खी चूसने में घृणा होती है और न रक्त चूसने में दया।

—‘लोभ और प्रीति’, चिन्ता०-१, ८४

॥ व ॥

### वचना

वंचना के साधक पाषंड के प्रयोजन के  
‘चोरी’, ‘बटमारी’ आदि शब्द ये हमारे हैं;  
मोटी देह होती है हमारी जिन दुबलों की  
रोटी छीन वे ही दोष-भार धरे सारे हैं।  
जिनकी बुराई मे भलाई है हमारी बसी  
अपनी वार्ता में हित हमसे वे हारे हैं;  
दोंग पर सारे इस मुँह का चिढ़ाना कपि !  
देखते किसी का हम मुँह में तुम्हारे हैं।

—‘हृदय का मधुर भार’, मधु०, ५२

### वक्रोक्ति

उक्ति की वहीं तक वचनभंगी या वक्रता के संबंध मे हमसे कुंतलजी का  
‘वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्’ मानते बनता है, जहाँ तक कि वह  
भावानुमोदित हो या किसी मार्मिक अंतर्वृत्ति से संबद्ध हो; उसके आगे  
नहीं।

—‘काव्य’, २० मी०, ४०

उमड़ते हुए भाव की प्रेरणा से अक्सर कथन के ढंग में कुछ वक्रता आ  
जाती है। ऐसी वक्रता काव्य की प्रक्रिया के भीतर रहती है। उसका  
अनूठापन भाव-विद्यान के बाहर की वस्तु नहीं।

—‘काव्य’, २० मी०, ३६

वचन की जो वक्रता भाव-प्रेरित होती है, वही काव्य होती है। ‘वक्रोक्तिः  
काव्यजीवितम्’ से यही वक्रता अभिप्रेत है, वक्रोक्ति अलंकार नहीं।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा०, ४२

### चञ्चयान (दे० ‘सिद्ध’ भी)

कैसा ही शुद्ध और सात्त्विक धर्म हो, ‘गुह्य’ और ‘रहस्य’ के प्रवेश से वह

किस प्रकार विकृत और पाखंडपूर्ण हो जाता है, वज्रयान इसका प्रमाण है।

—‘अपश्रंश काल’, हिं० सा० इ०, १२

जनता की दृष्टि को आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण विद्यायक सच्चे कर्मों की ओर ले जाने के बदले उसे वे (वज्रयानी—सं०) कर्मक्षेत्र से ही हटाने में लग गए थे।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ६४

### वर्ण-व्यवस्था

वर्ण-व्यवस्था की छोटाई-बड़ाई का यह अभिप्राय नहीं था कि छोटी श्रेणी के लोग दुःख ही में समय काटे और जीवन के सारे सुभीते बड़ी श्रेणी के लोगों को ही रहें।

—‘लोकनीति और मर्यादावाद’, गो० तु०, ३८

### वर्तमान (दे० ‘अतीत’ भी)

मनुष्य उस कोटि की पहुँची हुई सत्ता है जो उस अल्प क्षण में ही आत्म-प्रसार को बद्ध रखकर संतुष्ट नहीं हो सकती जिसे वर्तमान कहते हैं। वह अतीत के दीर्घ पटल को भेद कर अपनी अन्वीक्षण बुद्धि को ही नहीं, रागात्मिका वृत्ति को भी ले जाती है।

—‘विभाव’, र० भी०, १४८

### वल्लभाचार्य (दे० ‘पुष्टिमार्ग’, ‘भक्ति’, ‘भक्ति’ भी)

दर्शन के क्षेत्र में वल्लभाचार्य जी की सबसे गहरी पहुँच उनके आविभाव-तिरोभाव के प्रखर सिद्धांत में दिखाई पड़ती है।

—‘श्री वल्लभाचार्य’, सूर०, ८८

प्रेमकाल जीवन का आनंद-काल ही है। इसी से भक्ति मार्ग में वल्लभाचार्यजी ने भक्ति या प्रेम ही को साध्य कह दिया है।

—‘काव्य के विभाग’, र० भी०, ७५

प्रेम-साधना में वल्लभ लोक-मर्यादा और वेद-मर्यादा दोनों का त्याग विद्येय ठहराया।

—‘कृष्णभक्ति-शाखा’, हिं० सा० इ०, १४४

भक्ति की साधना के लिए वल्लभ ने उसके ‘श्रद्धा’ के अवयव को छोड़कर, जो महत्त्व की भावना में मग्न करता है, केवल ‘प्रेम’ लिया। प्रेम-लक्षणा

भक्ति ही उन्होंने ग्रहण की ।

—‘श्री वल्लभाचार्य’, सूर०, १००

वल्लभ ने ब्रह्म में सब धर्म माने । सारी सृष्टि को उन्होंने लीला के लिए ब्रह्म की आत्म-कृति कहा । अपने को अंश रूप जीवों में विखराना ब्रह्म की लीलामात्र है ।

—‘कृष्णभक्ति-शाखा’, हिं० सा० इ०, १४३

वल्लभाचार्य जी के सम्प्रदाय की पूजा या सेवा की पद्धति के सम्बन्ध में यह समझ लेना चाहिए कि वह अत्यन्त आडम्बरपूर्ण है ।

—‘श्री वल्लभाचार्य’, सूर० ६६

वल्लभाचार्य जी ने उपनिषद के वाक्यों और बादरायण के ब्रह्मसूत्रों को ही लेकर ब्रह्म को उभयर्लिंग-युक्त अर्थात् निर्गुण और सगुण दोनों माना ।

—‘श्री वल्लभाचार्य’, सूर०, ८३

### वस्तु-वर्णन

‘काव्य एक अनुकरण कला है’—यूनान के इस पुराने वाक्य को बहुत दूर तक ठीक न समझना चाहिए । कवि और चित्रकार के साध्य एक ही नहीं है । जो चित्रकार का साध्य है वह कवि का साधन है । पर इसमें संदेह नहीं कि यह साधन सबसे आवश्यक और प्रधान है । इसके बिना काव्य का स्वरूप खड़ा ही नहीं हो सकता ।

—‘बाह्यदृश्य-चित्रण’, गो० हु०, १२८

किसी वस्तु का वर्णन जितनी ही अधिक वस्तुओं के सम्बन्ध को लिए हुए होगा उतना ही वह पेचीला होगा, और कवि के निरीक्षण की सूक्ष्मता प्रकट करेगा ।

—‘विभाव’, २० सी०, १३५

कुछ हिन्दी कवियों ने बहुत-सी वस्तुओं की लम्बी सूची देने को ही वर्णन-पटुता समझ लिया था । इसके द्वारा मनुष्य के भिन्न-भिन्न व्यवसाय-क्षेत्रों की अपनी जानकारी भी वे प्रकट करना चाहते थे । घोड़ों का प्रसंग आया तो बस ‘ताजी, अरबी, अबलक, मुश्की’ गिना चले । हथियारों का प्रसंग आया तो सैकड़ों की फिहरिस्त मौजूद है ।... वस्तु-प्रत्यक्षीकरण के सम्बन्ध में यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि वह काव्य का साध्य नहीं है ।

—‘बाह्यदृश्य-चित्रण’, गो० हु०, १२८

‘प्रसंगप्राप्त सब बातों का वर्णन कवि का कर्तव्य है, केवल रस या पूर्ण रस की कवायद करना नहीं।

—‘विभाव’, २० भी०, १५८

मैं आलम्बन मात्र के विशद वर्णन को श्रोता में रसानुभव (भावानुभव सही) उत्पन्न करने में पूर्ण समर्थ मानता हूँ।

—‘विभाव’, २० भी०, १४४

वस्तुओं की गिनती गिनाना ही वस्तु-विन्ध्यास नहीं है।

—‘विभाव’, २० भी०, १३४

### —और उपन्यासकार

हमारे निपुण उपन्यासकारों को केवल राजनीतिक दलों द्वारा प्रचारित बातें लेकर ही न चलना चाहिए, वस्तु-स्थिति पर अपनी व्यापक दृष्टि भी डालनी चाहिए। उन्हें यह भी देखना चाहिए कि अँगरेजी राज्य जमने पर भूमि की उपज या आमदनी पर जीवन-निर्वाह करने वालों (किसानों और जमीदारों दोनों) की और नगर के रोज़गारियों या महाजनों की परस्पर क्या स्थिति हुई? (द० ‘उपन्यास’ भी)

—‘गद्य की वर्तमान गति’, ह० सा० इ० (२०२५ स०), ५१२

### —व्यंजना

काव्य-भूमि जीवन से, जगत से परे नहीं है। वह वस्तु-व्यापार-योजना जो केवल विलक्षणता, नवीनता या अलौकिकता दिखाने के लिए की जायगी, जिसमें जगत या जीवन का कोई मार्मिक पक्ष, गंभीर या साधारण, व्यक्त होता न दिखाई पड़ेगा, वह काव्य का ठीक लक्ष्य पूरा न कर सकेगा।

—‘कलित्र रूप-विद्वान्’, २० भी०, ३००

वस्तु-व्यंजना को बहुत दूर तक धरीटने पर बड़े चक्करदार ऊहापोह का सहारा लेना पड़ता है और व्यांग्यार्थ तक पहुँच केवल साहित्यिक रुढ़ि के अध्यास पर अवलम्बित रहती है। नायिकाओं के भेदों, रसादि के सब अंगों तथा भिन्न-भिन्न बँधे उपमानों का अभ्यास न रखने वाले के लिए ऐसे पद्य पहली ही समझिए।

—‘रीति ग्रंथकार कवि’, ह० सा० इ० (२०२५ स०), ३०१

### वाग्विधान (द० ‘रस’ भी)

पूर्ण रस में लीन करने वाले वाग्विधान में भी यह बात देखी जाती है कि जहाँ वह धारा के रूप में कुछ दूर तक चलता है, वहाँ पूरी तन्मयता प्राप्त होती है।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ६१

## वाणी (दे० ‘उकित’ भी)

कवि-वाणी के प्रसाद से हम संसार के सुख-दुःख, आनंद-क्लेश आदि का शुद्ध स्वार्थमुक्त रूप में अनुभव करते हैं। इस प्रकार के अनुभव के अध्यास से हृदय का बन्धन खुलता है और मनुष्यता की उच्च भूमि की प्राप्ति होती है।

—‘काव्य’, २० मी०, २४

भावों द्वारा प्रेरित प्रयत्न या व्यापार परिमित होते हैं। पर वाणी के प्रसार की कोई सीमा नहीं। उकितयों में जितनी नवीनता और अनेक-रूपता आ सकती है या भावों का जितना अधिक वेग व्यंजित हो सकता है, उतना अनुभाव कहनेवाले व्यापारों द्वारा नहीं।

—‘भाव या मनोविकार’, चित्ता०-१, ३-४

हमारी (भारतीय—सं०) वाणी भावक्षेत्र के बीच ‘भेदों में अभेद’ को ऊपर करती रही और उनकी (योरपीय—सं०) वाणी झूठे-सच्चे विलक्षण भेद खड़े करके लोगों को चमत्कृत करने में लगी।

—‘प्रस्तुत रूप-विद्यान्’, २० मी०, ३२२

## वाद

काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में सिद्धान्त या ‘वाद’ बहुत-कुछ रुचि-वैचित्र्य के इशारे प्रारंभ खड़े हुआ करते हैं; सम्यक दृष्टि के अनुरोध से कम। काव्य के जिस देश की ओर किसी की रुचि अधिक होती है उसी को वह काव्य का सम्पूर्ण देश मानता-मनाना चाहता है।

—‘काव्य के विभाग’, २० मी०, ८०

जीवन के कई क्षेत्रों में जब एक साथ परिवर्तन के लिए पुकार सुनाई डटी है तब परिवर्तन एक ‘वाद’ का व्यापक रूप धारण करता है और वहाँ के लिए सब क्षेत्रों में स्वतः एक चरम साध्य बन जाता है।

—‘नई धारा’, हिं० सा० ५०, ५१५

नाना ‘वादों’ से अब पाश्चात्य कवि-मंडली अपना पीछा छुड़ाना चाहती है। अब किसी कविता के संबंध में किसी ‘वाद’ का नाम लेना फ़ैशन के खिलाफ़ माना जाने लगा है। कविता की सच्ची कला किस प्रकार ‘वाद’-ग्रस्त होकर विलीन होने लगती है यह बात बिना दिखाई पड़े कैसे रह सकती है! अब कोई ‘वादी’ समझे जाने में कवि अपना मान नहीं समझते।

—‘प्रस्तुत रूप-विद्यान्’, २० मी०, ३३३

संस्कृत साहित्य में जैसे अलंकारवाद, रीतिवाद, रसवाद, ध्वनिवाद, वक्त्रोक्तिवाद इत्यादि अनेक वाद पाए जाते हैं, वैसे वादों के लिए हिन्दी के रीतिक्षेत्र में रास्ता ही नहीं निकला। केशव को ही अलंकार आवश्यक मानने के कारण अलंकारवादी कह सकते हैं। केशव के उपरात रीतिकाल में होनेवाले कवियों ने किसी वाद का निर्देश नहीं किया। वे रस को ही काव्य की आत्मा या प्रधान वस्तु मानकर चले।

—‘रीतिकाल : सामान्य परिचय’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), २२६

### —यथार्थ-

यथार्थवाद कवि के लिए केवल विहित ही नहीं है, प्रत्युत उसमें तब तक इसकी तात्त्विक जिज्ञासा होनी चाहिए जब तक वह उस उच्च दशा में नहीं पहुँच जाता, जहाँ पहुँचकर वह अपने व्यावहारिक जीवन और काव्य के वर्ण स्वर्ग में कोई अंतर न पाए।

—‘परिशिष्ट’, २० मी०, ४३२

### वाल्मीकि

आदि कवि वाल्मीकि की वाणी इसी (सामंजस्यपूर्ण—सं०) सौदर्य के उद्घाटन-महोत्सव का दिव्य संगीत है। सौदर्य का यह उद्घाटन असौदर्य का आवरण हटाकर होता है।

—‘काव्य के विभाग’, २० मी०, ५६

प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि सच्चे कवियों की कल्पना ऐसे रूपों की योजना करने में, ऐसी वस्तुएँ इकट्ठी करने में प्रयुक्त होती थी, जिनसे किसी स्थल का चित्र पूरा होता था, और जो श्रोता के भाव का स्वयं आलम्बन होती थी।

—‘विभाव’, २० मी०, १२०

विषयी या ज्ञाता अपने चारों ओर उपस्थित वस्तुओं को कभी-कभी किस प्रकार अपने तत्कालीन भावों के रंग में देखता है, इसका जैसा सुन्दर उदाहरण आदि कवि ने दिया है, वह वैसा अन्यत्र कहीं कदाचित् ही मिले।

—‘विभाव’, २० मी०, १२४

### —और व्यास

दोनों आर्ष कवियों ने पूर्णता के विचार से धर्म की गति का सौदर्य दिखाते हुए उसका सफलता में पर्यवसान किया है। ऐसा उन्होंने उपदेशक की

बुद्धि से नहीं किया है; धर्म की जय के बीच भगवान की मूर्ति के साक्षात्कार पर मुख्य होकर किया है।

—‘काव्य के विभाग’, २० मी०, ६०

व्यास ने भी अपने ‘जयकाव्य’ (महाभारत) में अधर्म के पराभव और धर्म की जय का सौंदर्य प्रत्यक्ष किया था।

—‘काव्य के विभाग’, २० मी०, ५६

### —की रामायण

वाल्मीकीय रामायण को मैं आर्यकाव्य का आदर्श मानता हूँ। उसमें राम के रूप, गुण, शील, स्वभाव तथा रावण की विरूपता, अनीति, अत्याचार आदि का पूरा चित्रण तो मिलता ही है, साथ ही अयोध्या, चित्रकूट, दण्डकारण्य आदि का चित्र भी पूरे ब्यौरे के साथ सामने आता है।

—‘विभाव’, २० मी०, ११०

### वासना

यह सिद्ध हुआ कि वन, पर्वत, नदी, निर्झर, पशु, पक्षी, खेत, बारी इत्यादि के प्रति हमारा प्रेम स्वाभाविक है, या कम से कम वासना के रूप में अंतःकरण में निहित है।

—‘विभाव’, २० मी०, ११३

राग मिलानेवाली वासना है और द्वेष अलग करनेवाली।

—‘काव्य के विभाग’, २० मी०, ७७

वासना की प्रेरणा से जो क्रिया होती है उसका रूप निर्दिष्ट होता है, वह सदा उसी रूप की होती है, पर भाव के अनुसार जो क्रिया होती है वह बहुरूपिणी होती है—अर्थात् वह कभी किसी प्रकार की होती है, कभी किसी प्रकार की।

—‘भाव’, २० मी०, १६३

वासना या संस्कार प्राणी में केवल क्रिया के समय में ही नहीं और काल में भी बराबर निहित रहता है; पर भाव का विद्यान केवल उद्दीपन और क्रिया के समय होता है, उसके उपरान्त नहीं रह जाता। पात्र के भाव की ही प्रतीति श्रोता या पाठक को रस-रूप में होती है।

—‘भाव’, २० मी०, १६३

## चास्तविकता

जैसी अमल मधुर निर्जरणी,  
वैसी ही ऊसर की खाड़ी ।  
वह जो केवल चमक भाव है,  
निरा कुतूहल, बाल-भाव है ।

—मधु०, ३

सच्चे कवि वस्तु-व्यापार का चित्रण बहुत बड़ा-बड़ा और चटकीला कर सकते हैं, भावों की व्यंजना अत्यंत उत्कर्ष पर पहुँचा सकते हैं, पर वास्तविकता का आधार नहीं छोड़ते ।

—‘तुलसी की काव्य-पद्धति’, गो० तु०, ५६

## विकृति

‘कलावादी’ जिसे ‘नूतन सृष्टि’ कहते हैं, वह स्वच्छ और स्थिर दृष्टि-वालों के निकट वास्तविक का विकृत रूप मान्न है—ऐसा विकृत जो प्रायः कुतूहल मान्न उत्पन्न करके रह जाता है, हृदय के मर्मस्थल को स्पर्श नहीं करता, कोई सच्ची और गंभीर अनुभूति नहीं जगाता ।

—‘तुलसी की काव्य-पद्धति’, गो० तु०, ६१

केवल अपने समय की परिस्थिति-विशेष को लेकर जो भावनाएँ उठती हैं उनके आश्रय के लिए जबकि नये आज्ञानों और नये पात्रों की उद्भावना स्वच्छन्दतापूर्वक की जा सकती है, तब पुराने आदर्शों को विकृत या खंडित करने की क्या आवश्यकता है ?

—‘काव्य के विभाग’, २० मी०, ६४

## विज्ञान

सृष्टि के जिन रहस्यों को विज्ञान खोल चुका है—उनके संबंध में जो प्राचीन पौराणिक कथाएँ और परिकल्पनाएँ हैं, वे अब ढाल-तलवार का काम नहीं दे सकती । अब जिन्हे मैदान में जाना हो, वे नाना विज्ञानों से तथ्य-संग्रह करके सीधे उस सीमा पर जाएँ, जहाँ दो पक्ष अड़े हुए हैं—एक ओर आत्मवादी, दूसरी ओर अनात्मवादी; एक ओर जड़वादी, दूसरी ओर नित्य चैतन्यवादी ।

—विं प्र०, १४७

## विद्यापति

आध्यात्मिक रंग के चश्मे आजकल बहुत सस्ते हो गये हैं। उन्हें चढ़ाकर जैसे कुछ लोगों ने ‘गीत गोविन्द’ के पदों को आध्यात्मिक संकेत बताया है, वैसे ही विद्यापति के इन (शृंगारी—सं०) पदों को भी।

—‘बीरगाथाकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ५६

विद्यापति के पद अधिकतर शृंगार के ही हैं, जिनमें नायक और नायिका राधा-कृष्ण हैं। “विद्यापति शैव थे। उन्होंने इन (शृंगारी—सं०) पदों की रचना शृंगारकाव्य की दृष्टि से की है, भक्त के रूप में नहीं। विद्यापति को कृष्णभक्तों की परंपरा में न समझना चाहिए।

—‘बीरगाथाकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ५६

## ‘विनय-पत्रिका’ (दे० ‘तुलसीदास’, ‘रामचरितमानस’ भी)

‘विनय-पत्रिका’ में गोस्वामी जी ने लोक में फैले अधर्म, अनाचार, अत्याचार आदि का भीषण चिन्ह खींचकर भगवान् से अपना सत्स्वरूप धर्म-संस्थापक रूप व्यक्त करने की प्रार्थना की है। उन्हें दृढ़ विश्वास है कि धर्मस्वरूप भगवान की कला का कभी-न-कभी दर्शन होगा। अतः वे यह भावना करके पुलकित हो जाते हैं कि सत्स्वरूप का लोकव्यक्त प्रकाश हो गया, रामराज्य प्रतिष्ठित हो गया और चारों ओर फिर मंगल छा गया।

—‘रामभक्ति शाखा’, हिं० सा० इ०, १४०

## विभाव (दे० ‘भाव’ भी)

कवि-कर्म-विद्यान के दो पक्ष होते हैं—विभाव-पक्ष और भाव-पक्ष। कवि एक ओर तो ऐसी वस्तुओं का चित्रण करता है जो मन में कोई भाव उठाने या उठे हुए भाव को और जमाने में समर्थ होती हैं और दूसरी ओर उन वस्तुओं के अनुरूप भावों के अनेक स्वरूप शब्दों द्वारा व्यक्त करता है।

—‘विभाव’, र० मी०, १०९

रस के संयोजक जो विभाव आदि हैं, वे ही कल्पना के प्रधान क्षेत्र हैं। कवि को कल्पना का पूर्ण विकास उन्हीं में देखना चाहिए।

—‘विभाव’, २० मी०, ११६

विभावन द्वारा जब वस्तु-प्रतिष्ठा पूर्ण रूप से हो ले, तब आगे कुछ और होना चाहिए। विभाव वस्तु-चित्रमय होता है, अतः जहाँ वस्तु श्रोता या पाठक के भावों का आलंबन होता है, वहाँ अकेला उसका पूर्ण चित्रण ही काव्य कहलाने में समर्थ हो सकता है।

—‘विभाव’, २० मी०, ११६

विभाव-पक्ष के ही अन्तर्गत हम उन सब प्रस्तुत वस्तुओं और व्यापारों को भी लेते हैं जो हमारे मन में सौन्दर्य, माधुर्य, दीप्ति, कान्ति, प्रताप, ऐश्वर्य, विभूति इत्यादि की भावनाएँ उत्पन्न करते हैं।

—‘रसात्मक-बोध के विविध रूप’, चिन्ता०-१, २६६

विभाव व्यंग्य नहीं हुआ करता। ‘विभाव’ में शब्द द्वारा उन वस्तुओं के स्वरूप की प्रतिष्ठा करती होती है जो भावों का आश्रय, आलंबन और उद्दीपन होती हैं। जब यह वस्तु-प्रतिष्ठा हो लेती है तब भावों के व्यापार का आरंभ होता है। मुक्तक में जहाँ नायक-नायिका का चित्रण नहीं होता वहाँ उनका ग्रहण ‘आक्षेप’ द्वारा होता है, व्यंजना द्वारा नहीं।

—‘विभाव’, २० मी०, १२८

### विभीषिका और नवजीवन

तप्त अनुराग जब उर में बसूधरा का  
उठता है लहरें सकंप लहकारता,  
देखता है उसे छवंस ज्वाला के स्वरूप में तू  
प्यार की ललक नहीं उसको विचारता।  
निज खंड-अनुराग से न मेल खाता देख  
नर ! तू विभीषिका है उसको पुकारता।  
दूर कर पालन की शक्ति की शिथिलता को  
वही नवजीवन से भरी फूँक मारता।

—‘हृदय का मधुर भार’, मधु०, ३८

## विरुद्धावली (दे० ‘आलोचना’, ‘समालोचना’ भी)

काव्य पर न जाने कितने ऐसे निबन्ध लिखे गए जिनमें सिवा इसके कि ‘कविता अमरावती से गिरती हुई अमृत की धारा है’, ‘कविता हृदय कानन से लिखी हुई कुसुममाला है’, ‘कविता देवलोक से मधुर संगीत की गूंज है’, और कुछ भी न मिलेगा। यह कविता का ठीक-ठीक रूप बतलाना है कि उसकी विरुद्धावली बखानना ?

—‘गदा की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५३६-

## विश्व

इस विश्वकाव्य की रसधारा में जो थोड़ी देर के लिए निमग्न न हुआ, उसके जीवन को मरुस्थल की यात्रा समझना चाहिए।

—‘काव्य’, २० मी०, ८.

ये सब (भूमि, पर्वत, चट्टान, नदी, नाले इत्यादि की रूप-गतियाँ—सं०) विश्वरूपी महाकाव्य की भावनाएँ या कल्पनाएँ हैं। स्वार्थ-भूमि से परे पहुँचे हुए सच्चे अनुभूति-योगी या कवि इनके द्रष्टा मात्र होते हैं।

—‘काव्य’, २० मी०, १८

## विश्वास

जिस बात पर विश्वास करने की मनुष्य की रुचि नहीं होती, उसके प्रमाण-आदि वह सुनता ही नहीं, सुनता भी है तो ग्रहण नहीं करता।

—‘शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण’, गो० तु०, ११८-११९

जिसे धर्म की शक्ति पर, धर्मस्वरूप भगवान की अनंत करुणा पर पूर्ण विश्वास है, नैराश्य का दुःख उसके पास नहीं फटक सकता।

—‘मंगलाशा’, गो० तु०, ३३

## विषाद

जिस वेग की प्रेरणा से लोग एकबारगी कर्तव्य-शून्य होकर, हार मानकर बँठ जाते हैं, वह विषाद है।

—‘भावों का वर्णकरण’, २० मी०, २०६.

## वीरगाथा (दे० ‘पृथ्वीराज रासो’, ‘रासो’ भी)

(देशभाषा की—सं०) ये वीरगाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं—प्रबन्ध-काव्य के साहित्यिक रूप में और वीरगीतों (बैलेड्स) के रूप में। साहित्यिक-

प्रबन्ध के रूप में जो सबसे प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध है, वह है 'पृथ्वीराज रासो'। वीरगीत के रूप में हमें सबसे पुरानी पुस्तक 'बीसलदेव रासो' मिलती है, यद्यपि उसमें समयानुसार भाषा के परिवर्तन का आभास मिलता है।

—‘वीरगाथाकाल’, हिं० सा० इ०, ३१

### —काल

जिस समय से हमारे हिंदी साहित्य का अस्युदय होता है, वह लड़ाई-भिड़ाई का समय था, वीरता के गौरव का समय था और सब बातें पीछे पड़ गई थीं।

—‘देशभाषा काव्य’, हिं० सा० इ०, २६

राजाश्रित कवि अपने राजाओं के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियों के साथ किया करते थे, और अपनी वीरोल्लासभरी कविताओं से वीरों को उत्साहित किया करते थे।... इसी से यह काल 'वीरगाथा काल' कहा गया।

—‘देशभाषा काव्य’, हिं० सा० इ०, २८

### वृत्ति

#### —तात्पर्य-

तात्पर्य वृत्ति वह वृत्ति है जो प्रत्येक शब्द के संकेतित अर्थों के समन्वय द्वारा पूरे वाक्य का संगत अर्थ प्रस्तुत करती है।

—‘शब्द-शक्ति’, २० मी०, ३८५

#### —भावात्मिका-

मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करने वाली मूल वृत्ति भावात्मिका है। केवल तर्कबुद्धि या विवेचना से हम किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते।

—‘कविता क्या है?’, चित्ता०१, १५७.

### वैचित्र्य

लोकोत्तर विधान करनेवाली कल्पना में भी यह देखा जाता है कि जहाँ कार्य-कारण-विवेचनपूर्वक वस्तु-व्यंजना का टेढ़ा रास्ता पकड़ा जाता है वहाँ वैचित्र्य ही वैचित्र्य रह जाता है, मार्मिकता दब जाती है। जैसे, यदि कोई कहे कि “कृष्ण के वियोग में राधा का दिन-रात रोना सुनकर लोग घर-घर में नावे बनवा रहे हैं” तो यह कथन मार्मिकता की हृद के बाहर जान पड़ेगा।

—‘कल्पित रूप-विधान’, २० मी०, २६३

विलक्षण रीति से कोई बात कहना, चाहे वह भावोत्तेजक या भावोत्पादक हो या न हो, (कालान्तर में—सं०) कविता करना समझा जाने लगा। बात बनानेवाले भी कवि बनाये जाने लगे। ‘अनूठी बात’ सुनने की उत्कंठा रखनेवाले अपने को काव्य-रसिक समझने लगे। काव्य का प्रकृत स्वरूप लोगों की आँखों से ओङ्कल हो गया।

—‘काव्य का लक्ष्य’, २० मी०, १०१-१०२

वैचित्र्य से केवल तीन बातें हो सकती हैं— (१) आश्चर्यपूर्ण प्रसादन, (२) आश्चर्यपूर्ण अवसादन, या (३) कुतूहल मात्र।

—‘साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद’, चिन्ता०-१, २३३

### —से आश्चर्यपूर्ण अवसादन

आश्चर्यपूर्ण अवसादन शील के अत्यन्त पतन अर्थात् तामसी धोरता के साक्षात्कार से होता है।

—‘साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद’, चिन्ता०-१, २३४

### —से आश्चर्यपूर्ण प्रसादन

आश्चर्यपूर्ण प्रसादन शील के चरम उत्कर्ष अर्थात् सात्त्विक आलोक के साक्षात्कार से होता है।

—‘साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद’, चिन्ता०-१, २३३

### —से कुतूहल

ऐसी अद्वितीय प्रकृति भी होती है जो किसी वर्ग-विशेष की भी प्रकृति के भीतर नहीं होती। ऐसी प्रकृति के साक्षात्कार से न स्पष्ट प्रसादन होगा, न स्पष्ट अवसादन—एक प्रकार का मनोरंजन या कुतूहल ही होगा।

—‘साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचित्र्यवाद’, चिन्ता०-१, २३४

### —वाद

भद्रता हमारी कोरी भिन्नता का बाना धर  
खिन्नता से बहुतों से दूर हमें ठेलती।

हिल-मिल एक मे करोड़ों की उमंग अब  
जीवन मे सुख की तरंगें नहीं रेलती।...

X                    X                    X

चढ़ी चली आती देख पच्छमी सनक सब,  
हृदय हमारे आज और भी हैं हारते।

—‘हृदय का मधुर भार’, मधु०, ४५

## वैराग्य

शील-साधना की... उच्च भूमि में... विरति या वैराग्य आप-से-आप मिला हुआ है। पर लोक कर्तव्यों से विमुख करनेवाला वैराग्य नहीं—परहित चितन से अलग करनेवाला वैराग्य नहीं—अपनी पृथक् प्रतीत होती हुई सत्ता को लोक सत्ता के भीतर लय कर देनेवाला वैराग्य, अपनी ‘द्वे-जनित चिता’ से अलग करनेवाला वैराग्य।

—‘शील-साधना और भक्ति’, गो० तु०, ५०

## वैशिष्ट्य

नीरस पद्म भी सरस पद्मों के वैशिष्ट्य से उसी प्रकार रसवान् हो जाते हैं, जिस प्रकार किसी पद्म के नीरस शब्द पूरे पद्म के रस से सरस हो जाया करते हैं।

—‘शब्द-शक्ति’, २० भी०, ३६६

## वैष्णवभक्ति (दे० ‘कृष्णभक्ति’, ‘भक्ति’, ‘राम’, ‘श्रीकृष्ण’ भी)

ईश्वर के धर्मस्वरूप को लेकर, उस स्वरूप को लेकर, जिसकी रमणीय अभिव्यक्ति लोक की रक्षा और रंजन में होती है, प्राचीन वैष्णव भक्ति-मार्ग की रामभक्ति शाखा उठी। कृष्णभक्ति शाखा केवल प्रेम-स्वरूप ही लेकर नई उमंग से फैली।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ६७

वैष्णव भक्ति-मार्ग तो सीधा-सादा प्रेम मार्ग है और योग के सिद्धि मार्ग से सर्वथा भिन्न है।

—‘भक्ति का विकास’, सूर०, ३३

वैष्णवों की कृष्णभक्ति शाखा ने केवल प्रेम-लक्षण भक्ति ली; फल यह हुआ कि उसने अश्लील विलासिता की प्रवृत्ति जगाई। रामभक्ति शाखा में भक्ति सर्वांगपूर्ण रही; इससे वह विकृत न होने पाई।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ६८

## —ओर कबीर

इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर को ‘राम नाम’ रामानंदजी से ही प्राप्त हुआ। पर आगे चलकर कबीर के ‘राम’ रामानंद के ‘राम’ से भिन्न हो गए। अतः कबीर को वैष्णव संप्रवाय के अंतर्गत नहीं ले सकते। (दे० ‘कबीर’ भी—सं०)

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ७८

## व्यंजना

यदि व्यंजना किसी तथ्य की व्यंजना करती है तो यही कि व्यंजित भाव की श्रोता या दर्शक के द्वारा रसरूप में अनुभूति होती है। इस प्रकार रस व्यंजना के द्वारा उत्पन्न होता है। भाव की अवस्थिति नायक और नायिका में होती है और रस की अनुभूति श्रोता या दर्शक के द्वारा होती है। पात्र के मन में रस नहीं होता जो व्यंजित किया जा सके।

—‘शब्द-शक्ति’, २० मी०, ४०६

व्यंग्य अर्थ या तो अन्य (रसादि) का अंग होता है या काकुं से आक्षिप्त होता है या वाच्यार्थ का ही उपयादक (सिद्धि का अंगभूत) होता है अथवा वाच्य की अपेक्षा उसकी प्रधानता संदिग्ध रहती है या वाच्यार्थ-व्यंग्यार्थ की बराबर प्रधानता रहती है अथवा व्यंग्य अर्थ अस्फुट रहता है, गूढ़, अत्यंत अगूढ़ (स्पष्ट) या असुदर होता है।

—‘शब्द-शक्ति’, २० मी०, ३६६

व्यंजक वाक्य ही काव्य होता है; व्यंग्य भाव या वस्तु नहीं।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ६६

व्यंजना शक्ति ऐसे अर्थों को बतलाती है जो अभिधा, लक्षण्य या तात्पर्य-वृत्ति द्वारा उपलब्ध नहीं होता। व्यंजना व्यापार का नाम छवनन, गमन और प्रत्यायन भी है। यह शक्ति या तो शब्द, अर्थ और प्रत्ययगत होती है या उपर्यागत।

—‘शब्द-शक्ति’, २० मी०, ३८०

संगत संबंध बिना होती नहीं व्यंजना है;

शब्द न बिखेर जहाँ उसी का अभाव है।

—‘हृदय का मधुर भार’, मधु०, ३६

## व्यक्तित्व और लेखन

केवल सच्चे नाटककार ही अपने व्यक्तित्व से सर्वथा स्वच्छंदं चरित्रों की सृष्टि कर सकते हैं। वे ऐसे सामान्य चरित्रों की सृष्टि करने में नहीं लगते जो अपने ही रूप को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में ढालने से बनते हैं, प्रत्युत वे ऐसे प्राणियों की सृष्टि करते हैं, जो उनसे सर्वथा पूर्ण होते हैं।

—‘परिशिष्ट’, २० मी०, ४३०

जीवन के और साधनों की अपेक्षा काव्यानुभव में विशेषता यह होती है कि वह एक ऐसी रमणीयता के रूप में होता है, जिसमें व्यक्तित्व का लग हो जाता है। बाह्य जीवन और अंतर्जीवन की कितनी उच्च भूमियों पर इस रमणीयता का उद्घाटन हुआ है, किसी काव्य की उच्चता और उत्तमता के निर्माण में इसका विचार अवश्य होता आया है और होगा।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२००३ सं०), ५७०

### व्यक्तिवाद

अपने हृदय को और लोगों के हृदयों से सर्वथा विलक्षण प्रकट करनेवाला एक संप्रदाय योरप में रहा है। वहाँ कुछ दिन नकली हृदयों के कारबाने जारी रहे। पर पीछे उन खिलौनों से लोग ऊब गए। (द० ‘योरप’ भी—सं०)

—‘तुलसी की काव्य-पद्धति’, गो० तु०, ६८

और हृदयों से अपने हृदय की भिन्नता और विचिन्ता दिखाने के लिए (योरप में—सं०) बहुत-से लोग एक-एक काल्पनिक हृदय निर्मित करके दिखाने लगे। काव्यक्षेत्र ‘नकली हृदयों’ का एक कारखाना हो गया।

—‘प्रस्तुत रूप-विद्यान्’, २० मी०, ३२२

पहुँचा उन्माद की दशा को जहाँ व्यक्तिवाद,  
कविता वहाँ की रूपहानि घोर सहती;  
नाचती नटी-सी निरी दंध की सताई हुई,  
सच्चे भोले भाव कभी भूल के न कहती।

—‘पाखड़ प्रतिवेद्ध’, मध्य०, ८६

पुराने रोग जल्दी पीछा नहीं छोड़ते……‘व्यक्तिवाद’ बना हुआ है, केवल उसने अपनी जगह बदल दी है। लोक से विशेषता और विचिन्ता तो घनी रहने वीर गई है, अंतर इतना ही पड़ा है कि अब तक उस विशेषता या विचिन्ता को कवि की कहते थे, अब कृति की कहेगे।

—‘प्रस्तुत रूप-विद्यान्’, २० मी०, ३३४

बहुत-सी ‘वाद’-व्याधियों का प्रवर्तक है ‘व्यक्तिवाद’, जो बहुत पुराना रोग है।

—‘प्रस्तुत रूप-विद्यान्’, २० मी०, ३३४

‘व्यक्तिवाद’ यदि पूर्ण रूप से स्वीकार किया जाय तो कविता लिखना अर्थ ही समझिए। कविता इसीलिए लिखी जाती है कि एक की भावना सैकड़ों, हजारों क्या, लाखों दूसरे आदमी ग्रहण करे। जब एक के हृदय के साथ दूसरे के हृदय की कोई समानता ही नहीं, तब एक के भावों को दूसरा क्यों और कैसे ग्रहण करेगा?

—‘प्रस्तुत रूप-विद्यान्’, २० मी०, ३२१-३२२

### —और क्रोचे

योरप में भी आजकल क्रोचे के प्रभाव से एक प्रकार का व्यक्तिवाद जोर पर है। विलायती वक्रोक्तिवाद लक्षणा-प्रदान है। लाक्षणिक चपलता और प्रगल्भता में ही, उक्ति के अनूठे स्वरूप में ही, बहुत-से लोग वहाँ कविता मानने लगे हैं।

—‘काव्य’, २० मी०, ४०-४१

(क्रोचे का अभिव्यञ्जना—सं०) वाद बेलबूटों और नक्काशियों के संबंध में तो बिल्कुल ठीक घटता है, पर काव्य की सच्ची मार्मिक भूमि से बहुत दूर रहता है। उसे दृष्टि में रखकर जो चलेगा, उसके निकट काव्य का सहृदयता, भावुकता और मार्मिकता से कोई संबंध नहीं।

—‘काव्य में अभिव्यञ्जनावाद’, चिन्ता०-२ (२००२ सं०), १८६

### व्यवहार

कवि और भावुक हाथ-पैर न हिलाते हों, यह बात नहीं है। पर अर्थियों के निकट उनकी बहुत-सी क्रियाओं का कोई अर्थ नहीं होता।

—‘काव्य’, २० मी०, २३

### व्यापकता

कहने की आवश्यकता नहीं कि (काव्य की जीवनव्यापी और स्थायी—सं०) इस उच्च भूमि में आने पर फुटकरिए कवि पीछे छूट जाते हैं; केवल प्रबंधकुशल कवि ही दिखाई पड़ते हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि गोस्वामीजी को छोड़ हिन्दी का और कोई पुराना कवि इस क्षेत्र में नहीं दिखाई पड़ता। (दे० ‘तुलसीदास’ भी—सं०)

—‘शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण’, गो० तु०, १००

धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है। गृहधर्म या कुलधर्म से समाजधर्म श्रेष्ठ है, समाजधर्म से लोकधर्म, लोक-धर्म से विश्वधर्म, जिसमें धर्म अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप में दिखाई पड़ता है। (द० 'धर्म', 'लोक' भी—सं०)

—‘मानस’ की धर्म-भूमि, गो० द०, १५४-५५

### व्यापार (द० ‘रूप’, ‘रूप-व्यापार’ भी)

आवरणों को काट-काट कर  
व्यापारों को तेरे, हे नर !  
मूल रूप में यह धारा जब  
तेरे सम्मुख घर देती है,  
सच्चे, खरे भाव की चिलकन  
चंचल तुझको कर देती है।  
जमी हुई छेट्टी है काई,  
प्रकृत रूप पड़ते दिखलाई ।

—मध्य० ८

### ॥ श ॥

### शंकराचार्य और वल्लभाचार्य

शंकर ने निर्गुण को ही ब्रह्म का पारमार्थिक या असली रूप कहा था और सगुण को व्यावहारिक या मायिक। वल्लभाचार्य ने बात उलटकर सगुण रूप को ही असली पारमार्थिक रूप बताया और निर्गुण को उसका अंशतः तिरोहित रूप कहा।

—‘भविवकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), १५२

### शंका

शंका तो भय का ही वितर्कप्रधान रूप है जो आलंबन के दूरस्थ होने पर प्रकट होता है। इसमें वेग नहीं होता है और न आलंबन उतना स्फुट होता है।

—‘शावों का वर्णकरण’, र० भी०, २१४

## —, आशा और नैराश्य

अन्य अन्तःकरण वृत्तियों में जिस प्रकार भय-लेश-युक्त ऊहा 'शंका' रखी गई है उसी प्रकार हृष्ट-लेश-युक्त ऊहा 'आशा' और विषाद-लेश-युक्त ऊहा 'नैराश्य' को भी रख सकते हैं।

—‘भावों का वर्गीकरण’, २० मी०, २१५

## शक्ति

शक्ति के संबंध में यह समझ रखना चाहिए कि यद्यपि द्रव्य के समान उसमें गुरुत्व नहीं होता पर उसके वैग की मात्रा का हिसाब होता है।

—दि० प्र०, ५

## शब्द

### —रसात्मक-

पानीपत, चित्तौर, कन्नौज आदि का नाम सुनते ही भारत का प्राचीन हिन्दू दृश्य आँखों के सामने फिर जाता है। उनके साथ गंभीर भावों का संबंध लगा हुआ है। ऐसे एक-एक नाम हमारे लिए काव्य के टुकड़े हैं। ये रसात्मक वाक्य नहीं, तो रसात्मक शब्द अवश्य है।

—‘विभाव’, २० मी०, १५५

### —स्रोत

संसार और स्थिरता ? अतीत के लम्बे-चौड़े मैदान के बीच इन उभय पक्षों की ओर विषमता सामने रखकर कोई भावुक जिस भाव-धारा में डूबता है उसी में औरें को डुबाने के लिए शब्द-स्रोत भी बहता है। इस पुनीत भाव-धारा में अवगाहन करने से वर्तमान की—अपने-पराये की—लगी-लिपटी मैल छट्टी है, और हृदय सच्च होता है।

—‘स्रोत रूप-विद्यान्’, २० मी०, २८६

## शब्दावली

किसी भाषा का समझा जाना अधिकतर उसकी शब्दावली (वाकेबुलरी) पर अवलंबित होता है। यदि ऐसा न होता तो उर्दू और हिन्दी का एक ही साहित्य माना जाता।

—‘बौरगाथाकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), ५८-५९

## शायरी

फारसी-उर्दू की शायरी में उपस्थित चित्र (इमेजरी) का कुछ भी ध्यान नहीं रखा गया है, भाव के उत्कर्ष और मुहावरे के जोर पर ही ज्यादा जोर दिया गया है।

—‘विरोध-विचार’, २० मी०, २५१

## (राजा) शिवप्रसाद

प्रारंभ काल से ही वे ऐसी चलती ठेठ हिन्दी के पक्षपाती थे, जिसमें सर्व-साधारण के बीच प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों का भी स्वच्छद प्रयोग हो...पर सं० १९१७ के पीछे उनका झुकाव उर्दू की ओर होने लगा, जो बराबर बना क्या रहा, कुछ न कुछ बढ़ता ही गया।...या तो यह कहिए कि अधिकांश शिक्षित लोगों की प्रवृत्ति देखकर उन्होंने ऐसा किया अथवा अँगरेज अधिकारियों का रुख देखकर।

—‘गदा-साहित्य का आविर्भाव’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), ४९७

## शिक्षावाद

मंगल-अमंगल के द्वन्द्व में कवि लोग अंत में मंगल शक्ति की जो सफलता दिखा दिया करते हैं उसमें सदा शिक्षावाद (डाइैक्टिसिज्म) या अस्वाभाविकता की गंध समझकर नाक-भौं सिकोड़ना ठीक नहीं। अस्वाभाविकता तभी आयेगी जब बीच का विधान ठीक न होगा।

—‘काव्य के विभाग’, २० मी०, ६१

## शील

आलंबन के रूप की धारणा से जिस प्रकार आश्रय में अशु, पुलक आदि अनुभाव प्रकट होते हैं उसी प्रकार उसके शील की धारणा से भी।

—‘भाव’, २० मी०, १८६

नियम और शील धर्म के दो अंग हैं। नियम का संबंध विवेक से है और शील का हृदय से। सत्य बोलना, प्रतिज्ञा का पालन करना नियम के अंतर्गत है। दया, क्षमा, वात्सल्य, कृतज्ञता आदि शोल के अंतर्गत है। नियम के लिए आचरण ही देखा जाता है, हृदय का भाव नहीं देखा जाता। केवल नाम की इच्छा रखनेवाला पाण्डी भी नियम का पालन कर सकता

है—और पूरी तरह कर सकता है। पर शील के लिए सात्विक हृदय चाहिए।

—‘शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण’, गो० तु०, १०८-१०९  
मनुष्य के शील-निर्माण में ‘भाव-सांति’ का दृश्य ‘भाव-स्थिति’ के दृश्य से कम प्रभावोत्पादक नहीं होता।

—‘असबद्ध भावों का रसवत् ग्रहण’, र० मी०, २४३  
शील द्वारा प्रवर्तित सदाचार सुगम भी होता है और स्थायी भी, क्योंकि इसका संबंध हृदय से होता है। इस शील की दशा की प्राप्ति भक्ति द्वारा होती है।

—‘शील-साधना और भक्ति’, गो० तु०, ५२  
शील हृदय की वह स्थायी स्थिति है, जो सदाचार की प्रेरणा आप-से-आप करती है। सदाचार ज्ञान द्वारा प्रवर्तित हुआ है या भक्ति द्वारा, इसका पता यो लग सकता है कि ज्ञान द्वारा प्रवर्तित जो सदाचार होगा, उसका साधन बड़े कष्ट से—हृदय को पत्थर के नीचे दबाकर—किया जायगा; पर भक्ति द्वारा प्रवर्तित जो सदाचार होगा, उसका अनुष्ठान बड़े आनंद से, बड़ी उमंग के साथ, हृदय से होता हुआ दिखाई देगा।

—‘शील-साधना और भक्ति’, गो० तु०, ५१-५२

### —दशा

आलंबन का स्वरूप संघटित करने में उपादान रूप होकर शील-दशा रसोत्पत्ति में पूरा योग देती है।

—‘भाव’, र० मी०, १८६

उच्च लक्ष्य रखनेवाले मनुष्य की प्रकृति का संस्कार या निर्माण करने की सामर्थ्य रखनेवाले प्रबन्ध काव्य या नाटक के चरित्र-चित्रण का आधार शील-दशा ही है।

—‘भाव’, र० मी०, १८६

उत्साह जब अनेकावसर-व्यापी स्थायित्व की ओर चलेगा तब वह ‘शील-दशा’ को ही प्राप्त समझा जायेगा। और भावों के समान किसी आलंबन के प्रति उसकी ‘स्थायी-दशा’ नहीं कही जा सकती।

—‘भाव’, र० मी०, १८६

भाव के...प्रकृतिस्थ हो जाने की अवस्था को हम शील-दशा कहेंगे।

—‘भाव’, र० मी०, १८६

## —निरूपण

धीर, गंभीर और सुशील अंतःकरण की बड़ी भारी विशेषता यह होती है कि वह दूसरे में दुरे भाव का आरोप जल्दी नहीं कर सकता ।

—‘शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण’, गो० तु०, १०१

मनुष्य का जीवन सामाजिक है । वह समाजबद्ध प्राणी है । उसे अपने ही आचरण पर लज्जा या संकोच नहीं होता है; अपने कुटुम्बी, इष्ट-मित्र या साथी के भद्रे आचरण पर भी होता है ।

—‘शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण’, गो० तु०, १०३

रससंचार मात्र के लिए किसी मनोविकार की एक अवसर पर पूर्ण व्यंजना ही काफी होती है । पर किसी पात्र में उसे शील रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए कई अवसरों पर उसकी अभिव्यक्ति दिखानी पड़ती है ।

—‘शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण’, गो० तु०, १००

## —शक्ति-सौन्दर्य

सौन्दर्य और शील भगवान के लोक-पालन और लोकरंजन के लक्षण हैं और शक्ति उद्भव और लय का लक्षण है ।

—‘ज्ञान और शक्ति’, गो० तु०, ५४

## शुद्धाद्वैतवाद (दे० ‘वल्लभाचार्य’ भी)

आत्मा और परमात्मा के शुद्ध अद्वैतभाव का प्रतिपादन करने से वल्लभाचार्य जी का सिद्धान्त शुद्धाद्वैतवाद कहलाता है ।

—‘श्री वल्लभाचार्य’, सूर०, ८९

## शूद्र

ऊँची-नीची श्रेणियाँ समाज में बराबर थीं और बराबर रहेंगी । अतः शूद्र शब्द को नीची श्रेणी के मनुष्य का—कुल, शील, विद्या, बुद्धि, शक्ति आदि सब में अत्यंत न्यून का—बोधक मानना चाहिए । इतनी न्यूनताओं को अलग-अलग न लिखकर वर्ण-विभाग के आधार पर उन सबके लिए एक शब्द का व्यवहार कर दिया गया है ।

—‘लोकनीति और मर्यादावाद’, गो० तु०, ४५-

## शृंगाररस

शृंगाररस के अंतर्गत बहुत सुदर मुक्तक रचना हिन्दी में हुई। इस रस का इतना अधिक विस्तार हिन्दी साहित्य में हुआ कि इसके एक-एक अंग को लेकर स्वतंत्र ग्रन्थ रचे गए। इस रस का सारा वैभव कवियों ने नायिका भेद के भीतर दिखाया।

—‘रीतिकाल : सामान्य परिचय’, हि० सा० १०, २२६

## शेक्षणपियर

डटन (शियोडोर वाट्स डंठन—सं०) ने निरपेक्ष दृष्टि को उच्चतम शक्ति तो ठहराया, पर उन्हें संसार भर में दो ही तीन कवि उक्त दृष्टि से संपन्न मिले, जिनमें मुख्य शेक्षणपियर हैं। पर शेक्षणपियर के नाटकों में कुछ विचित्र अंतःप्रकृति के पात्रों के होते हुए भी अधिकांश ऐसे पात्र हैं, जिनकी भाव-व्यंजना के साथ पाठक या दर्शक का पूरा तादात्म्य रहता है।

—‘प्रस्तुत रूप-विद्यान्’, र० सी०, ३१८

## शेली

अँगरेज कवि शेली संसार में फैले पाषंड, अन्याय और अत्याचार के दमन तथा मनुष्य-मनुष्य के बीच सीधे, सरल प्रेमभाव के सार्वभौम संसार का स्वप्न देखनेवाले कवि थे।

—‘काव्य के विभाग’, र० सी०, ६०

शेली ने भी काव्य-कला का मूल तत्त्व प्रेमभाव ही माना था पर अपने को सुख-सौंदर्यमय माधुर्यभाव तक ही बढ़ न रखकर, प्रबंध-क्षेत्र में भी अच्छी तरह घुसकर भावों की अनेकरूपता का विन्यास किया था। स्थिर (स्टैटिक) सौंदर्य और गत्यात्मक (डाइनैमिक), सौंदर्य, उपभोग-पक्ष और प्रयत्न-पक्ष, दोनों उनमें पाए जाते हैं।

—‘काव्य के विभाग’, र० सी०, ६४

## शैली

अर्थगत विशेषता के आधार पर ही भाषा और अभिव्यंजन प्रणाली की विशेषता—शैली की विशेषता—खड़ी हो सकती है। जहाँ नाना अर्थ संबंधो का वैचित्र्य नहीं, जहाँ गतिशील अर्थ की परंपरा नहीं, वहाँ एक ही

स्थान पर खड़ी तरह-तरह की मुद्रा और उछल-कूद दिखाती हुई भाषा  
केवल तमाशा करती हुई जान पड़ेगी ।

—‘आशुनिक काल’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ४८३

यह न समझना चाहिए कि काव्य-रचना में उतनी ही चमत्कारपूर्ण शैलियों  
का समावेश हो सकता है, जितनी नाम रखकर गिना दी गई है । बहुत  
से स्थलों पर कवि ऐसी शैली का अलंबन कर जाएगा, जिसके प्रभाव या  
चमत्कार की ओर लोगों का ध्यान न गया होगा और जिसका नाम न  
रखा गया होगा; यदि रखा भी गया होगा तो किसी दूसरे देश के  
रीति-ग्रंथ में ।

—‘प्रस्तुत रूप-विद्वान्’, र० भी०, ३६०

### शोक

अपनी इष्ट हानि या अनिष्ट प्राप्ति से जो ‘शोक’ नामक वास्तविक दुःख  
होता है वह तो रसकोटि में नहीं आता, पर दूसरों की पीड़ा, देख  
जो ‘करुणा’ जगती है उसकी अनुभूति सच्ची रसानुभूति कही जा  
सकती है ।

—‘रसात्मक बोध के विविध रूप’, चिन्ता०-१, २५२

शोक का आलंबन ऐसा होता है कि वह मनुष्य मात्र को क्षुब्धि कर सकता  
है, पर आनंद में यह बात नहीं है ।...“आनंद को रस के प्रधान प्रवर्तक  
भावों में स्थान न देकर, आचार्यों ने ‘हर्ष’ को केवल संचारी रूप में  
रखा है ।

—‘भावों का वर्गीकरण’, र० भी०, १६७

शोक भी अपने विषाद आदि सचारियों के सहित प्रयत्न-शूल्य दिखाइ पड़ता  
है क्योंकि वह प्रयत्नकाल में नहीं रहता, प्रयत्न के विफल होने पर अथवा  
प्रयत्न द्वारा कोई आशा न होने पर ही होता है ।

—‘भावों का वर्गीकरण’, र० भी०, १६६

### श्रद्धा (द० ‘प्रेम’ भी)

किसी मनुष्य में जन-साधारण से विशेष गुण या शक्ति का विकास देख  
उसके सम्बन्ध में जो एक स्थायी आनंद-पद्धति हूदय में स्थापित हो जाती  
है, उसे श्रद्धा कहते हैं । श्रद्धा महत्व की आनंदपूर्ण स्वीकृति के साथ-साथ  
पूज्य बुद्धि का संचार है ।

—‘श्रद्धा-शक्ति’, चिन्ता०-१, १७

प्रेम के लिए इतना ही बस है कि कोई मनुष्य हमें अच्छा लगे, परं श्रद्धा के लिए आवश्यक यह है कि कोई मनुष्य किसी बात में बढ़ा हुआ होने के कारण हमारे सम्मान का पात्र हो। श्रद्धा का व्यापार-स्थल विस्तृत है, प्रेम का एकान्त। प्रेम में धनत्व अधिक है और श्रद्धा में विस्तार।

—‘श्रद्धा-भक्ति’, चिन्ता०-१, १८-

यदि प्रेम स्वप्न है तो श्रद्धा जागरण है।

—‘श्रद्धा-भक्ति’, चिन्ता०-१, १८

श्रद्धा एक ऐसी आनंदपूर्ण कृतज्ञता है जिसे हम केवल समाज के प्रतिनिधि के रूप में प्रकट करते हैं।

—‘श्रद्धा-भक्ति’, चिन्ता०-१, २०-

श्रद्धा के विषय तीन हैं—शील, प्रतिभा और साधन-सम्पत्ति। शील या धर्म से समाज की स्थिति, प्रतिभा से रञ्जन, और साधन-सम्पत्ति से शील-साधन और प्रतिभा-विकास दोनों की संभावना है। श्रद्धेय समाज की स्थिति या सुख का विधान करता है और समाज उसकी स्थिति और सुख का विधान करता है।

—‘श्रद्धा-भक्ति’, चिन्ता०-१, ३१

श्रद्धा धर्म की अनुगमिनी है। जहाँ धर्म का स्फुरण दिखाई पड़ता है वहाँ श्रद्धा टिकती है।

—‘रामभक्ति-शाखा’, हिं० सा० इ०, १३६-

श्रद्धा न्याय-बुद्धि के पलड़े पर तुली हुई एक वस्तु है जो दूसरे पलड़े पर रखे हुए श्रद्धेय के गुण, कर्म आदि के हिसाब से होती है। श्रद्धा सत्कर्म या सद्गुण ही का मूल्य है जिससे और किसी प्रकार का सौदा नहीं हो सकता।

—‘श्रद्धा-भक्ति’, चिन्ता०-१, २६-

श्रद्धा पर दया नहीं होती है; दया होती है क्लेश पर। श्रद्धा पर जो वस्तु हो सकती है, वह छपा है।

—‘घृणा’, चिन्ता०-१, १०३-

—और दया

श्रद्धा सामर्थ्य के प्रति होती है और दया असामर्थ्य के प्रति।

—‘श्रद्धा-भक्ति’, चिन्ता०-१, ३४-

## —और प्रेम

श्रद्धा-भाजन पर श्रद्धावान् अपना किसी प्रकार का अधिकार नहीं चाहता, पर प्रेमी प्रिय के हृदय पर अपना अधिकार चाहता है ।

—‘श्रद्धा-भक्ति’, चिन्ता०-१, २०

श्रद्धा में दृष्टि पहले कर्मों पर से होती हुई श्रद्धेय तक पहुँचती है, और प्रीति में प्रिय पर से होती हुई उसके कर्मों आदि पर जाती है । … एक मे कर्म प्रधान है, दूसरी मे व्यक्ति ।

—‘श्रद्धा-भक्ति’, चिन्ता०-१, १६

## —और भक्ति

श्रद्धा द्वारा हम दूसरे के महत्त्व के किसी अंश के अधिकारी नहीं हो सकते, पर भक्ति द्वारा हो सकते हैं ।

—‘श्रद्धा-भक्ति’, चिन्ता०-१, ३३

## —और समाज

जिस समाज में सदाचार पर श्रद्धा और अत्याचार पर कोष्ठ प्रकट करने के लिए जितने ही अधिक लोग तत्पर पाये जायेंगे, उतना ही वह समाज जाग्रत समझा जायगा ।

—‘श्रद्धा-भक्ति’, चिन्ता०-१, २०

श्रद्धालु महत्त्व को स्वीकार करता है, पर भक्त महत्त्व की ओर अग्रसर होता है । श्रद्धालु अपने जीवन-क्रम को ज्यों का त्यों छोड़ता है; पर भक्त उसकी काट-छाँट मे लग जाता है ।

—‘श्रद्धा-भक्ति’, चिन्ता०-१, ३३

## अम

‘अम’ के दो अर्थ हो सकते हैं—एक तो व्यापाराधिक्य या किसी क्रिया का निरन्तर साधन, दूसरा उससे उत्पन्न अंगगलानि या थकावट । मैं उसे यहाँ (भाव-विवेचन में—सं०) पहले ही अर्थ में रखता हूँ ।

—‘भावों का वर्णकरण’, र० मी०, २३०

## श्रीकृष्ण

कृष्णभक्त कवियों ने श्रीकृष्ण भगवान के चरित्र का जितना अंश लिया,

वह एक अच्छे प्रबंधकाव्य के लिए पर्याप्त न था। उसमें मानव-जीवन की—  
वह अनेकरूपता न थी, जो एक अच्छे प्रबंधकाव्य के लिए आवश्यक है।

—‘भक्तिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), १६०-

कृष्णभक्ति परंपरा में श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्ति को ही लेकर प्रेमतत्व की बड़े विस्तार के साथ व्यजना हुई है, उनके लोकपक्ष का समावेश उसमें नहीं है। इन कृष्ण भक्तों के कृष्ण प्रेमोन्मत्त गोपिकाओं से घिरे हुए गोकुल के श्रीकृष्ण हैं, बड़े-बड़े भूपालों के बीच लोक-व्यवस्था की रक्षा करते हुए द्वारका के श्रीकृष्ण नहीं हैं। कृष्ण के जिस मधुर रूप को लेकर ये भक्त कवि चले हैं, वह हास-विलास की तरंगों से परिपूर्ण अनंत सौदर्य का समुद्र है।

—‘भक्तिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), १५६.

श्रीकृष्ण का लोकरक्षक और लोकरंजक रूप गीता में और भागवत-पुराण में स्फुरित है। पर धीरे-धीरे वह स्वरूप आवृत्त होता गया और प्रेम का आलबन मधुर रूप ही योष रह गया।

—‘तुलसी की भक्ति-पद्धति’, गो० तु०, १०

(वल्लभाचार्य के अनुसार—सं०) श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं जो दिव्य गुणों से संपन्न होकर ‘पुरुषोत्तम’ कहलाते हैं। आनंद का पूर्ण आविर्भाव इसी पुरुषोत्तम रूप में रहता है, अतः यही श्रेष्ठ रूप है। पुरुषोत्तम कृष्ण की सब लीलाएं नित्य हैं। (द० ‘कृष्णभक्ति’, ‘राम’, ‘वल्लभाचार्य’ भी—स०)

—‘भक्तिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), १५१

### श्रीघर पाठक

पाठक जी कविता के लिए हर एक विषय ले लेते थे। समाज-सुधार के वे बड़े आकांक्षी थे; इससे विविवाओं की वेदना, शिक्षा-प्रचार ऐसे-ऐसे विषय भी उनकी कलम के नीचे आया करते थे।

—‘नई धारा’, हि० सा० इ०, ५५८

ये वास्तव में एक बड़े प्रतिभाशाली, भावुक और सुरचिसम्पन्न कवि थे। भद्रापन इनमें न था—न रूप रंग में, न भाषा में, न भाव में, न चाल में, न भाषण में।

—‘नई धारा’, हि० सा० इ०, ५५६.

### श्रीनिवासदास

श्रीनिवासदास व्यवहार में दक्ष और संसार का ऊँचा-नीचा समझनेवाले-  
२०६ :: आचार्य शुक्ल विचार-कोश

पुरुष थे। अतः उनकी भाषा संयत और साक्ष-सुथरी तथा रचना बहुत कुछ सोहैश्य होती थी।

—‘गदा का प्रवर्तन’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ४५२

### श्रोता

रस यदि श्रोता के हृदय पर पड़ा हुआ प्रभाव है—यदि वह भिन्न-भिन्न भावों का भिन्न-भिन्न आस्वाद रूप है—तो भिन्न-भिन्न भाव के शब्दों में किसी भाव के कहे जाने से उसका ठीक-ठीक परिपाक नहीं हो सकता। कोई सहृदय ऐसा वर्णन पसंद नहीं करेगा।

—‘विरोध-विचार’, २० मी०, २५५

विभाव-अनुभाव और व्यभिचारी की गिनती गिनाकर किसी प्रकार ‘रस’ की शर्त पूरी करना ही जब से कविजन अपना परम पुरुषार्थ मानने लगे, तब से यह बात कुछ भूल-सी चली कि कवियों का मुख्य कार्य ऐसे विषय को सामने रखना है जो श्रोता के विविध भावों के आलंबन हो सकें।

—‘विभाव’, २० मी०, १५६

श्रोता या पाठक के भी हृदय होता है। वह जो किसी काव्य को पढ़ता या सुनता है, सो केवल दूसरों का हँसना, रोना, क्रोध करना आदि देखने के लिये ही नहीं, बल्कि ऐसे विषयों को सामने पाने के लिए, जो स्वयं उसे हँसाने, रुलाने, त्रुद्ध करने, आकृष्ट करने, लीन करने का गुण रखते हैं।

—‘विभाव’, २० मी०, १५६

## ॥ स ॥

### संकोच

लज्जा का एक हल्का रूप संकोच है जो किसी काम को करने के पहले ही होता है।

—‘लज्जा और ख्लानि’, चिन्ता०-१, ६५

संकोच इस बात के ध्यान या आशंका से होता है कि जो कुछ हम करने जा रहे हैं वह किसी को अप्रिय या बेढ़ंगा तो न लगेगा, उससे हमारी दुश्शीलता या घृष्टता तो न प्रकट होगी।

—‘लज्जा और ख्लानि’, चिन्ता०-१, ६६

आंचार्य शुक्ल विचार-कोश :: २०७

## संगीत

संस्कृत से सम्बन्ध रखनेवाली भाषाओं में नाद सौंदर्य के समावेश के लिये बहुत अवकाश रहता है। अतः ज़ंगरेजी आदि अन्य भाषाओं की देखा-देखी, जिनमें इसके लिए कम जगह है, अपनी कविता को हम इस विशेषता से वंचित कैसे कर सकते हैं?

—‘काव्य’, २० मी०, ४७

## •संचारीभाव

किसी भाव को पुष्ट करनेवाला मनोविकार ही संचारी हो सकता है और पुष्ट करनेवाला मनोविकार वही होगा जो भाव के लक्ष्य और प्रवृत्ति से हटानेवाला न होगा।

—‘भावो का वर्गीकरण’, २० मी०, २०१

जो भाव ऐसे हैं जिन्हे किसी पात्र को प्रकट करते देख या सुनकर दर्शक या श्रोता भी उन्हीं भावों का-सा अनुभव कर सकते हैं, वे तो प्रधान भावों में रखे गए हैं, शेष भाव और मन के वेग संचारियों में डाले गए हैं।

—‘भावो का वर्गीकरण’, २० मी०, २०२-२०३

भाव द्वारा समुपस्थित शारीरिक अवस्था का ग्रहण संचारियों के अन्तर्गत इसलिए हुआ है कि उनसे भी भाव की तीव्रता या व्यापकता के अनुभव में सहायता मिलती है।

—‘भावो का वर्गीकरण’, २० मी०, २२६

ये स्वतन्त्र रूप में अपने निज के अनुभवों के सहित भी आते हैं पर पूर्ण रस की अवस्था को नहीं प्राप्त होते।

—‘भावो का वर्गीकरण’, २० मी०, २०३

संचारियों में रखा हुआ कोई ‘भाव’ ऐसी प्रधानता भी प्राप्त कर सकता है कि कोई नियत प्रधान भाव उसका संचारी होकर आए।

—‘भावों का वर्गीकरण’, २० मी०, २३५

## संत, निर्गुणमार्गी (दे० ‘निर्गुण’ भी)

कबीर आदि दो-एक प्रतिभासम्पन्न संतों को छोड़कर औरो में ज्ञानमार्ग की सुनी-सुनाई बातों का पिष्टपेषण तथा हठयोग की बातों के कुछ रूपक भही तुकबदियों में हैं। भक्तिरस में मग्न करने वाली सरसता भी बहुत कम पाई जाती है।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ७३

निर्गुणमार्गी संत कवियों की परंपरा में थोड़े ही ऐसे हुए हैं, जिनकी रचना साहित्य के अंतर्गत आ सकती है। शिक्षितों का समावेश कम होने से इनकी बानी अधिकतर सांप्रदायिकों के ही काम की है, उसमें मानव-जीवन की भावनाओं की वह विस्तृत व्यंजना नहीं है जो साधारण जन-समाज को आकर्षित कर सके।

—‘भक्तिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), ६२

### —और तुलसीदास

निर्गुणधारा के संतों की बानी में...लोक-धर्म की अवहेलना छिपी हुई थी। सगुणधारा के भारतीय पद्धति के भक्तों में कबीर, दादू आदि के लोक-धर्म विरोधी स्वरूप को यदि किसी ने पहचाना तो गोस्वामीजी ने। उन्होने देखा कि उनके वचनों से जनता की चित्तवृत्ति में एक धोर विकार की आशंका है, जिससे समाज विशृंखल हो जाएगा, उसकी मर्यादा नष्ट हो जाएगी।

—‘भक्तिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), १३४-१३५

### संतोष

इष्ट की प्राप्ति से इष्ट की पूर्ति के अनुभव का नाम संतोष है।

—‘भावों का वर्णकरण’, र० शी०, २२७

### संप्रदाय

सांप्रदायिक परिभाषाओं के चक्कर में साहित्यिक दृष्टि खो न देनी चाहिए।

—‘महाकवि सूरदास’, झ० शी० सा० (२०२६ सं०), ३४

### संबंध-सूत्र

संसार की हर बात सब बातों से संबद्ध है। अपने-अपने मानसिक संघटन के अनुसार किसी का मन किसी संबंध-सूत पर दौड़ता है, किसी का किसी पर। ये संबंध-सूत एक-दूसरे से नये हुए, पतों के भीतर की नसों के समान चारों ओर एक जाल के रूप में फैले हैं।

—‘आधुनिककाल’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), ४८२

### संवेदन

संवेदन का सबसे आदिम रूप है प्रतिक्रिया अर्थात् किसी पदार्थ के साथ-आचार्य शुक्ल विचार-कोश :: २०६

संपर्क होते ही शरीर में भी एक विशेष प्रकार का क्षोभ या क्रिया (गति) उत्पन्न होना। यह प्रतिक्रिया अचेतन व्यापार मानी जाती है, अर्थात् यह ज्ञानपूर्वक नहीं होती।

—वि० प्र०, ३५

### संस्कृत के कवि

प्राचीन संस्कृत कवि प्राकृतिक दृश्यों के विधान में कई वस्तुओं की संशिलष्ट योजना द्वारा 'बिम्ब-ग्रहण' कराने का प्रयत्न करते थे। इस कार्य को अच्छी तरह संपन्न करके, तब वे इधर-उधर उपमा, उत्प्रेक्षा आदि द्वारा थोड़ा-बहुत अप्रस्तुत वस्तु-विधान भी कर देते थे।

—‘आघुनिककाल’, हि० सा० इ०, ५४६

### सगुण

अनंत सौदर्य और अनंत शक्ति में अनंत शील की योजना हो जाने से भगवान का सगुण रूप पूर्ण हो जाता है।

—‘शील-साधना और भक्ति’, गो० तु०, ४६

शक्ति, शील और सौदर्य की पराकाष्ठा भगवान का व्यक्त या सगुण स्वरूप है। इनमें से सौदर्य और शील भगवान के लोकपालन और लोक-रंजन के लक्षण हैं, और शक्ति उद्भव और लय का लक्षण है।

—‘ज्ञान और भक्ति’, गो० तु०, ५४

### —भक्ति (दे० ‘भक्ति’ भी)

जो भक्तिमार्ग श्रद्धा के अवयव को छोड़कर केवल प्रेम को ही लेकर चलेगा, धर्म से उसका लगाव न रह जायेगा।...परिणाम यह होगा कि भक्ति के बहाने विलासिता और इंद्रियासक्ति की साधना होगी। कृष्णभक्ति शार्द्धा कृष्ण भगवान के धर्मस्वरूप को—लोकरक्षक और लोकरंजक स्वरूप को—छोड़कर केवल मधुर स्वरूप और प्रेमलक्षणा भक्ति की सामग्री लेकर चली। इससे धर्मसौदर्य के आकर्षण से वह दूर पड़ गई।

—‘भक्तिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), १४८

पूर्ण भक्त व्यक्त जगत् के बीच सत् की...सर्वशक्तिमयी प्रवृत्ति के उदय का, धर्म की...मंगलमयी ज्योति के स्फुरण का साक्षात्कार चाहता रहता है। इसी ज्योति के 'प्रकाश में सत्' के अनंत रूप-सौदर्य की भी मनोहर ज्ञानीकी उसे मिलती है...भीतर का 'चित्' जब बाहर 'सत्' का साक्षात्कार कर पाता है, तब 'आनंद' का आविर्भाव होता है और 'सदानंद' की

अनुभूति होती है।—यह है उस सगुण मार्ग का पक्ष, जो भगवान के अवतार को लेकर चलता है और जिसका पूर्ण विकास तुलसी की राम-भक्ति में पाया जाता है।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), १४७

### ·सगुणोपासक

सगुणोपासक भक्त भगवान के सगुण और निर्गुण दोनों रूप मानता है, पर भक्ति के लिए सगुण रूप ही स्वीकार करता है; निर्गुण रूप ज्ञान-मार्गियों के लिए छोड़ देता है। सब सगुणमार्गी भक्त भगवान के व्यक्त रूप के साथ उनके अव्यक्त और निर्विशेष रूप का निर्देश करते आए हैं, जो बोधगम्य नहीं। वे अव्यक्त की ओर संकेत भर करते हैं, उनके विवरण में प्रवृत्त नहीं होते।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ७१-७२

### ·सच्चाई

भावुकता की नकल करनेवाले श्रोता या पाठक ही नहीं, कवि भी हुआ करते हैं। वे सच्चे भावुक कवियों की वाणी का अनुकरण बड़ी सफाई से करते हैं और अच्छे कवि कहलाते हैं। पर सूक्ष्म और मार्मिक दृष्टि उनकी रचना में हृदय की निश्चेष्टता का पता लगा लेती है। किसी काल में जो सैकड़ों कवि प्रसिद्ध होते हैं उनमें सच्चे कवि—ऐसे कवि जिनकी तीव्र अनुभूति ही वास्तव में कल्पना के अनुकूल रूप-विद्यान में तत्पर करती है—इस-पाँच ही होते हैं। (द० ‘नक्ल’ भी—सं०)

—‘प्रत्यक्ष रूप-विद्यान’, २० भी०, २६२

### ·सत्यनारायण ‘कविरत्न’

उन्होंने जीती-जागती ब्रजभाषा ली है। उनकी ब्रजभाषा उसी स्वरूप में बैंधी न रहकर, जो काव्य परंपरा के भीतर पाया जाता है, बोलचाल के चलते रूपों को लेकर चली है।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ५८५

### ·सत्त्व

जब कि अव्यक्तावस्था से छूटी हुई प्रकृति के व्यक्त स्वरूप जगत् में आदि से अंत तक सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों गुण रहेंगे तब समष्टि रूप में

लोक के बीच मंगल का विधान करनेवाली ब्रह्मा की आनन्द कला के प्रकाश की यही पद्धति हो सकती है कि तमोगुण और रजोगुण दोनों सत्त्व गुण के अधीन होकर उसके इशारे पर काम करें।

—‘काव्य के विभाव’, २० भी०, ७०

जो केवल अपने विलास या शरीर-सुख की सामग्री ही प्रकृति में ढूँढ़ा करते हैं, उनमें उस रागात्मक ‘सत्त्व’ की कमी है, जो व्यक्त सत्ता मात्र के साथ एकता की अनुभूति में लीन करके हृदय के व्यापकत्व का आभास देता है।

—‘काव्य’, २० भी०, १३

बुद्धि की क्रिया से हमारा ज्ञान जिस अद्वैत भूमि पर पहुँचता है, उसी भूमि तक हमारा भावात्मक हृदय भी इस सत्त्व-रस के प्रभाव से पहुँचता है।

—‘काव्य’, २० भी०, १४

### सत्त्वरूप

इष्टदेव भगवान के स्वरूप के अतर्गत केवल उनका दया-दक्षिण्य ही नहीं, असाध्य दुष्टों के संहार की उनकी अपरिमित शक्ति और लोकमर्यादा पालन भी है।

—‘लोकधर्म’, गो० तु०, २६

### सदल मिश्र

उनकी भाषा में पूरबीपन बहुत अधिक है।

—‘शारतेन्दु हरिश्चन्द्र’, वित्ता०-१, १८८

लल्लूलाल के समान इनकी भाषा में न तो ब्रजभाषा के रूपों की वैसी भरमार है और न परपरागत काव्यभाषा की पदावली का स्थान-स्थान पर समावेश। इन्होंने व्यवहारोपयोगी भाषा लिखने का प्रयत्न किया है और जहाँ तक हो सका है, खड़ी बोली का ही व्यवहार किया है।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४००-४०१

### सदासुखलाल ‘नियाज़’ (दे० ‘सदल मिश्र’ भी)

गद्य की एक साथ परंपरा चलाने वाले उपर्युक्त (इंशाअल्ला खाँ, लल्लूलाल, सदल मिश्र, सदासुखलाल—स०) चार लेखकों में से आधुनिक हिन्दी का पूरा-पूरा आभास मुंशी सदासुखलाल और सदल मिश्र की भाषा में ही मिलता है। व्यवहारोपयोगी इन्हों की भाषा ठहरती है। इन दो में भी

मुंशी सदासुखलाल की भाषा अधिक महत्त्व की है। मुंशी सदासुख ने लेखनी भी चारों में पहले उठाई। अतः गद्य का प्रवर्तन करनेवालों में उनका विशेष स्थान समझना चाहिए।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० ६० (२०२५ स०), ४०१

मुंशी जी ने हिंदुओं की शिष्ट बोल-चाल की भाषा ग्रहण की, उर्दू से अपनी भाषा नहीं ली।

—‘आधुनिककाल’, हिं० सा० ६०, ३८१

## सभ्यता

ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी त्यों-त्यों एक ओर तो काव्य की आवश्यकता बढ़ती जायगी दूसरी ओर कवि-कर्म कठिन होता जायगा।

—‘भाव’, २० मी०, १६६

रूप बदलने का नाम है सभ्यता, पर यह प्रच्छन्न रूप इतना मर्मस्पर्शी नहीं हो सकता। इसी से इस प्रच्छन्नता का उद्घाटन ‘काव्य’ का एक मुख्य कार्य है। ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों यह काम बढ़ता जायगा, मनुष्य की मूल रागात्मिका वृत्ति से सीधा सम्बन्ध रखनेवाले रूपों को प्रत्यक्ष करने के लिए उसे बहुत-से परदों को हटाना पड़ेगा।

—‘भाव’, २० मी०, १६६

सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ ज्यों-ज्यों मनुष्य के व्यापार बहुरूपी और जटिल होते गए, त्यों-त्यों उनके मूल रूप बहुत कुछ आच्छन्न होते गये। भावों के आदिम और सीधे लक्ष्यों के अतिरिक्त और-और लक्ष्यों की स्थापना होती गई।...बहुत-से ऐसे व्यापारों से मनुष्य घिरता गया जिनके साथ उसके भावों का सीधा लगाव नहीं।

—‘भाव’, २० मी०, १६४-१६५

## —और कविता

आधुनिक सभ्यता ने जो नई-नई वस्तुएँ प्रस्तुत की हैं, उनके संबंध में हमारा अपना विचार तो यही है कि उनके वर्णन में स्वतः कोई रागात्मक प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति कई शताब्दियों तक न आएगी।...इन वस्तुओं का काव्य में बहुत दिनों तक वही स्थान रहेगा, जो हमारे यहाँ के आचार्यों ने सरस वाक्यों के भीतर नीरस वाक्यों का बताया है।

—‘प्रस्तुत रूप-विद्यान्’, २० मी०, ३०५

(काव्य को—सं०) सभ्यता के बाहरी और भीतरी दोनों स्वरूपों को बाह्य आवरण के रूप में रखकर एक रस-धारा के रूप में चलना चाहिए।

—‘प्रस्तुत रूप-विद्यान्’, २० मी०, ३०५

सभ्यता के साथ-साथ वह (कविता—सं०) चलेगी पर उसी का एक विधान होकर नहीं। वह अपनी मूल सत्ता स्वतंत्र रखेगी, किसी काल की सभ्यता की नकल करना, केवल नवीनता दिखाने के लिए पुरानी से भिन्न लगने-वाली बातें खड़ी करना, रेल, तार, हवाई जहाज, कलब, सिनेमा इत्यादि का उल्लेख कर देना ही आधुनिक कविता करना नहीं कहा जा सकता।

—‘प्रस्तुत रूप-विधान’, २० भी०, ३०४-३०५

### समन्वय (दे० ‘रस’ भी)

जहाँ आचार्यों ने पूर्ण रस माना है वहाँ तीन हृदयों का समन्वय चाहिए। आलंबन द्वारा भाव की अनुभूति प्रथम तो कवि में चाहिए फिर उसके वर्णित पात्र में और फिर श्रोता या पाठक में।

—‘काव्य का लक्ष्य’, २० भी०, ६६

धर्म का विकास इसी लोक के बीच हमारे परस्पर व्यवहार के भीतर होता है। हमारे परस्पर व्यवहारों का प्रेरक हमारा रागात्मक या भावात्मक हृदय होता है। अतः हमारे जीवन की पूर्णता कर्म (धर्म), ज्ञान और भक्ति तीनों के समन्वय में है।

—‘मानस की धर्मभूमि’, गो० तु०, १५६

सामग्री परस्पर जितनी ही भिन्न और अनेकांगस्पर्शणी होगी उतना ही उनका सामंजस्यपूर्वक अन्य कला का उत्कृष्ट विधान कहा जायेगा।

—‘काव्य मे रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, १४३

### समष्टि

सारा बाह्य जगत् भगवान का व्यक्त स्वरूप है। समष्टि रूप में वह नित्य है, अतः ‘सत्’ है; अत्यंत रंजनकारी है, अतः ‘आनन्द’ है।

—‘काव्य मे रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, १२७.

### समाचारपत्र—हिन्दी का पहला-

प० जुगल किशोर ने, जो कानपुर के रहनेवाले थे, सवत् १८८४ में ‘उदंतमात्तंड’ नाम का एक संवादपत्र निकाला जिसे हिन्दी का पहला समाचार-पत्र समझना चाहिए।

—‘आधुनिककाल’, हिं० सा० इ०, ३६१.

### समाज

जिस समाज से ज्ञानसम्पन्न शास्त्रज्ञ विद्वानों, अन्याय और अत्याचार के

२१४ :: आचार्य शुक्ल विचार-कोश

दमन में तत्पर वीरों, पारिवारिक कर्तव्य का पालन करने वाले उच्चाशय व्यक्तियों, पतिप्रेमपरायणा सतियों, पितृभक्ति के कारण अपना सुख सर्वस्व त्यागनेवाले पुरुषों, स्वामी की सेवा में भर मिटनेवाले सच्चे सेवकों, प्रजा का पुत्रवत् पालन करनेवाले शासकों आदि के प्रति श्रद्धा और प्रेम का भाव उठ जाएगा, उसका कल्याण कदापि नहीं हो सकता ।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), १३५

जिस समाज से बड़ों का आदर, विद्वानों का सम्मान, अत्याचार का दलन करनेवाले शूरवीरों के प्रति श्रद्धा इत्यादि भाव उठ जाएँ, वह कदापि फल-फूल नहीं सकता; उसमें अशांति सदा बनी रहेगी ।

—‘लोकधर्म’, गो० तु०, २०

देश के असली सामाजिक और घरेलू जीवन को दृष्टि से ओङ्काल करना हम अच्छा नहीं समझते ।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ०, ४६४

समालोचक (दे० ‘आलोचक’, ‘आलोचना’, ‘समालोचना’, ‘समीक्षा’ भी)

किसी चली आती हुई साहित्यिक परंपरा का उद्धाटन भी साहित्य-समीक्षक का एक भारी कर्तव्य है ।

—‘गद्य का प्रसार’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ५०७

—तृतीय उत्थान के-

हँसी तब आती है जब कुछ ऐसे व्यक्ति भी ‘मध्ययुग की प्रवृत्ति’, ‘क्लसिकल’, ‘रोमांटिक’ इत्यादि शब्दों से विभूषित अपनी आलोचना द्वारा ‘नये युग की बाणी’ का संचार समझाने खड़े होते हैं, जो इन शब्दों का अर्थ जानना तो दूर रहा, अँगरेजी भी नहीं जानते ।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ५१०

समालोचना (दे० ‘आलोचक’, ‘आलोचना’, ‘समालोचक’, ‘समीक्षा’ भी)

कविता भावमयी, रसमयी और चित्रमयी होती है, इससे यह आवश्यक नहीं कि उसके स्वरूप का निरूपण भी भावमय, रसमय और चित्रमय हो । १०० कवियों की आलोचना तथा और-और विषयों में भी इसका दबल हो रहा है, यह खटके की बात है । इससे हमारे साहित्य में घोर विचार-शैशिल्य और बुद्धि का आलस्य फैलने की आशका है । जिन विषयों के निरूपण में

सूक्ष्म और सुव्यवस्थित विचार-परंपरा अपेक्षित है, उन्हें भी इस हवाई शैली पर हवा बताना कहाँ तक ठीक होगा !

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५३६  
रवीन्द्र बाबू ने अपनी प्रतिभा के बल से कुछ संस्कृत काव्यों की समीक्षा करते हुए कही-कही आध्यात्मिक अर्थों की योजना की है । ००० इस संबंध में हमारा यही कहना है कि इस प्रकार की प्रतिभापूर्ण कृतियों का भी अपना अलग भूल्य है । वे कल्पनात्मक साहित्य के अतर्गत अवश्य है, पर विशुद्ध समालोचना की कोटि में नहीं आ सकती ।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५४०  
हिन्दी के रीतिग्रंथों के अध्यास से लक्षणा, व्यजना, रस आदि के वास्तविक स्वरूप की सम्यक् धारणा नहीं हो सकती । कविता की समालोचना के लिए यह धारणा कितनी आवश्यक है, कहने की जरूरत नहीं । इसके अतिरिक्त उच्चकोटि की आधुनिक शैली की समालोचना के लिए विस्तृत अध्ययन, सूक्ष्म अन्वेषण बुद्धि और मर्म-ग्राहिणी प्रज्ञा अपेक्षित है ।

—‘गद्य का प्रसार’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५०६

### —तुलनात्मक-

उसकी ओर लोगों का कुछ आकर्षण देखते ही बहुतों ने ‘तुलना’ को ही समालोचना का चरम लक्ष्य समझ लिया और पदिकाओं में तथा द्व्यर्ष-उघर्ष भी लोग भिन्न-भिन्न कवियों के पदों को लेकर मिलान करते । यहाँ तक कि जिन दो पदों में वास्तव में कोई भावसाम्य नहीं, उनमें भी बादरायण संबंध स्थापित करके लोग इस ‘तुलनात्मक समालोचना’ के मंदान में उत्तरने का शौक जाहिर करने लगे ।

—‘गद्य का प्रसार’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५०८

### —योरप में-

किसी कवि या पुस्तक के गुण-दोष या सूक्ष्म विशेषताएँ दिखाने के लिए दूसरी पुस्तक तैयार करने की चाल हमारे यहाँ न थी । ००० योरप में... समालोचना काव्य-सिद्धांत निरूपण से स्वतन्त्र एक विषय ही हो गया ।

—‘गद्य का प्रसार’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५०३

### —संस्कृत में-

संस्कृत साहित्य में समालोचना का पुराना ढंग यह था कि जब कोई आचार्य या साहित्य-मीमांसक कोई नया लक्षणग्रंथ लिखता था, तब जिन काव्य-

रचनाओं को वह उत्कृष्ट समझता था, उन्हें रस, अलंकार आदि के उदाहरणों के रूप में उद्धृत करता था और जिन्हे दुष्ट समझता था, उन्हे दोषों के उदाहरण में देता था। फिर जिसे उसकी राय नापसंद होती थी, वह उन्ही उदाहरणों में से अच्छे ठहराए हुए पद्यों में दोष दिखाता था और बुरे ठहराए हुए पद्यों के दोष का परिहार करता था।

—‘गद्य का प्रसार’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५०२-५०३

### •समीक्षा (दे० ‘आलोचक’, ‘आलोचना’, ‘समालोचक’, ‘समालोचना’ भी)

वैज्ञानिक या विचारात्मक समीक्षा ही कला-निरूपणी समीक्षा है।

—‘काव्य में अभिव्यञ्जनावाद’, चिन्ता०-२, १११

### •सर्ववाद

सर्ववाद का अभिप्राय यह है कि व्यक्ताव्यक्त, मूर्त्तमूर्त्त, चिदचित् जो कुछ है सब ब्रह्म ही है।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, १४०

### •सहानुभूति

दूसरों के, विशेषतः अपने परिचितों के, थोड़े क्लेश या शोक पर जो वेग-रहित दुःख होता है उसे सहानुभूति कहते हैं।

—‘करणा’, चिन्ता०-१, ५२

### •सहृदय (दे० ‘हृदय’, ‘सहृदयता’ भी)

अपने सुख-विलास के अथवा शोभा और सजावट की अपनी रचनाओं के आदर्श को लेकर जो प्रकृति के क्षेत्र का अवलोकन करते हैं... ‘उनमें करोड़ों पीढ़ियों को पार करके आनेवाली अंतस्संज्ञावर्तिनी वह अव्यक्त स्मृति नहीं रह गई, जिसे वासना या संस्कार कहते हैं। वे सच्चे सहृदय नहीं कहे जा सकते।

—‘विभाव’, २० मी०, ११४

‘इस अनंत दृश्य-काव्य के हम सदा कठपुतली की तरह काम करनेवाले अभिनेता ही नहीं बने रहते, कभी-कभी सहृदय दर्शक की हैसियत को भी पहुँच जाते हैं। जो इस दशा को नहीं पहुँचते उनका हृदय बहुत संकुचित या निम्नकोटि का होता है। कविता उनसे बहुत दूर की वस्तु होती है, कवि वे भले ही समझे जाते हों।

—‘प्रत्यक्ष रूप-विद्यान्’, २० मी०, २७५

केवल असाधारणत्व (-दर्शन) की रुचि सच्ची सहृदयता की पहचान नहीं है। शोभा और सौन्दर्य की भावना के साथ जिनमें मनुष्य-जाति के उस समय के पुराने सहचरों की वंशपरम्परागत स्मृति वासना के रूप में बनी हुई है, जब वह प्रकृति के खुले क्षेत्र में विचरती थी, वे ही पूरे सहृदय या भावुक कहे जा सकते हैं।

—‘कविता क्या है ?’, चित्ता०-१, १५०

जो किसी मुख के लावण्य, वनस्थली की सुषमा, नदी या शैलटटी की रमणीयता, कुसुम-विकास की प्रफुल्लता, ग्राम-दृश्यों की सरल माधुरी देख मुग्ध नहीं होता; जो किसी प्राणी के कष्ट व्यंजक रूप और चेष्टा पर करुणाद्रौं नहीं होता; जो किसी पर निष्ठुर अत्याचार होते देख ऋषि से नहीं तिलमिलाता, उसमें काव्य का सच्चा प्रभाव ग्रहण करने की क्षमता कभी नहीं हो सकती।

—‘प्रत्यक्ष रूप-विद्यान्’, २० मी०, २६१।

### सहृदयता

(‘काव्य में असाधारणत्व’ पर बल देने वाली—सं०) एकांगदर्शिता के कारण, कवि के कर्मक्षेत्र से सहृदयता धक्के देकर निकाल दी गई और कवि का कर्मक्षेत्र जीवन के कर्मक्षेत्र से काटा जाने लगा। फालतू कल्पना और फालतू बुद्धि—जो संसार के किसी काम की न ठहरी—कविता के मैदान में दखल जमाने लगी।

—‘काव्य का लक्ष्य’, २० मी०, १०३।

भारतीय हृदय का सामान्य स्वरूप पहचानने के लिए पुराने प्रचलित ग्राम-गीतों की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है; केवल पडितों द्वारा प्रवर्तित काव्य-परंपरा का ही अनुशीलन अलम् नहीं है।

—‘आशुनिककाल’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ५७४।

स्वाभाविक सहृदयता केवल अद्भुत, अनूठी, चमत्कारपूर्ण, विशद् या असाधारण वस्तुओं पर मुग्ध होने में ही नहीं है। जितने आदमी भेड़ाधाट, गुलमर्ग आदि देखने जाते हैं वे सब प्रकृति के सच्चे आराधक नहीं होते; अधिकांश केवल तमाशबीन होते हैं।

—‘विभाव’, २० मी०, ११६।

### —की नक्ल

(जिसे प्रत्यक्ष रूपों की मार्मिक अनुभूति न हो—सं०) वह यदि किसी कविता पर वाह-वाह करे तो समझना चाहिए कि या तो वह भावुकता या सहृदयता की नक्ल कर रहा है अथवा उस रचना के किसी ऐसे अवयव की ओर दत्तचित्त है जो स्वतः काव्य नहीं है ।

—‘प्रत्यक्ष रूप-विधान’, २० मी०, २६१

### सादृश्य-विधान

यदि काव्य सच्चा है, शेष सृष्टि के साथ उसके हृदय का पूर्ण सामंजस्य है, उसमें सृष्टि-व्यापिनी सहृदयता है तो उसके सादृश्य-विधान में एक बात और लक्षित होगी । वह जिस सदृश वस्तु या व्यापार की ओर ध्यान ले जाएगा, कहीं-कहीं उससे मनुष्य को और प्राकृतिक संबंधों के साथ अपने संबंध की बड़ी सच्ची अनुभूति होगी ।

—‘प्रस्तुत रूप-विधान’, २० मी० ३५६

### साधना

साधना के जो तीन अवयव—कर्म, ज्ञान और भक्ति—कहे गए हैं, वे सब काल पाकर दोषग्रस्त हो सकते हैं । ‘कर्म’ अर्थशून्य विधि-विधानों से निकम्मा हो सकता है, ‘ज्ञान’ रहस्य और गुह्य की भावना से पाखंडपूर्ण हो सकता है और ‘भक्ति’ इंद्रियोपभोग की वासना से कलुषित हो सकती है ।

—‘भक्तिकाल’, हिं० साँ० इ० (२०२५ स०), ६७-६८

### —के मार्ग

हमारे यहाँ ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और योगमार्ग तीनों अलग-अलग रहे हैं । ज्ञानमार्ग शुद्ध-बुद्धि की स्वाभाविक क्रिया अर्थात् चित्तन-पद्धति का आश्रय लेता है; भक्तिमार्ग शुद्ध हृदय की स्वाभाविक अनुभूतियों अर्थात् भावों को लेकर चलता है; योगमार्ग चित्त की वृत्तियों को अनेक प्रकार के अस्थासों द्वारा अस्वाभाविक (एबनार्मल) बनाकर अनेक प्रकार की अलौकिक सिद्धियों के बीच होता हुआ अंतस्थ ईश्वर तक पहुँचना चाहता है ।

—‘तुलसी की भक्ति-पद्धति’, गो० तु०

## ‘साधारण

काव्य-क्षेत्र अजायबखाना या नुमाइशगाह नहीं है। जो सच्चा कवि है उसके द्वारा अकित साधारण वस्तुएँ भी मन को लीन करनेवाली होती हैं।

—‘काव्य का लक्ष्य’, २० मी०, १०३

भावो के उत्कर्ष के लिए भी सर्वत्र आलंबन का असाधारणत्व अपेक्षित नहीं होता। साधारण से साधारण वस्तु हमारे गंभीर से गंभीर भावो का आलंबन हो सकती है।

—‘काव्य का लक्ष्य’, २० मी०, १०२

साधारण से ही असाधारण की सत्ता है, केवल असाधारण ही असाधारण साधारण हो जाता है।

—‘काव्य का लक्ष्य’, २० मी०, १०३

## ‘साधारणीकरण

जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्भोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती। इसी रूप में लाया जाना हमारे यहाँ ‘साधारणीकरण’ कहलाता है।

—‘साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचिक्यवाद’, चिन्ता०-१, २२७

मेरा विश्वास तो यही है कि कविता या उसकी समीक्षा जब तक भेदभाव का आधार हटाकर अभेद-भाव के आधार पर न प्रतिष्ठित होगी, तब तक उसका स्वरूप इसी तरह झंझट और खींचतान में पड़ा रहेगा। अभेद-भाव की भूमि तैयार करने का नाम ही ‘साधारणीकरण’ है।

—‘प्रस्तुत रूप-विद्यान’, २० मी०, ३३५

मेरे विचार में साधारणीकरण प्रभाव का होता है, सत्ता या व्यक्ति का नहीं।

—‘प्रत्यक्ष रूप-विद्यान’, २० मी०, २६६

यह सिद्धांत यह घोषित करता है कि सच्चा कवि वही है जिसे लोक-हृदय की पहचान हो, जो अनेक विशेषताओं और विचित्रताओं के बीच से मनुष्य जाति के सामान्य हृदय को अलग करके देख सके। इसी लोक-हृदय में

हृदय के लीन होने की दशा का नाम रसदशा है।

—‘प्रत्यक्ष रूप-विद्यान्’, २० मी०, २६६

रावण और उसके कर्म ऐसे हैं जिन पर मनुष्य जाति क्रोध करने के लिए विवश है। यह क्रोध, भारतीय जनता में ऐसा स्थायी हो गया है कि राम-लीला में कभी-कभी कागज के बने रावण को लड़के युद्ध के पहले ही पत्थरों से मार-मारकर गिरा देते हैं। इसका नाम है साधारणीकरण।... यह सजीव सृष्टिमात्र के हृदय को अपने हृदय में रखनेवाले स्वतंत्र कवियों में ही पाया जाएगा।

—‘काव्य का लक्ष्य’, २० मी०, ६०

साधारणीकरण आलंबनत्व धर्म का होता है।... आलंबन रूप में प्रतिष्ठित व्यक्ति, समान प्रभाववाले कुछ धर्मों की प्रतिष्ठा के कारण, सबके भावों का आलंबन हो जाता है।

—‘प्रस्तुत रूप-विद्यान्’, २० मी०, ३१२  
द० चिन्ता०-१, २३०

‘साधारणीकरण’ का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है वह जैसे काव्य में वर्णित ‘आश्रय’ के भाव का आलम्बन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाती है।

—‘साधारणीकरण और व्यक्ति-वैचिक्यवाद’, चिन्ता०-१, २२६-२३०

सिद्धान्त यहीं निकला कि साधारणीकरण स्वरूप का ही होता है, व्यक्ति या वस्तु का नहीं। इस सिद्धान्त का पूर्ण सामंजस्य उस सिद्धान्त के साथ हो जाता है। वह सिद्धान्त यह है कि मन से आलम्बनों का मार्मिक ग्रहण विव-ग्रहण के रूप में होता है; केवल अर्थ-ग्रहण के रूप में नहीं।

—‘प्रत्यक्ष रूप-विद्यान्’, २० मी०, २६८.

हमारा कहना यह है कि जिस प्रकार काव्य में वर्णित आलंबनों के कल्पना में उपस्थित होने पर साधारणीकरण होता है, उसी प्रकार हमारे भावों के कुछ आलम्बनों के प्रत्यक्ष सामने आने पर भी उन आलम्बनों के संबंध में लोक के साथ—या कम-से-कम सहृदयों के साथ—हमारा तादात्म्य रहता है।

—‘प्रत्यक्ष रूप-विद्यान्’, २० मी०, २७०.

## साधु

जिसे दस भले आदमी—पवित्र और सज्जन लोग, जड़ और नीच-

नहीं—साधु या शुचि मानें, उसी की साधुता और शुचिता किसी काम की है।

—‘शीत-निरूपण और चरित्र-चित्रण’, गो० तु०, १०८

### सामंजस्य

मनुष्य कभी अर्थ-भूमि पर रहता है, कभी काम-भूमि पर। अर्थ और काम के बीच जीवन बाँटता हुआ वह चला चलता है। दोनों का ठीक सामंजस्य सफल जीवन का लक्षण है।

—‘स्मृत-रूप-विद्यान्’, २० मी०, २६०

### साम्यविधान

इस अनंत विश्व महाकाव्य की व्यंजनाओं की परख के साथ जो साम्यविधान होता है, वही मार्मिक और उद्बोधक होता है।

—‘आधुनिककाल, काव्यखंड’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६४२  
हमारे यहाँ साम्य मुख्यतः तीन प्रकार का माना गया है। सादृश्य (रूप या आकार का साम्य), साधर्म्य (गुण या क्रिया का साम्य) और केवल शब्दसाम्य (दो भिन्न वस्तुओं का एक ही नाम होना)। इनमें से अतिम तो श्लेष की शब्दकीड़ा दिखानेवालों के ही काम का है। रहे सादृश्य और साधर्म्य। विचार करने पर इन दोनों में प्रभावसाम्य छिपा मिलेगा।

—‘आधुनिककाल, काव्यखंड’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६३६

### साहस

चुपचाप बिना हाथ-पैर हिलाये धोर प्रहार सहने के लिए तैयार रहना साहस, और कठिन से कठिन प्रहार सहकर भी जगह से न हटना धीरता कही जायेगी।

—‘उत्साह’, चिन्ता०-१, ७

### साहित्य

भाषा का स्वरूप स्थिर हो जाने पर जब साहित्य की रचना कुछ परिमाण में हो लेती है तभी शैलियों का भेद, लेखकों की व्यक्तिगत विशेषताएँ आदि लक्षित होती हैं।

—‘आधुनिककाल’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ४३०

साहित्य के अन्तर्गत वह सारा वाङ्मय लिया जा सकता है जिसमें अर्थ-बोध के अतिरिक्त भावोन्मेष अथवा चमत्कारपूर्ण अनुरंजन हो तथा जिसमें

ऐसे वाड़मय की विचारात्मक समीक्षा या व्याख्या हो।

— काव्य में अभिव्यञ्जनावाद', चिन्ता०-२, १५६

### —और संस्कृति

किसी देश के साहित्य का संबंध उस देश की संस्कृति परंपरा से होता है।

अतः साहित्य की भाषा उस संस्कृति का त्याग करके नहीं चल सकती।

—‘गद्य-साहित्य का आविभाव’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४१८

### —की भाषा

साहित्य की जो भाषा होगी वह ऐसे सामान्य शब्दों को ही व्यवहार में लाएगी जिनका प्रचार दूर-दूर तक होगा। किसी भूखंड के एक कोने का प्रयोग, चाहे वह कोना वही का वर्णन न हो जहाँ की भाषा टकसाली मानी जाती है, शिष्ट प्रयोग में नहीं आएगा।

—‘काव्य-भाषा’, बुद्ध०, ३२

### —की विधाएँ

जगत् और जीवन के नाना पक्षों को लेकर प्रकृत काव्य भी बराबर चलेगा और उपन्यास भी। एक चित्तण और भाव-व्यजना को प्रधान रखेगा,

दूसरा घटनाओं के संचरण द्वारा विविध परिस्थितियों की उद्भावना को।

उपन्यास न जाने कितनी ऐसी परिस्थितियाँ सामने लाते हैं जो काव्य-द्वारा के लिए प्रकृत मार्ग खोलती हैं।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५१७

### —में विचार

विचारशीलता के ह्रास से पुष्ट और समर्थ साहित्य का विकास रुक जाएगा।

—‘काव्य में अभिव्यञ्जनावाद’, चिन्ता०-२, २१८

### —में विचार और व्यापार

‘प्रायः सभी सभ्य जातियों का साहित्य उनके विचारों और व्यापारों से लगा हुआ चलता है। यह नहीं कि उनकी चित्ताओं और कार्यों का प्रवाह एक ओर जा रहा हो और उनके साहित्य का प्रवाह दूसरी ओर।

—‘भारतेंडु हरिश्चन्द्रः परिचयः’, आ० श० प्र० नि�०, १६६

## सिद्ध

बौद्धधर्म विकृत होकर वज्रयान संप्रदाय के रूप में देश के पूरबी भागों में बहुत दिनों से चला आ रहा था। इन बौद्ध तांत्रिकों के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुँचा। ये विहार से लेकर आसाम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे। 'चौरासी सिद्ध' इन्हीं में हुए हैं।

—‘आदिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ११

रहस्यवादियों की सार्वभौम प्रवृत्ति के अनुसार ये (वज्रयानी—सं०) सिद्ध लोग अपनी बानियों के सांकेतिक दूसरे अर्थ भी बताया करते थे...इसी से वे अपनी बानियों की भाषा को 'संध्याभाषा' कहते थे।

—‘आदिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), १५-१६

## —और नाथ

इनकी रचनाएँ तांत्रिकविधान, योगसाधन, आत्मनिग्रह, श्वास-निरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अंतर्मुख साधना के महत्व इत्यादि की सांप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई संबंध नहीं। अतः वे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आतीं।

—‘आदिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), २३

चौरासी सिद्धों में गोरखनाथ (गोरक्षपा) भी गिन लिए गए हैं। पर यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपना मार्ग अलग कर लिया। योगियों की इस हिंदू शास्त्रा ने वज्रयानियों के अश्लील और वीभत्स विधानों से अपने को अलग रखा।...वज्रयानी सिद्धों का लीलाक्षेत्र भारत का पूरबी भाग था। गोरख ने अपने पंथ का प्रचार देश के पश्चिमी भागों में—राजपूताने और पंजाब में—किया। (द० 'गोरखनाथ' भी)

—‘आदिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), १७

नाथपंथ के उपदेशों का प्रभाव हिंदुओं के अतिरिक्त मुसलमानों पर भी प्रारंभ में ही पड़ा। बहुत से मुसलमान, निम्न श्रेणी के ही सही, नाथपंथ में आए। अब भी उस प्रदेश में बहुत-से मुसलमान जोगी गेरुआ वस्त्र पहने, गुदड़ी की लंबी झोली लटकाए, सारंगी बजा-बजाकर 'कलि में अमर राजा भरथरी' के गीत गाते फिरते हैं और पूछने पर गोरखनाथ को अपना आदिगुरु बताते हैं।

—‘आदिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), २१

नाथ पंथ के जोगी कान की लौ में बड़े-बड़े छेद करके स्फटिक के भारी-भारी कुडल पहनते हैं, इससे कनफटे कहलाते हैं।...नाथ पंथ के इन जोगियों ने परपरागत साहित्य की भाषा या काव्यभाषा से, जिसका ढाँचा नागर अपभ्रंश या ब्रज का था, अलग एक 'संधुकड़ी' भाषा का सहारा लिया, जिसका ढाँचा कुछ खड़ी बोली लिए राजस्थानी था।

—‘आदिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), २१

सिद्धों की...‘रचनाओं की भाषा देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश अर्थात् पुरानी हिन्दी की काव्यभाषा है।...दूसरी बात है साप्रदायिक प्रवृत्ति और उसके संस्कार की परंपरा। ये ही दो बातें दिखाने के लिए... (हि० सा० इ० मे—सं०) सिद्धों और योगियों का विवरण दिया गया है। उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुशृतियों और दशाओं से कोई संवंध नहीं।

—‘आदिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), २३-२५

### सुंदर (दे० ‘सौदर्य’ भी)

‘सुंदर’ शब्द बाह्यार्थ की ओर संकेत करता जान पड़ता है और ‘रमणीय’ शब्द हृदय की ओर।

—‘काव्य में अभिव्यजनावाद’, चित्ता०-२, १७६

### सुमित्रानदन पंत (दे० ‘छायावाद’, ‘पल्लव’ भी)

उन्हें प्रकृति की ओर सीधे आकर्षित होने वाला, उसके खुले और चिरंतन रूपों के बीच खुलने वाला हृदय प्राप्त था। यही कारण है कि ‘छायावाद’ शब्द मुख्यतः शैली के अर्थ में, चित्र भाषा के अर्थ में ही, उनकी रचनाओं पर घटित होता है। रहस्यवाद की रूढ़ियों के रमणीय उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए उनकी प्रतिभा बहुत कम प्रवृत्त हुई है। रहस्य-भावना जहाँ है, वहाँ अधिकतर स्वाभाविक है।

—‘आधुनिककाल, काव्यखण्ड’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), ६६५

उस अज्ञात प्रियतम के प्रति प्रेम की व्यंजना में भी कवि ने प्रिय और प्रेमिका का स्वाभाविक पुरुष-स्त्री भेद रखा है। ‘प्रसाद’ जी के समान दोनों को पुर्णिलग रखकर फ़ारसी या सूफी रूढ़ि का अनुसरण नहीं किया है।

—‘आधुनिक काल, काव्यखण्ड’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), ६६६

‘कलावाद’ के प्रभाव से जिस ‘सौन्दर्यवाद’ का चलन योरप के काव्यक्षेत्र के भीतर हुआ उसका पंतजी पर पूरा प्रभाव रहा है। उन्होंने स्पष्ट रूप

से कई जगह 'सौदर्य चयन' को अपने जीवन की साधना कहा है।

—'नई धारा', हिं० सा० इ०, ६४६

छायावाद के भीतर माने जाने वाले सब कवियों में प्रकृति के साथ सीधा प्रेम-संबंध पंतजी का ही दिखाई पड़ता है। प्रकृति के अत्यंत रमणीय खंड के बीच उनके हृदय ने रूप-रंग पकड़ा है।

—'नई धारा' हिं० सा० इ०, ६४५

पंतजी की 'छाया', 'वीचिविलास', 'नक्षत्र' में जो यहाँ से वहाँ तक उपमानों का ढेर लगा है, उनमें से बहुत से तो अत्यंत सूक्ष्म और सुकुमार भाव के व्यंजक हैं और बहुत से रंगबिरंगे खिलौनों के रूप में ही हैं। ऐसी रचनाएँ उस 'कल्पनावाद', 'कलावाद' या 'अभिव्यञ्जनावाद' के उदाहरण-सी लगती हैं, जिसके अनुसार कवि-कल्पना का काम प्रकृति की नाना वस्तुएँ लेकर एक नया निर्माण करना या नूतन सृष्टि खड़ी करना है।

—'आधुनिककाल, काव्यखड़', हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ६४४

पंतजी की रहस्यभावना प्रायः स्वाभाविक ही रही, 'वाद' का साम्प्रदायिक स्वरूप उसने शायद ही कही ग्रहण किया हो।

—'नई धारा', हिं० सा० इ०, ६४०

पंतजी की स्वाभाविक रहस्यभावना को 'प्रसाद' और 'महादेवी वर्मा' की साम्प्रदायिक रहस्यभावना से भिन्न समझना चाहिए।

—'नई धारा', हिं० सा० इ०, ६४१

पंतजी को 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' से निकलकर स्वाभाविक स्वच्छंदता (द्रू. रोमाटिसिज्म) की ओर बढ़ते देख हमें अवश्य संतोष होता है।

—'आधुनिककाल, काव्यखड़', हिं० सा० इ० (२०२५), ६७६

पंतजी ने समाजवाद के प्रति भी रुचि दिखाई है और 'गाँधीवाद' के प्रति भी। ऐसा प्रतीत होता है कि लोकव्यवस्था के रूप में तो 'समाजवाद' की बातें उन्हें पसंद हैं और व्यक्तिगत साधना के लिए 'गाँधीवाद' की बातें।

—'नई धारा', हिं० सा० इ०, ६५७

बहुत अच्छा होता, यदि पंतजी उसी प्रकार जीवन की अनेक परिस्थितियों को नित्य रूप में लेकर अपनी सुदर चित्रमयी प्रतिभा को अग्रसर करते, जिस प्रकार उन्होंने 'गुजन' और 'युगांत' में किया है।

—'आधुनिककाल, काव्यखड़', हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ६२६

यह देखकर प्रसन्नता होती है कि छायावाद के बैंधे घेरे से निकलकर पतजी ने जगत् की विस्तृत अर्थभूमि पर स्वाभाविक स्वच्छंदता के साथ विचरते का साहस दिखाया है।

—'नई धारा', हिं० सा० इ०, ६५८

सौदर्य का आह्वाद उनकी कल्पना को उत्तेजित करके ऐसे अप्रस्तुत रूपों की योजना में प्रस्तुत करता है, जिनसे प्रस्तुत रूपों की सौदर्यानुभूति के प्रसार के लिए अनेक मार्ग खुल जाते हैं।

—‘आधुनिककाल, काव्यखड़’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६६७

हम तो यहीं चाहेगे कि पंतजी आदोलनों की लघेट से अलग रहकर जीवन के नित्य और प्रकृत स्वरूप को लेकर चलें और उसके भीतर लोकमंगल की भावना का अवस्थान करें।

—‘आधुनिककाल, काव्यखड़’, हि० सा० इ०, (२०२५ स०), ६७८

—को कृतियाँ

‘ज्योत्स्ना’ में बहुत दूर तक केवल सौदर्यचयन करने वाली कल्पना मनुष्य के मुख-विलास की भावना के अनुकूल चमकती उषा, सुरभित समीर, चटकती कलियाँ, कलरव करते विहग आदि को अभिनय के लिए मनुष्य के रंगमंच पर जुटाने में प्रवृत्त है। उसके उपरांत आजकल की हवा में उड़ती हुई कुछ लोक-समस्याओं पर कथोपकथन हैं। सब मिलकर क्या है; यह नहीं कहा जा सकता।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ५३१

‘पल्लव’ में कवि अपने व्यक्तित्व के घेरे में बैंधा हुआ, ‘गुजन’ में कभी-कभी उसके बाहर और ‘युगांत’ में लोक के बीच दृष्टि फैलाकर आसन जमाता हुआ दिखाई पड़ता है। ‘गुजन’ तक वह जगत् से अपने लिए सौन्दर्य और आनंद का चयन करता प्रतीत होता है, ‘युगांत’ में आकर वह सौन्दर्य और आनंद का जगत् में पूर्ण प्रसार देखना चाहता है। कवि की सौन्दर्य-भावना अब व्यापक होकर मंगल-भावना में परिणत हुई है।

—‘नई धारा’, हि० सा० इ०, ६५४

प्रतिक्रिया की झोंक में अभिव्यंजना के लाक्षणिक वैचित्र्य आदि के अतिशय प्रदर्शन की जो प्रवृत्ति हम ‘पल्लव’ में पाते हैं वह ‘गुजन’ में नहीं है। उसमें काव्य-शैली अधिक संगत, संयत और गंभीर हो गई है।

—‘नई धारा’, हि० सा० इ०, ६५३

‘युगवाणी’ में तो वर्तमान जगत् में सामाजिक व्यवस्था के संबंध में प्रायः जितने वाद, जितने आदोलन उठे हुए हैं सबका समावेश किया गया है। इन नाना वादों के संबंध में अच्छा तो यह होता कि उनके नामों का

निर्देशन करके, उनके भीतर जीवन का जो सत्याश है, उसका मार्मिक रूप सामने रख दिया जाता।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ६५६

‘युगात’ मे कवि को हम केवल रूप-रग, चमक-दमक, सुख-सौरभ वाले सौन्दर्य से आगे बढ़कर जीवन-सौन्दर्य की सत्याश्रित कल्पना मे प्रवृत्त पाते हैं। उसे बाहर जगत् मे ‘सौन्दर्य, स्नेह, उल्लास’ का अभाव दिखाई पड़ा है।

—‘नई धारा’, हिं० सा० इ०, ६५३

‘युगात’ मे...सबसे ध्यान देने की बात यह है कि ‘वाद’ की लपेट से अपनी वाणी को कवि ने एक प्रकार से मुक्त कर लिया है। चित्रभाषा और लाक्षणिक वैचित्र्य के अनावश्यक प्रदर्शन की वह प्रवृत्ति अब नही है, जो भाषा और अर्थ की स्वाभाविक गति मे बाधक हो।

—‘आधुनिककाल, काव्यबड़’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ६७५

### सूक्ति और काव्य (दे० ‘उक्ति’, ‘काव्य’ भी)

यदि किसी उक्ति मे रसात्मकता और चमत्कार दोनों हो तो प्रधानता का विचार करके सूक्ति या काव्य का निर्णय हो सकता है। जहाँ उक्ति मे अनूठापन अधिक मात्रा मे होने पर भी उसकी तह मे रहने वाला भाव आच्छन्न नही हो जाता वहाँ भी काव्य ही माना जाएगा।

—‘काव्य’, र० मी०, ३७-३८

### सूफ़ी

ईश्वर का विरह सूफ़ियों के यहाँ भक्त की प्रधान संवत्ति है, जिसके बिना साधना के मार्ग मे कोई प्रवृत्त हो नही सकता, किसी की आँखे खुल नही सकती।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ६७

जिसके हृदय मे (ईश्वर का—सं०) यह विरह होता है, उसके लिए यह संसार स्वच्छ दर्पण हो जाता है और इसमे परमात्मा के आभास अनेक रूपो मे पड़ते हैं। तब वह देखता है कि इस सृष्टि के सारे रूप, सारे व्यापार उसी का विरह प्रकट कर रहे हैं। ये भाव प्रेममार्गी सूफ़ी संप्रदाय के सब कवियो मे पाए जाते हैं।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ६७

जिस प्रकार मद, प्याला, मूर्च्छा और उन्माद सूफ़ी रहस्यवादियों का एक लक्षण है, उसी प्रकार प्रियतम ईश्वर के विरह की बढ़ी-चढ़ी भाषा मे

व्यंजना करना भी सूफी कवियों की एक रुद्धि है। यह रुद्धि भारतीय भक्त कवियों के विनय में न पाई जाएगी। भारतीय भक्त तो अपनी व्यक्तिगत सत्ता के बाहर सर्वत्र भगवान का नित्य लीलाक्षेत्र देखता है। उसके लिए विरह कैसा?

—‘तुलसी की भक्ति-पद्धति’, गो० त०, ११

सूफियों के अनुसार यह सारा जगत् एक ऐसे रहस्यमय प्रेमसूत्र में बैधा है, जिसका अवलंबन करके जीव प्रेमसूर्ति तक पहुँचने का मार्ग पा सकता है। सूफी सब रूपों में उसकी छिपी ज्योति देखकर मुग्ध होते हैं।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ६७

सूफियों के प्रेम-प्रबंधों में खंडन की त्रुद्धि को किनारे रखकर, मनुष्य के हृदय को स्पर्श करने का ही प्रयत्न किया गया है, जिससे इनका प्रभाव हिंदुओं और मुसलमानों पर समान रूप से पड़ता है। बीच-बीच में ‘रहस्यमय परीक्षा की ओर जो मधुर संकेत मिलते हैं, वे बड़े हृदयग्राही होते हैं।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ७६

सूफियों ने हठयोगियों की जिन बातों को अपने मेल में देखा, वे ये थीं : १. रहस्य की प्रवृत्ति । २. ईश्वर को केवल अपने मन के भीतर समझना और ढूँढ़ना । ३. बाहरी पूजा और उपासना का त्याग । ये तीनों बातें भारतीय भक्ति-मार्ग से मेल खानेवाली नहीं थीं।

—‘तुलसी की भक्ति-पद्धति’, गो० त०, ६

### —कथानक

हमारा अनुमान है कि सूफियों ने जो कहानियाँ ली हैं वे सब हिंदुओं के घर में बहुत दिनों से चली आती हुई कहानियाँ हैं जिनमें आवश्यकता-नुसार उन्होंने कुछ हेर-फेर किया है। कहानियों का मार्मिक आधार हिंदू है।

—‘भक्तिकाल, सामान्य परिचय’, हिं० सा० इ०, ६७

### —प्रभाव

मुसलमानी जमाने में इन (रहस्यवादी—सं०) सूफियों का प्रभाव देश की भक्तिभावना के स्वरूप पर बहुत कुछ पड़ा। ‘माधुर्य भाव’ को प्रोत्ताहन मिला। माधुर्य भाव की जो उपासना चली आ रही थी, उसमें सूफियों के प्रभाव से ‘आश्वयंतर मिलन’, ‘मूच्छी’, ‘उन्माद’ आदि की भी रहस्य-

मयी योजना हुई। मीराबाई और चैतन्य महाप्रभु दोनों पर सूक्षियों का प्रभाव पाया जाता है।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), १५४

### —प्रेम

साधनात्मक रहस्यवाद-योग जिस प्रकार अज्ञात ईश्वर के प्रति होता है उसी प्रकार सूफियों का प्रेमयोग भी अज्ञात के प्रति होता है।

—‘पद्मावत की प्रेम-पढ़ति’, जा० ग्र०, ३२

सूफियों के प्रेम-प्रबन्धों में खड़न-मड़न की बुद्धि को किनारे रखकर, मनुष्य के हृदय को स्पर्श करने का ही प्रयत्न किया गया है जिससे इनका प्रभाव हिंदुओं और मुसलमानों पर समान रूप से पड़ता है।

—‘भक्तिकाल, सामान्य परिचय’, हिं० सा० इ०, ६६

**सूरदास (दे० ‘भक्ति’, ‘बल्लभाचार्य’, ‘श्रीकृष्ण’, ‘सूरसागर’ भी)**

उनकी रचना जीवन की अनेकरूपता की ओर नहीं गई है, बाल-कीड़ा, प्रेम के रंग-रहस्य, और उसकी अतृप्त वासना तक ही रह गई।

—‘महाकवि सूरदास’, ब्र० गी० सा०, ४

कहीं-कहीं सूर ने कल्पना को अधिक बढ़ाकर या यों कहिए कि ऊहा का सहारा लेकर—जैसा पीछे बिहारी ने बहुत किया—वर्णन कुछ अस्वाभाविक कर दिया है।

—‘महाकवि सूरदास’, ब्र० गी० सा०, २५

चलती हुई ब्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक कृति इन्हीं की मिलती है, जो अपनी पूर्णता के कारण आश्चर्य में डाल देती है। पहली साहित्यिक रचना और इतनी प्रचुर, प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण कि अगले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उकितयाँ इनकी जूठी जान पड़ती हैं। यह बात हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखनेवालों को उलझन में डालने वाली है।

—‘महाकवि सूरदास’, ब्र० गी० सा० (२०२६ स०), १३

जयदेव की देववाणी की स्त्रियों पीयूष-धारा, जो काल की कठोरता में दब गई थी, अवकाश पाते ही लोकभाषा की सरसता में परिणत होकर मिथिला की अमराइयों में विद्यापति के कोकिल कंठ से प्रकट हुई और आगे चलकर ब्रज की करील कुजों के बीच फैल मुरझाए मनों को सीचने लगी। आचार्यों की छाप लगी हुई आठ बीणाएँ श्रीकृष्ण की प्रेमलीला का

कीर्तन करने उठी, जिनमें सबसे ऊँची, सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी।

—‘महाकवि सूरदास’, अ० गी० सा० (२०२६ स०), ६

जिस क्षेत्र को सूर ने चुना है उस पर उनका अधिकार अपरिमित है, उसके बे सआट हैं।

—‘महाकवि सूरदास’, अ० गी० सा०, २६

नित्य कुछ न कुछ पद बनाना उनका नियम था। उन्होंने बहुत अधिक पद कहे हैं। फुटकर पद कहते चले गये हैं; इससे एक ही भाववाले बहुत से पद भी आ गए हैं और कही-कही भाषा भी शिथिल हो गई है। अंधे होने के कारण लिखे पदों को सामने रखकर काटने-छाँटने या हरताल लगाने का उन्हें बैसा भौंका न था, जैसा तुलसी को।

—‘महाकवि सूरदास’, अ० गी० सा० (२०२६ स०), ३३

यदि हम मनुष्य-जीवन के संपूर्ण क्षेत्र को लेते हैं, तो सूरदासजी की दृष्टि परिमित दिखाई पड़ती है। पर यदि उनके चुने हुए क्षेत्रों (शृंगार और वात्सल्य) को लेते हैं, तो उनके भीतर पहुँच का विस्तार बहुत अधिक पाते हैं। उन क्षेत्रों में इतना अंतर्दृष्टि-विस्तार और किसी कवि का नहीं।

—‘महाकवि सूरदास’, अ० गी० सा०, २

‘वात्सल्य’ और ‘शृंगार’ के क्षेत्रों का जितना अधिक उदघाटन सूर ने अपनी बंद आँखों से किया, उतना किसी और कवि ने नहीं।

—‘महाकवि सूरदास’, अ० गी० सा०, २

शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में सूर की समता को और कोई कवि नहीं पहुँचा है। शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का इतना प्रचुर विस्तार और किसी कवि में नहीं मिलता।

—‘महाकवि सूरदास’, अ० गी० सा० (२०२६ स०), १७

सामाजिक जीवन के साथ सूरदास द्वारा वर्णित कृष्णचरित का जो थोड़ा बहुत संबंध दिखाई पड़ता है, उसका सम्यक स्फुरण नहीं हुआ है। रहा प्रेम पक्ष, वह ऐकान्तिक है।

—‘महाकवि सूरदास’, अ० गी० सा०, ५

सूरदासजी का विहार-स्थल जिस प्रकार घर की चहारदीवारी के भीतर तक ही न रहकर यमुना के हरे-भरे कछारों, करील के कुजों और बन-स्थलियों तक फैला है उसी प्रकार उनका विरह-वर्णन भी “बैरिन भईं रतियाँ” और “साँपिन भईं सेजियाँ” तक ही न रहकर प्रकृति के खुले

झेत्र के बीच दूर-दूर तक पहुँचता है। मनुष्य के आदिम वन्य-जीवन के परम्परागत मधुर संस्कार को उद्दीप्त करने वाले इन शब्दों में कितना माधुर्य है—“एक बन ढूँढ सकल बन ढूँडों, कतहुँ न स्याम लहो।”

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा० (२०२६ स०), २३

सूरदास ने शृंगार और वात्सल्य ये ही दो रस लिए हैं। अतः विभाव-पक्ष में भी उनका वर्णन उन्हीं वस्तुओं तक परिमित है, जो उक्त दोनों रसों के आलंबन या उद्दीपन के रूप में आ सकती है; जैसे राधा और कृष्ण के नाना रूप, देश और चेष्टाएँ तथा करील कुज, उपवन...इत्यादि...इसके कारण दो हैं। पहली बात तो यह है कि इनकी रचना ‘गीतकाव्य’ है, जिसमें मधुर ध्वनि-प्रवाह के बीच कुछ चुने हुए पदार्थों और व्यापारों की झलक भर काफी होती है।...परिमिति का दूसरा कारण...है कि सूरदासजी ने जीवन की वास्तव में दो ही वृत्तियाँ ली हैं—बाल वृत्ति और यौवन वृत्ति।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा० (२०२६ स०), ११

सूरदास में जितनी सहृदयता और भावुकता है, प्रायः उतनी ही चतुरता और वासिवदगद्धता (विट) भी है।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा०, २४

हिन्दी-साहित्य में शृंगार का रसराजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया तो सूर ने। बात यह है कि सूर को ‘गीत-काव्य’ की जो परम्परा (जयदेव और विद्यापति की) मिली, वह शृंगार की ही थी। इसी से सूर के संगीत में भी उसी की प्रधानता रही।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा०, २

### —और तुलसी

जब तक हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-भाषी है, तब तक सूर और तुलसी का जोड़ा अमर है। पर...भाव और भाषा दोनों के विचार से गोस्वामी जी का अधिकार अधिक विस्तृत है।

—‘हिन्दी साहित्य में गोस्वामीजी का स्थान’, गो० तु०, १५३  
तुलसी की उपासना सेव्य-सेवक-भाव से कही जाती है और सूर की सभ्य भाव से। सूर में जो कुछ संकोच का अभाव या प्रगल्भता पाई जाती है वह गृहीत विषय के कारण।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा०, २६

तुलसीदास की प्रतिभा सर्वतोमुखी है और सूर की एकमुखी। पर एकमुखी होकर उसने अपनी दिशा में जितनी दूर तक दौड़ लगाई है उतनी दूर

तक की तुलसी ने भी नहीं; और किसी कवि की तो बात ही क्या है ?  
जिस क्षेत्र को सूर ने चुना है उस पर उनका अधिकार अपरिमित है, उसके  
वे सम्राट् हैं ।

—‘महाकवि सूरदास’, अ० गी० सा० (२०२६ स०), ३६

(भक्तिकाल में—सं०) पहले भगवान का हँसता-खेलता रूप दिखाकर सूर ने  
हिन्दू जाति की नैराश्यजनित खिन्नता हटाई, जिससे जीवन में प्रफुल्लता  
आ गई । पीछे तुलसीजी ने भगवान का लोक-व्यापारव्यापी मंगलमय  
रूप दिखा कर आशा और शक्ति का अपूर्व सचार किया ।

—‘तुलसी की भक्ति-पद्धति’, गो० तु०, २

वास्तव में ये हिन्दी काव्य-गगन के सूर्य और चंद्र हैं । जो तन्मयता इन  
दोनों भक्तशिरोमणि कवियों की वाणी में पाई जाती है, वह अन्य कवियों  
में कहाँ ? हिन्दी काव्य इन्हीं के प्रभाव से अमर हुआ; इन्हीं की सरसता  
से उसका स्रोत सूखने न पाया ।

—‘भक्तिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), १६३

सूर और तुलसी ऐसे भक्त कवियों के प्रादुर्भाव के कारणों में अकबर-  
द्वारा संस्थापित शांति-सुख को गिनना भारी भूल है । उस शांति-सुख के  
परिणामस्वरूप जो साहित्य उत्पन्न हुआ, वह दूसरे ढंग का था ।...वह  
उन कई प्रकार की रचना-पद्धतियों का पुनरुत्थान था, जो पठानों के  
शासनकाल की अशांति और विप्लव के बीच दब-सी गई थी और धीरे-  
धीरे लुप्त होने जा रही थी ।

—‘भक्तिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), १८६

सूर और तुलसी को हमें उपदेशक के रूप में न देखना चाहिए ।...न भक्तों  
के राम और कृष्ण उपदेशक, न उनके अनन्य भक्त तुलसी और सूर ।...  
उनका शस्त्र भी मानव हृदय है और लक्ष्य भी ।

—‘तुलसी का भक्ति-मार्ग’, चिन्ता०-१, २०१

सूर की प्रकृति कुछ क्रीड़ाशील थी । उन्हें कुछ खेल-तमाशों का भी शैक  
था । लीलापुरुषोत्तम के उपासक कवि में यह विशेषता होनी चाहिए ।  
तुलसी के गंभीर मानस में इस प्रवृत्ति का आभास नहीं मिलता ।

—‘महाकवि सूरदास’, अ० गी० सा० (२०२६ स०), ३२

सूरदासजी अपने भाव में मग्न रहनेवाले थे, अपने चारों ओर की परिस्थिति  
की आलोचना करनेवाले नहीं । संसार में क्या हो रहा है, लोक-  
की प्रवृत्ति क्या है, समाज किस ओर जा रहा है, इन बातों की ओर

उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया है। तुलसीदास जी लोक की गति के सूक्ष्म पर्यालोचक थे।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा० (२०२६ स०), ३५  
सूरदासजी की रचना में संस्कृत की ‘कोमलकात पदावली’ और अनुप्रासों की वह विचित्र योजना नहीं है जो गोस्वामीजी की रचना में है। दोनों भक्त शिरोमणियों की रचना में यह भेद ध्यान देने योग्य है और इस पर ध्यान अवश्य जाता है।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), १३१  
सूरदास में ऐसे वाक्य के वाक्य मिलते हैं, जो विचारधारा आगे बढ़ाने में कुछ भी योग देते नहीं पाए जाते; केवल पादपूर्त्यर्थ ही लाए हुए जान पड़ते हैं। इसी प्रकार तुकांत के लिए शब्द भी तोड़-मरोड़े गए हैं। पर गोस्वामीजी की वाक्यरचना अत्यंत प्रौढ़ और सुव्यवस्थित है, एक भी शब्द फ़ालतु नहीं। खेद है कि भाषा की यह सफ़ाई पीछे होनेवाले बहुत कम कवियों में रह गई।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), १४१  
सूर में साम्प्रदायिकता की छाप तुलसी की अपेक्षा अधिक है।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा०, २६

### —का प्रेम-वर्णन

सूर का सयोग-वर्णन एक क्षणिक घटना नहीं है; प्रेम संगीतमय जीवन की एक गहरी चलती धारा है, जिसमें अवगाहन करनेवाले को दिव्य माधुर्य के अतिरिक्त और कहीं कुछ नहीं दिखाई पड़ता।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा० (२०२६ स०), १७  
सूर के प्रेम की उत्पत्ति में रूप-लिप्सा और साहचर्य दोनों का योग है। बाल-कीड़ा के सखा-सखी आगे चलकर यौवन-कीड़ा के सखा-सखी हो जाते हैं।...बाल-कीड़ा इस प्रकार क्रमशः यौवन-कीड़ा के रूप में परिणत होती गई कि सन्धि का पता ही नहीं चलता।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा०, ६  
हास-परिहास और छेड़-छाड़ के साथ प्रेम-व्यापार का अत्यंत स्वाभाविक आरंभ सूर ने दिखाया है। किसी की रूप-चर्चा सुन या अकस्मात् किसी की एक झलक पाकर ‘हाय-हाय’ करते हुए इस प्रेम का आरंभ नहीं हुआ है।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा०, ६

## —का भ्रमरगीत

यदि हम सूर के केवल विप्रलंभ शृंगार को ही ले अथवा...“भ्रमरगीत” को ही देखे, तो न जाने कितने प्रकार की मानसिक दशाएँ ऐसी मिलेगी, जिनके नामकरण तक नहीं हुए हैं। मैं इसी को कवियों की पहुँच कहता हूँ।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा० (२०२६ सं०), ६

‘रसविहीन उपदेश किस प्रकार असर नहीं करते, यही दिखाने को ‘भ्रमर गीत’ की रचना हुई है।

‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा० (२०२६ सं०), ३७

## —का वियोग-वर्णन

परिस्थिति की गंभीरता के अभाव से गोपियों के वियोग में भी वह गंभीरता नहीं दिखाई पड़ती जो सीता के वियोग में है। उनका वियोग खाली बैठे का काम-सा दिखाई पड़ता है।...सूर का वियोग-वर्णन, वियोग-वर्णन के लिए ही है, परिस्थिति के अनुरोध से नहीं।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा०, ४

## —की उपासना

‘रति-भाव के तीन प्रबल और प्राचीन रूप—भगवद्विषयक रति, वात्सल्य और दाम्पत्य रति—सूर ने लिए हैं।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा० (२०२६ सं०), २

विनय के जितने पद है, वे भगवद्विषयक रति के अंतर्गत आवेग; वाललीला के पद वात्सल्य के अंतर्गत और गोपियों के प्रेम-संबंधी पद दाम्पत्य रति-भाव के अंतर्गत होंगे। हृदय से निकली हुई प्रेम की इन तीनों प्रबल धाराओं से सूर ने बड़ा भारी सागर भरकर तैयार किया है।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा० (२०२६ सं०), ६-१०

वे ज्ञान के विरोधी नहीं, भक्ति-विरोधी ज्ञान के विरोधी हैं।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा०, ४४

शक्ति, शील और सौदर्य भगवान की इन तीन विभूतियों में से सूर ने केवल सौदर्य तक ही अपने को रखा है, जो प्रेम को आकषित करता है।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा०, ५

श्रद्धा या महत्त्वबुद्धि पुष्ट करने के लिए कृष्ण की शक्ति या लौकिक महत्त्व की प्रतिष्ठा में आग्रह न दिखाने के कारण ही सूर की उपासना सभ्य भाव की कही जाती है।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा० (२०२६ सं०), १२

सूरदास सच्चे प्रेम-मार्ग के त्याग और पवित्रता को ज्ञान-मार्ग के त्याग और पवित्रता के समकक्ष रखने में खूब समर्थ हुए हैं। साथ ही उन्होंने इस त्याग को रागात्मिका वृत्ति द्वारा प्रेरित दिखाकर भक्ति मार्ग या प्रेम मार्ग की सुगमता भी प्रतिपादित की है।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा० (२०२६ सं०), १२

### —की भावप्रवणता

एक-एक वाक्य के साथ हृदय लिपटा हुआ आता दिखाई दे रहा है। एक-एक वाक्य दो-दो तीन-तीन भावों से लदा हुआ है। इसे भाव-शबलता कहें या भाव-पंचामृत।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा०, १४

### —की भाषा

वह ब्रज की चलती बोली होने पर भी एक साहित्यिक भाषा के रूप में मिलती है, जो और प्रातो के कुछ प्रचलित शब्दों और प्रत्ययों के साथ ही साथ पुरानी काव्य-भाषा अपभ्रंश के शब्दों को लिए हुए हैं। सूर की भाषा बिल्कुल बोलचाल की भाषा नहीं है।

—‘महाकवि सूरदास’, भ्र० गी० सा०, ७

वे परंपरागत काव्य-भाषा को बिल्कुल अलग करके एकबारगी नई चलती बोली लेकर नहीं चले। भाषा का एक शिष्ट सामान्य रूप उन्होंने रखा जिसका व्यवहार आगे चलकर बराबर कविता में होता आया।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), १३०

साहित्य की भाषा में, जो बीरगाथा काल के कवियों के हाथ में बहुत कुछ अपने पुराने रूप में ही रही, प्रचलित भाषा के संयोग से नया जीवन संगुणोपासक कवियों द्वारा प्राप्त हुआ। भक्तवर सूरदासजी ब्रज की चलती भाषा को परंपरा से चली आती हुई काव्य-भाषा के बीच पूर्णरूप से प्रतिष्ठित करके साहित्यिक भाषा को लोकव्यवहार के मेल में ले आये।

उन्होंने परंपरा से चली आती हुई काव्य-भाषा का तिरस्कार न करके उसे एक नया चलता रूप दिया ।

—‘भक्तिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), १२६

सूर में चलती भाषा की कोमलता है, वृत्तिविधान और अनुप्रास की ओर झुकाव कम है ।

—‘महाकवि सूरदास’, ऋ० गी० सा०, २१

हम (सूरदास की—सं०) भाषा पर सामान्यतः विचार करते हैं तो वह सर्वत्र तुलसी की-सी गठी हुई, सुव्यवस्थित और अपरिवर्तनीय न मिलेगी ।

—‘महाकवि सूरदास’, ऋ० गी० सा०, २६

### —के गोपीकृष्ण

नित्य अपने बीच चलते-फिरते, हँसते-बोलते, बन में गाय चराते देखते-देखते गोपियाँ कृष्ण में अनुरक्त होती हैं और कृष्ण गोपियों में । इस प्रेम को हम जीवनोत्साह के रूप में पाते हैं; सहसा उठ खड़े हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप में नहीं, जिनमें अनेक प्रकार के प्रतिबन्धों और विघ्न-बाधाओं को पार करने की लम्बी-चौड़ी कथा खड़ी होती है ।

—‘महाकवि सूरदास’, ऋ० गी० सा० (२०२६ स०), १६

सूर के कृष्ण और गोपियाँ पक्षियों के समान स्वच्छन्द हैं । जिस प्रकार के स्वच्छन्द समाज का स्वप्न अंग्रेज कवि शेली देखा करते थे उसी प्रकार का यह समाज सूर ने चिह्नित किया है ।

—‘महाकवि सूरदास’, ऋ० गी० सा०, ३

### ‘सूरसागर’

यदि ‘सूरसागर’ को हम रससागर कहे तो बेखटके कह सकते हैं ।

—‘महाकवि सूरदास’, ऋ० गी० सा०, १४

‘सूरसागर’ का सबसे मर्मस्पर्शी और वार्तैदग्ध्यपूर्ण अंश ‘ध्रमरणीत’ है, जिसमें गोपियों की वचन-वक्रता अत्यंत मनोहारिणी है । ऐसा सुंदर उपालंभ-काव्य और कहीं नहीं मिलता ।

—‘भक्तिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), १६७

‘सूरसागर’ किसी पहले से चली आती हुई परंपरा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा जान पड़ता है, चलने वाली परम्परा का मूल रूप नहीं।

—‘महाकवि सूरदास’, छ० गी० सा०, ६-७

‘सूरसागर’ प्रबंधकाव्य नहीं है, जिसमें वर्णन की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता के निर्णय में घटना या परिस्थिति के विचार का बहुत कुछ योग रहता है।

—‘महाकवि सूरदास’, छ० गी० सा० (२०२६ स०), ११

सूरसागर ‘वास्तव’ में एक महासागर है जिसमें हर एक प्रकार का जल आकर मिला है। जिस प्रकार उसमें मधुर अमृत है उसी प्रकार कुछ खारा, फीका और साधारण जल भी। खारे, फीके और साधारण जल से अमृत को अलग करने में बिवेचकों को प्रवृत्त रहना चाहिए।

—‘महाकवि सूरदास’, छ० गी० सा०, २६

### सूर्यकांत त्रिपाठी ‘निराला’ (दे० ‘छायावाद’ भी)

अद्वैतवाद के वेदाती स्वरूप को ग्रहण करने के कारण इनकी रहस्यात्मक रचनाओं में भारतीय दार्शनिक निरूपणों की झलक जगह-जगह मिलती है। इस विशेषता को छोड़ दे तो इनकी रहस्यात्मक कविताएँ उसी प्रकार माधुर्य भावना को लेकर चली है जिस प्रकार और छायावादी कवियों की।

—‘आशुनिककाल, काव्यबङ्ड’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६८३

जिस प्रकार निरालाजी को छंद के बंधन असचिकर है, उसी प्रकार सामाजिक बंधन भी।

—‘आशुनिककाल, काव्यबङ्ड’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६८२

निरालाजी की रचना का क्षेत्र तो पहले से ही कुछ विस्तृत रहा। उन्होंने जिस प्रकार ‘तुम और मैं’ में उस रहस्य ‘नाना वेद औंकार सार’ का गान किया, ‘जुही की कली’ और ‘शेफालिका’ में उन्मद प्रणय-वेष्टाओं के पुष्पचित्र खड़े किए, उसी प्रकार ‘जागरण वीणा’ बजाई; इस जगत के बीच ‘विधवा’ की विधर और करण मूर्ति खड़ी की और इधर आकर

‘इलाहाबाद के पथ पर’ एक पत्थर तोड़ती दीन स्त्री के माथे पर के श्रम-सीकर दिखाए।

—‘आधुनिककाल, काव्यखंड’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६२७-

बहुवस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा निरालाजी में है। ‘अज्ञात प्रिय’ की ओर इशारा करने के अतिरिक्त इन्होंने जगत् के अनेक प्रस्तुत रूपों और व्यापारों को भी अपनी सरल भावनाओं के रंग में देखा है।

—‘आधुनिककाल, काव्यखंड’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६८१

रहस्यवाद से संबंध रखनेवाली निरालाजी की रचनाएँ आध्यात्मिकता का वह रूप-रग लेकर चली हैं, जिसका विकास बंगाल में हुआ। रचना के प्रारंभिक काल में इन्होंने स्वामी विवेकानन्द और श्री रवीद्रनाथ ठाकुर की कुछ कविताओं के अनुवाद भी किए हैं।

—‘आधुनिककाल, काव्यखंड’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६८२-६८३

संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक निकट लाने का सबसे अधिक प्रयास निरालाजी ने किया है।

—‘नई धारा’, हि० सा० इ०, ६६०

### —की भाषा-शैली

इनकी भाषा में व्यवस्था की कमी प्रायः रहती है जिससे अर्थ या भाव-व्यक्त करने में वह कही-कही बहुत ढीली पड़ जाती है।

—‘नई धारा’, हि० सा० इ०, ६६४-

निरालाजी की शैली कुछ अलग रही। उनमें लाक्षणिक वैचित्र्य का उतना आग्रह नहीं पाया जाता, जितना पदावली की तड़क-भड़क और पूरे वाक्य के वैलक्षण्य का।

—‘आधुनिककाल, काव्यखंड’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६२४-

निरालाजी पर बंग भाषा की काव्य-शैली का प्रभाव समास में गुफित-पदवल्लरी, क्रियापद के लोप आदि में स्पष्ट झलकता है। लाक्षणिक वैलक्षण्य लाने की प्रवृत्ति इनमें उतनी नहीं पाई जाती, जितनी ‘प्रसाद’ और ‘पंत’ में।

—‘आधुनिककाल, काव्यखंड’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६८१-

‘वह तोड़ती पत्थर/देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर’—इस प्रकार की रचनाओं में भाषा बोलचाल की पाई जाती है। पर निरालाजी की

भाषा अधिकतर संस्कृत की तत्सम पदावली में जड़ी हुई होती है, जिसका नमूना 'राम की शक्ति पूजा' में मिलता है।

—'आधुनिककाल, काव्यबड़', हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ६६४  
सबसे अधिक विशेषता आपके पदों में चरणों की स्वच्छांद विषमता है।  
कोई चरण बहुत लंबा, कोई बहुत छोटा, कोई मझोला देखकर ही बहुत से लोग 'रबर छंद', 'केंचुवा छंद' आदि कहने लगे थे। बेमेल चरणों की विलक्षण आजमाइशा इन्होने सबसे अधिक की है।

—'नई धारा', हिं० सा० इ०, ६६१-६६२

### सेनापति

इनकी कविता बहुत मर्मस्पर्शिनी और रचना बहुत ही प्रौढ़ और प्राजल है। जैसे एक ओर इनमें पूरी भावुकता थी, वैसे ही दूसरी ओर चमत्कार लाने की पूरी निपुणता थी।

—'भक्तिकाल', हिं० सा० इ० (२०२५ स०), २१६  
ये बड़े ही सहृदय कवि थे। ऋतु-वर्णन तो इनके ऐसा और किसी शृंगारी कवि ने नहीं किया है। इनके ऋतु-वर्णन में प्रकृति-निरीक्षण पाया जाता है। पदविन्यास भी इनका ललित है। अपने समय के ये बड़े भावुक और निपुण कवि थे।

—'भक्तिकाल की फुटकल रचनाएँ', हिं० सा० इ०, २०६

### सौंदर्य (दे० 'सुंदर' भी)

जिस वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार-परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुंदर कही जाएगी। इस विवेचन से स्पष्ट है कि भीतर-बाहर का भेद व्यर्थ है। जो भीतर है, वही बाहर है।

—'कविता क्या है?', चिन्ता०-१, १६५  
रूप-सौंदर्य से मध्यम कोटि की वस्तु नाद-सौंदर्य या शब्द-माधुर्य है।

—'काव्य के विभाग', र० सी०, ७२  
सौंदर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है—योरपीय कला समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की कौड़ी समझी गई है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बड़जाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं, वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक् सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं।

—'कविता क्या है?', चिन्ता०-१, १६४

### —और प्रयत्न

प्रयत्न ही जीवन की शोभा है; जीवन का सौंदर्य है—केवल अपना पैट भरने या आनंद से तृप्त होने का प्रयत्न नहीं; लोक में उपस्थित बाधा, क्लेश, विषमता आदि से भिड़ने का प्रयत्न।

—‘काव्य मेरहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ४६

### —और मंगल

अभिव्यक्ति के क्षेत्र मेरगत्यात्मक सौंदर्य और गत्यात्मक मंगल ही है। ‘सौंदर्यमंगल की यह गति नित्य है। गति की यही नित्यता जगत् की नित्यता है।

—‘काव्य मेरहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ८७

### —की अनुभूति

किसी वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से हमारी अपनी सत्ता के बोध का जितना ही अधिक तिरोभाव और हमारे मन की उस वस्तु के रूप में जितनी ही पूर्ण परिणति होगी उतनी ही बढ़ी हुई हमारी सौंदर्य की अनुभूति कही जाएगी।

—‘काव्य’, २० भी०, ३०

मन की दर्शन-वृत्ति की रागात्मिका दशा ही सौंदर्य की अनुभूति कहलाती है।

—‘काव्य के विभाग’, २० भी०, ७१

### —विधान और काम-वासना

जब कि (कविता को भी ‘ललित कलाओ’ में दाखिल करानेवाली—स०) यह सौंदर्य-भावना काम-वासना द्वारा प्रेरित ठहराई गई तब पुरुष कवि के लिए यह स्वाभाविक ही ठहरा कि उसकी सारी सौंदर्य-भावना स्त्रीमयी हो अर्थात् प्रकृति के अपार क्षेत्र में जो कुछ सुदर दिखाई पड़े उसकी भावना स्त्री के रूपसौंदर्य के भिन्न-भिन्न अंग लाकर ही की जाय।... आजकल तो स्त्री कवियों की कमी नहीं है। उन्हें अब पुरुष कवियों का दीन अनुकरण न कर अपनी रचनाओं में क्षितिज पर उठती मेघमाला को दाढ़ी-मूँछ के रूप मेरदेखना चाहिए।

—‘आधुनिककाल’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ५४७

## ‘स्कन्दगुप्त’ (दे० ‘जयशंकर प्रसाद’ भी)

‘प्रसाद’ जी में प्राचीन काल की परिस्थितियों के स्वरूप की मधुर भावना के अतिरिक्त भाषा को रँगनेवाली विशेषताएँ कल्पना और भावुकता की अधिकता भी विशेष परिमाण में पाई जाती है। इससे कथोपकथन कई स्थलों पर नाटकीय न होकर वर्तमान गद्यकाव्य के खंड हो गए हैं। बीच-बीच में जो गान रखे गए हैं वे न तो प्रकरण के अनुकूल हैं, न प्राचीन काल की भावपद्धति के। वे तो वर्तमान काव्य की एक शाखा के प्रगति मुवक्क (लिरिक्स) मात्र हैं।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ इ०), ५२७  
‘स्कन्दगुप्त’ नाटक में जिस प्रकार देवसेना और शर्वनाग ऐसे गृह्ण चरित्र के पात्र हैं, उसी प्रकार शुद्ध प्रेम, युद्धोत्साह, स्वदेशभक्ति आदि भावों की मार्मिक और उत्कृष्ट व्यंजना भी है। हमारे यहाँ के पुराने बँधे ढाँचों के भीतर शील-वैचित्र्य का वैसा विकास नहीं हो सकता था, अतः उसका बंधन हटाकर वैचित्र्य के लिए मार्ग खोलना तो ठीक है, पर यह आवश्यक नहीं कि उसके साथ ही रसात्मकता भी हम निकाल दें।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५२५

## स्थानीयता

किसी कवि की रचना में यदि किसी स्थान-विशेष के भीतर ही बोले जानेवाले अनेक शब्द मिलें तो उस स्थान-विशेष से कवि का निवास-संबंध मानना चाहिए।

—‘भवितकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), १२६

## स्मरण (दे० ‘स्मृति’ भी)

जिस प्रकार हमारी आँखों के सामने आए हुए कुछ रूप-व्यापार हमें रसात्मक भावों में मग्न करते हैं उसी प्रकार भूतकाल में प्रत्यक्ष की हुई कुछ परोक्ष वस्तुओं का वास्तविक स्मरण भी कभीकभी रसात्मक होता है।

—‘स्मृति रूप-विद्यान्’, र० मी०, २७६

रति, हास और करुणा से सम्बद्ध स्मरण ही अधिकतर रसात्मक कोटि में आता है।

—‘रसात्मक-बोध के विविध रूप’, विन्ता०-१, २५४

‘स्मरण’ संचारी भावों में माना गया है जिसका तात्पर्य यह है कि स्मरण रस-कोटि में तभी आ सकता है जब कि उसका लगाव किसी स्थायीभाव से हो।

—‘रसात्मक बोध के विविध रूप’ चिन्ता०-१, २५४

### स्मृति (दै० ‘स्मरण’ भी)

मैं तो समझता हूँ कि जीवन का नित्य स्वरूप दिखानेवाला दर्पण मनुष्य के पीछे रहता है; आगे तो बराबर खिसकता हुआ दुर्भेद परदा रहता है। बीती-बिसारनेवाले ‘आगे की सुध’ रखने का दावा किया करें, परिणाम अशांति के अतिरिक्त और कुछ नहीं। वर्तमान को सँभालने और आगे की सुध रखने का ढंका पीटनेवाले संसार में जितने ही अधिक होते हैं, संघ-शक्ति के प्रभाव से जीवन की उलझनें उतनी ही बढ़ती जाती हैं। बीती बिसारने का अभिप्राय है जीवन की अखंडता और व्यापकता की अनुभूति का विसर्जन, सहृदयता और भावुकता का भंग—केवल अर्थ की निष्ठुर कीड़ा।

—‘स्मृत रूप-विद्यान’, २० मी०, २५४-८५

स्मृति दो प्रकार की होती है—(क) विशुद्ध स्मृति और (ख) प्रत्यक्षाश्रित स्मृति या प्रत्यभिज्ञान।

—‘रसात्मक बोध के विविध रूप’, चिन्ता०-१, २५३

हमारी समझ में अतीत की ओर मुड़-मुड़कर देखने की प्रवृत्ति सुख-दुख की भावना से परे है। स्मृतियाँ हमें केवल सुखपूर्ण दिनों की झाँकियाँ नहीं समझ पड़तीं। वे हमें लीन करती हैं, हमारा मर्मस्पर्श करती हैं, बस इतना ही हम कह सकते हैं।

—‘स्मृत रूप-विद्यान’, २० मी०, २८५

### —भासो कल्पना

मानव-जीवन की चिरकाल से चली आती हुई अखंड परंपरा के साथ तादात्म्य की यह भावना आत्मा के शुद्ध स्वरूप की नित्यता, अखंडता और व्यापकता का आभास देती है।

—‘स्मृत रूप-विद्यान’, २० मी०, २८२

### स्वरूप

अपने स्वरूप को भलकर यदि भारतवासियों ने संसार में सुख-समृद्धि प्राप्त की तो क्या? क्योंकि उन्होंने उदात्त वृत्तियों को उत्तेजित करनेवाली

आत्माये शुक्ल विचार-कोश :: २४३

बँधी-बँधाई परंपरा से अपना संबंध तोड़ लिया, नई उभरी हुई इतिहास-शून्य जंगली जातियों में अपना नाम लिखाया।

—‘विभाव’, २० मी०, १५१

### —प्रदर्शन

क्या इसके भी कहने की आवश्यकता है कि ऐसी रचना (मात्र स्वरूप-प्रदर्शनात्मक—स०) मनुष्य के हृदय की भीतरी तह तक नहीं पहुँचती, केवल ऊपरी दिलबहलाव भर करती है? इसी हलकेपन के कारण बहुत से लोग काव्य की सामग्री और अमीरों के शौक की चीज़ समझने लगे।

—‘काव्य का लक्ष्य’, २० मी०, ६६

### स्वच्छंदतावाद (दे० ‘छायावाद’, ‘वाद’ भी)

इलैंड के जिस ‘स्वच्छंदतावाद’ (रोमाटिसिज्म) का इधर हिन्दी में भी बराबर नाम लिया जाने लगा है उसके प्रारंभिक उत्थान के भीतर परिवर्तन के मूल प्राकृतिक आधार का स्पष्ट आभास रहा। पीछे कवियों की व्यक्तिगत, विधागत और बुद्धिगत प्रवृत्तियों और विशेषताओं के—जैसे रहस्यात्मकता, दार्शनिकता, स्वातंत्र्य भावना, कलावाद आदि के—अधिक प्रदर्शन से वह कुछ ढक-सा गया।

—‘आधुनिककाल’, हिं० साँ० ६० (२०२५ स०), ५७५-५७६

### स्वप्न

काव्य सर्वथा स्वप्न के रूप की वस्तु नहीं है। स्वप्न के साथ यदि उसका कुछ मेल है तो केवल इतना ही कि स्वप्न भी हमारी बाह्य इंद्रियों के सामने नहीं रहता और काव्य वस्तु भी, दोनों के आविर्भाव का स्थान भर एक है। स्वरूप में भेद है।

—‘कल्पित स्प-विद्यान’, २० मी०, २६४

### —और मद

काव्य-रचना और काव्य-चर्चा दोनों में इधर ‘स्वप्न’ और ‘मद’ का प्रधान स्थान रहने लगा है।... पर सच पूछिए तो कल्पना में आई हुई वस्तुओं की अनुभूति और स्वप्न में दिखाई पड़नेवाली वस्तुओं की अनुभूति के स्वरूप में वहुत अंतर है। अतः काव्य-रचना या काव्य-चर्चा में ‘स्वप्न’ की

बहुत अधिक भरमार अपेक्षित नहीं। यो ही कहीं-कहीं साम्य के लिए यह शब्द आ जाया करे तो कोई हर्ज़ नहीं।

—‘गद्य-साहित्य की व्रतमान गति’, हि० सा० इ० (२००३ स०), ५७३-५७४

## स्वभाव

### —बाल-

अकारण चिढ़नेवालों को चिढ़ाना बालकों के स्वभाव के अंतर्गत होता है। चिड़चिड़े लोगों की दवा करने का भार मानो समाज ने बालकों को ही दे रखा है।

—‘शोल-निरूपण और चरित्र-चित्रण’, गो० तु०, ११६

### —स्त्री-

नीची श्रेणी की स्त्रियों के सामने बहुत कम प्रकार के विषय आते हैं। पर मनुष्य का मन ऐसी दस्तु है कि अपनी प्रवृत्ति के अनुसार लगे रहने के लिए उसे कुछ-न-कुछ चाहिए। वह खाली नहीं रह सकता। इससे वे अपने राग-द्वेष के अनेक आधार यो ही, बिना कारण ढूँढ़कर खड़ा करती रहती हैं।

—‘शोल-निरूपण और चरित्र-चित्रण’, गो० तु०, ११५

विश्वास न करने वाले के सामने कुछ तटस्थ होकर अपने भाग्य का दोष देने लगना विश्वास उत्पन्न कराने का ऐसा ढंग है, जिसे कुछ लोग, विशेषतः स्त्रियाँ स्वभावतः काम में लाती हैं। इससे श्रोता का ध्यान उसके खेद की सच्चाई पर चला जाता है और फिर क्रमशः उसकी बातों की ओर आकर्षित होने लगता है। इस खेद की व्यंजना प्रायः ‘उदासीनता’ के द्वारा की जाती है, जैसे ‘हमें क्या करना है? हमने आपके भले के लिए कहा था।’

—‘शोल-निरूपण और चरित्र-चित्रण’, गो० तु०, ११६

## स्वाभाविकता

प्राचीन कवियों में इस प्रकार की सुदर स्वाभाविक उक्तियाँ अक्सर मिलती हैं, जिनमें से किसी-किसी को लेकर और उन पर एक साथ कई प्रौढ़ोक्तियाँ लादकर पिछले खेदे के कवियों ने एक भद्री इमारत खड़ी की है। फल इसका यह हुआ है कि उनमें अतिशयोक्ति ही अतिशयोक्ति रह गई है। जो कुछ स्वाभाविकता थी, वह जान (अपनी कहिए या उन पुरानी उक्तियों की कहिए) लेकर भागी है।

—‘तुलसी की भावुकता’, गो० तु०, ६३

## स्वामी दयानन्द

शिक्षा के आंदोलन के साथ ही साथ ईसाई मत का प्रचार रोकने के लिए मतमतांतर संबंधी आदोलन देश के पश्चिमी भागों में चल पड़े। पैगम्बरी एकेश्वरवाद की ओर नवशिक्षित लोगों को खिचते देख स्वामी दयानन्द सरस्वती वैदिक एकेश्वरवाद लेकर खड़े हुए।

—‘आद्युनिककाल’, हिंदू साहित्य (२०२५ सं०), ४२३

स्वामीजी ने अपना ‘सत्यार्थ प्रकाश’ तो हिंदी या आर्यभाषा में प्रकाशित ही किया, वेदों के माध्य भी संस्कृत और हिंदी दोनों में किये। स्वामीजी के अनुयायी हिंदी को ‘आर्यभाषा’ कहते थे। स्वामीजी ने संवत् १६०३ में आर्य समाज की स्थापना की और सब आर्यसमाजियों के लिए हिंदी या आर्यभाषा का पढ़ना आवश्यक ठहराया।

—‘आद्युनिककाल’, हिंदू साहित्य (२०२५ सं०), ४२४

॥ ह ॥

## हठयोग (दे० ‘गोरखनाथ’ भी)

‘नाद’ और ‘विदु’ के योग से जगत् की उत्पत्ति सिद्ध और हठयोगी दोनों मानते थे।

—‘आदिकाल’, हिंदू साहित्य (२०२५ सं०), २०

## ‘हरिग्रीष्म’ (दे० ‘अयोध्यासिंह उपाध्याय ‘हरिग्रीष्म’’ भी)

## ‘हरिकृष्ण ‘प्रेमी’ (दे० ‘नाटक’, ‘हिंदी’, ‘हिंदी के नाटक’ भी)

नाटकों का प्रभाव पात्रों के कथोपकथन पर बहुत कुछ अवलंबित रहता है। श्री हरिकृष्ण ‘प्रेमी’ के कथोपकथन ‘प्रसाद’ जी के कथोपकथन से अधिक नाटकोपयुक्त हैं। उनमें प्रसंगानुसार बातचीत का चलता स्वाभाविक ढंग भी है और सर्वहृदय ग्राह्य पद्धति पर भाषा का मर्मव्यंजक अनूठापन भी। ‘प्रसाद’ जी के नाटकों में एक ही ढंग की चित्रमयी और लच्छेदार बातचीत करनेवाले कई पात्र आ जाते हैं।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिंदू साहित्य (२०२५ सं०), ५२८

**हरिश्चंद्र** (दे० ‘भारतेंदु हरिश्चंद्र’)

**‘हरिश्चंद्र चंद्रिका’** (दे० ‘भारतेंदु हरिश्चंद्र’ भो)

हिन्दी गद्य का ठीक परिष्कृत रूप पहले-पहल इसी ‘चंद्रिका’ में प्रकट हुआ। जिस प्यारी हिंदी को देश ने अपनी विभूति समझा, जिसको जनता ने उत्कंठापूर्वक दौड़कर अपनाया, उसका दर्शन इसी पत्रिका में हुआ।

—‘गद्य का प्रवर्तन’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४३८

### हास्य

दया या करुणा दुखात्मक भाव है, हास आनंदात्मक। दोनों की एक साथ स्थिति बात ही बात है। यदि हास के साथ एक ही आश्रय में किसी और भाव का सामंजस्य हो सकता है तो प्रेम या भक्ति का ही।

—‘भावों का वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५२३

हास और आश्रय दोनों लक्ष्यहीन होने के कारण किसी प्रकार की इच्छा, संकल्प या प्रयत्न की ओर प्रवृत्त नहीं करते।

—‘भावों का वर्णकरण’, र० मी०, १६६

हास यों तो मन का एक वेगमात्र है, पर ‘भावों’ में जिस हास को स्थान दिया गया है वह ऐसा है जिसके आश्रयगत होने पर श्रोता या दर्शक को भी रस-रूप में हास की अनुभूति होती है।

—‘भावों का वर्णकरण’, र० मी०, १६५

### —और हिंदी-साहित्य

शिष्ट और परिष्कृत हास का जैसा सुदर विकास पाष्ठात्य साहित्य में हुआ है, वैसा अपने यहाँ अभी नहीं देखने में आ रहा है। पर हास्य का जो स्वरूप हमे संस्कृत के नाटकों और फृटकल पद्यों में मिलता है, वह बहुत ही समीन, साहित्य संभंत और वैज्ञानिक है।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ०, ५०२

**हिंदी** (दे० ‘खड़ी बोली’, ‘गद्य’, ‘हिंदी : खड़ी बोली’ भी)

खड़ी बोली बाँगड़, ब्रज, राजस्थानी, कन्नौजी, बैसवारी, अवधी इत्यादि में रूपों और प्रत्ययों का परस्पर इतना भेद होते हुए भी सब हिंदी के अंतर्गत मानी जाती है।

—‘फृटकल रचनाएँ’, हिं० सा० इ०, ५४

मन के धन वे भाव हमारे हैं खरे ।  
 जोड़ जोड़कर जिन्हें पूर्वजो ने भरे ॥  
 उस भाषा में जो है इस स्थान की ।  
 उस हिंदी में जो है हिंदुस्तान की ॥  
 उसमें जो कुछ रहेगा वही हमारे काम का ।  
 उससे ही होगा हमें गौरव अपने नाम का ॥

—‘हमारी हिंदी’, मध्य०, ७६

### —और अन्य भाषाएँ

(गद्य के द्वितीय उत्थान में—सं०) एक और तो अँगरेजीदानों की ओर से ‘स्वार्थ लेना’, ‘जीवन होइ’, ‘कवि का सदेश’, ‘दृष्टिकोण’ आदि आने लगे; दूसरी ओर बंग भाषाश्रित लोगों की ओर से ‘सिहरना’, ‘काँदना’, ‘बसंत रोग’ आदि। इतना अवश्य था कि यिछड़े कैडे के लोगों की लिखावट उतनी अजनबी नहीं लगती थी जितनी पहले कैडेवालों की। बंग भाषा फिर भी अपने देश की ओर हिन्दी से मिलती-जुलती भाषा थी।

—‘आधुनिककाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४६७

बंग भाषा की ओर जो झुकाव रहा उसके प्रभाव से बहुत ही परिमार्जित और सुदर संस्कृत पदविन्यास की परंपरा हिन्दी में आई, यह स्वीकार करना पड़ता है। पर ‘अँगरेजी में विचार करनेवाले’ जब आप्टे का अँगरेजी-संस्कृत कोश लेकर अपने विचारों का शाब्दिक अनुवाद करने बैठते थे तब तो हिन्दी बैचारी कोसों द्वारा खड़ी होती थी। वे हिन्दी और संस्कृत के शब्द भर लिखते थे, हिन्दी भाषा नहीं लिखते थे।

—‘गद्य का प्रसार’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४६७

### —और ईसाई धर्मप्रचारक

जिस भाषा में साधारण हिन्दू जनता अपने कथा-पुराण कहती-सुनती आती थी, उसी भाषा का अवलंबन ईसाई उपदेशकों को आवश्यक दिखाई पड़ा। ००० उन पुराने पादरियों ने जिस शिष्ट भाषा में जन-साधारण को धर्म और ज्ञान आदि के उपदेश सुनते-सुनाते पाया, उसीको ग्रहण किया। ००० सारांश यह कि ईसाई मतप्रचारकों ने विशुद्ध हिन्दी का व्यवहार किया है।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४०२-४०३

संवत् १८६० के लगभग हिंदी गद्य की जो प्रतिष्ठा हुई उसका उस समय यदि किसी ने लाभ उठाया तो ईसाई धर्मप्रचारकों ने, जिन्हें अपने मत को साधारण जनता के बीच फैलाना था।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४०२

### —और उद्दू

राजा शिवप्रसाद और भारतेडु के समय तक हिन्दी-उद्दू का झगड़ा चलता रहा। \*\*\* विरोध प्रबल होते हुए भी जैसे देश-भर में प्रचलित अक्षरों और वर्णमाला को छोड़ना असंभव था, वैसे ही परंपरा से चले आते हुए हिंदी साहित्य को भी। अतः अदालती भाषा उद्दू होते हुए भी शिक्षा-विद्यान में (अंग्रेज सरकार को, उन्नीसवीं सदी में—स०) देश की असली भाषा हिंदी को भी स्थान देना ही पड़ा।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४१३-४१४ संस्कृत शब्दों के थोड़े-बहुत मेल से भाषा का जो रुचिकर साहित्यिक रूप हजारों वर्ष से चला आता था, उसके स्थान पर एक विदेशी रूपरंग की भाषा गले में उत्तरना देश की प्रकृति के विश्वद्वय था। (द० ‘उद्दू’ भी)

—‘गद्य-साहित्य का आविर्भाव’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४१८

### —और संस्कृत

कुछ अँगरेज विद्वान संस्कृतगम्भित हिंदी की हँसी उड़ाने के लिए किसी अँगरेजी वाक्य में उसी भाषा में लैटिन के शब्द भरकर पेश करते हैं। उन्हें यह समझना चाहिए कि अँगरेजी का लैटिन के साथ मूल संबंध नहीं है, पर हिंदी, बँगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाएँ संस्कृत के ही कुटुंब की हैं—उसी के प्राकृत रूपों से निकली हैं।

—‘गद्य-साहित्य का आविर्भाव’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४२६ सारी भारतीय भाषाओं का साहित्य चिरकाल से संस्कृत की परिचित और भावपूर्ण पदावली का आश्रय लेता चला आ रहा था। अतः गद्य के नवीन विकास में उस पदावली का त्याग और किसी विदेशी पदावली का सहसा ग्रहण कैसे हो सकता था?

—‘गद्य-साहित्य का आविर्भाव’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४२५

### —और संस्कृत परंपरा

देश भाषा के साहित्य को उत्तराधिकार में जिस प्रकार संस्कृत साहित्य के

कुछ संचित शब्द मिले हैं उसी प्रकार विचार और भावनाएँ भी मिली हैं। विचार और वाणी की इस धारा से हिंदी अपने को विच्छिन्न कैसे रख सकती थी ?

—‘गद्य-साहित्य का आविभाव’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४२६

### —की कहानियाँ

(‘उन्मादिनी’) श्री चंडीप्रसाद हृदयेश की ‘उन्मादिनी’ का जिस परिस्थिति में पर्यवसान होता है, उसमे पूरन का सत्त्वोद्रेक, सौदामिनी का अपत्य स्नेह और कालीशंकर की स्तब्धता तीनों का योग है। …‘उन्मादिनी’ में घटना गतिशील नहीं। …यह भी कहानी का एक ढंग है, यह हमे मानना पड़ेगा। पाश्चात्य आदर्श का अनुसरण इसमें नहीं है, न सही।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५१६.

(‘उसने कहा था’) इसमे पक्के यथार्थवाद के बीच, सुरुचि की चरम मर्यादा के भीतर, भावुकता का चरम उत्कर्ष अत्यंत निपुणता के साथ सपुष्टि है। घटना इसकी ऐसी है जैसी बराबर हुआ करती है; पर उसके भीतर से प्रेम का एक स्वर्गीय स्वरूप झाँक रहा है—केवल भाँक रहा है, निर्लंजिता के साथ पुकार या कराह नहीं रहा है। …इसकी घटनाएँ ही बोल रही हैं, पात्रों के बोलने की अपेक्षा नहीं।

—‘गद्य का प्रसार’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४८१-४८२

(‘रानी केतकी की कहानी’) इंशा (इंशाअल्ला खाँ—सं०) रंगीन और चुलबुली भाषा द्वारा अपना लेखन-कौशल दिखाया चाहते थे…अपनी कहानी का आरभ ही उन्होंने इस ढंग से किया है, जैसे लखनऊ के भाँड़ घोड़ा कुदाते हुए महफिल में आते हैं।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ३६७.

### —के आधुनिक कवि

(अयोध्यासिंह उपाध्याय ‘हरिओंदृ’) उपाध्यायजी को मलकान्त पदावली को कविता का सब कुछ नहीं तो बहुत कुछ समझते हैं। (द० ‘अयोध्यासिंह उपाध्याय ‘हरिओंदृ’, ‘प्रिय प्रवास’ भी—सं०)

—‘आधुनिककाल, काव्यखड़’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५८१  
(छायावादी) अब (कालान्तर में—सं०) शैली के वैलक्षण्य द्वारा प्रतिक्रिया-प्रदर्शन का वेग कम हो जाने से अर्थभूमि के रमणीय प्रसार के चिह्न भी छायावादी कहे जानेवाले कवियों की रचनाओं में दिखाई पड़ रहे हैं। (द० ‘छायावाद’ भी—सं०)

—‘आधुनिककाल, काव्यखड़’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ६२७

(तृतीय उत्थान के छायावादेतर—सं०) ये कवि जगत और जीवन के विस्तृत क्षेत्र के बीच नई कविता का सचार करना चाहते थे। ये प्रकृति के साधारण, असाधारण सब रूपों पर प्रेम-दृष्टि डालकर, उसके रहस्यभरे सच्चे संकेतों को परखकर, भाषा को अधिक चित्रमय, सजीव और मार्मिक रूप देकर कविता का एक अङ्गुत्रिम, स्वच्छंद मार्ग निकाल रहे थे।

—‘आधुनिककाल, काव्यखंड’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ६२०

(महादेवी वर्मा) छायावाद का पहला अर्थात् (रहस्यवाद वाला—सं०) मूल अर्थ लेकर तो हिन्दी काव्यक्षेत्र में चलनेवाली श्री महादेवी वर्मा ही हैं। पत, प्रसाद, निराला इत्यादि और सब कवि प्रतीक-पद्धति या चित्र-भाषा-शैली की दृष्टि से ही छायावादी कहलाए। (द० ‘महादेवी वर्मा’ भी—सं०)

—‘आधुनिककाल, काव्यखंड’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ६३८

(महावीरप्रसाद द्विवेदी) उनका जोर बराबर इस बात पर रहता था कि कविता बोलचाल की भाषा में होनी चाहिए। बोलचाल से उनका मतलबठें या हिन्दुस्तानी का नहीं रहता था, गद्य की व्यावहारिक भाषा का रहता था। परिणाम यह हुआ कि उनकी भाषा बहुत अधिक गद्यवत हो गई। पर जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है ‘गिरा अर्थ जल-बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न’—भाषा से विचार अलग नहीं रह सकता।

—‘आधुनिककाल, काव्यखंड’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५८४-५८५.

‘यथा’ ‘सर्वथा’ ‘तथैव’ ऐसे शब्दों के प्रयोग ने उनकी भाषा को और भी गद्य का स्वरूप दे दिया। (द० ‘महावीर प्रसाद द्विवेदी’ भी—सं०)

—‘आधुनिककाल, काव्यखंड’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५८५

(मैथिलीशरण गुप्त) गुप्तजी जगत और जीवन के व्यक्त क्षेत्र में ही महत्व और सौदर्य का दर्शन करनेवाले तथा अपने राम को लोक के बीच अधिष्ठित देखने वाले कवि है। (द० ‘मैथिलीशरण गुप्त’ भी—सं०)

—‘आधुनिककाल, काव्यखंड’ हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५८६-

### —के आधुनिक काव्य

(‘आँसू’) वेदना की कोई एक निर्दिष्ट भूमि न होने से सारी पुस्तक का कोई एक समन्वित प्रभाव नहीं निष्पन्न होता। पर अलग-अलग लेने पर उक्तियों के भीतर बड़ी ही रंजनकारिणी कल्पना, व्यंजक चित्रों का बड़ा ही अनूठा विन्यास, भावनाओं की अत्यंत सुकुमार योजना मिलती है।

प्रसादजी की यह पहली काव्य-रचना है, जिसने बहुत लोगों को आकर्षित किया। (दै० ‘जयशंकर प्रसाद’ भी—सं०)

—‘आधुनिककाल, काव्यखड़’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६४८-६४९ (‘कामायनी’) ‘कामायनी’ में उन्होने नरजीवन के विकास में भिन्न-भिन्न भावात्मिक वृत्तियों का योग और सघर्ष बड़ी प्रगल्भ और रमणीय कल्पना द्वारा चिनित करके मानवता का रसात्मक इतिहास प्रस्तुत किया है।

—‘आधुनिककाल, काव्यखड़’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६४६ यदि हम इस विशद काव्य की अंतर्योजना पर ध्यान न दें, समष्टि रूप में कोई समन्वित प्रभाव न ढूँढ़े, श्रद्धा, काम, लज्जा, इड़ा इत्यादि को अलग-अलग लें तो हमारे सामने बड़ी ही रमणीय चित्रमयी कल्पना, अभिव्यंजना की अत्यत मनोरम पद्धति आती है।

—‘आधुनिककाल, काव्यखड़’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६६० यह (‘कामायनी’ का—सं०) ‘आनन्दवाद’ वल्लभाचार्य के ‘काव्य’ या ‘आनन्द’ के ढंग का न होकर, तात्त्विकों और योगियों की अतर्भूमि पद्धति पर है।

—‘आधुनिककाल, काव्यखड़’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६५२ यह काव्य बड़ी विशुद्ध कल्पनाओं और मार्मिक उक्तियों से पूर्ण है।... अंत में पहुँचकर कवि ने इच्छा, कर्म और ज्ञान के सामंजस्य पर, तीनों के मेल पर जोर दिया है। एक-दूसरे से अलग रहने पर ही जीवन में विषमता आती है।

—‘आधुनिककाल, काव्यखड़’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६५७-६५८ रूपक की भावना के अनुसार श्रद्धा विश्वास समन्वित रागात्मिक वृत्ति है और इड़ा व्यवसायात्मिक बुद्धि। कवि ने श्रद्धा को मुद्रुता, श्रेम और करुणा का प्रवर्त्तन करनेवाली और सच्चे आनंद तक पहुँचानेवाली चिनित किया है। इड़ा या बुद्धि अनेक प्रकार के वर्गीकरण और व्यवस्थाओं में प्रवृत्त करती हुई कर्मों में उलझानेवाली चिनित की गई है। (दै० ‘कामायनी’, ‘जयशंकर प्रसाद’ भी—सं०)

—‘आधुनिककाल, काव्यखड़’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६५३ (‘गुंजन’) ‘गुंजन’ में हम पंतजी को जगत और जीवन के प्रकृत क्षेत्र के भीतर अमेर बढ़ते हुए पाते हैं, यद्यपि प्रत्यक्षबोध से अनुप्त होकर कल्पना की रुचिरता से तृप्त होने और बुद्धि-व्यापार से क्लांत होकर रहस्य की छाया में विश्राम करने की प्रवृत्ति भी साथ ही साथ बनी हुई है। (दै० ‘मुमित्रानन्दन पंत’ भी—सं०)

—‘आधुनिककाल, काव्यखड़’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६७०

(‘झरना’) दूसरे संस्करण (सं० १६८४—सं०) में...पुस्तक का स्वरूप ही बदल गया। उसमे आधी से ऊपर अर्थात् ३३ रचनाएँ जोड़ी गईं, जिनमे पूरा रहस्यवाद, अभिव्यंजना का अनूठापन, व्यजक चित्रविद्यान सब कुछ मिल जाता है।...द्वितीय संस्करण मे ही छायावाद कही जाने वाली विशेषताएँ स्फुट रूप मे दिखाई पड़ी। (द० ‘जयशंकर प्रसाद’ भी—स०)

—‘आधुनिककाल, काव्यखड़’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६४६-६४७

(‘पल्लव’) (‘झरना’—स०) के पहले श्री सुमिनानन्दन पत का ‘पल्लव’ बड़ी धूमधाम से निकल चुका था, जिसमे रहस्य-भावना तो कही-कही, पर अप्रस्तुत विधान, चित्रमधी भाषा और लाक्षणिक वैचित्र्य आदि विशेषताएँ प्रचुर परिमाण मे सर्वत दिखाई पड़ी थी। (द० ‘पल्लव’, ‘सुमिनानन्दन पत’ भी—स०)

—‘आधुनिककाल, काव्यखड़’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६४७

(‘प्रियप्रवास’) नवशिक्षितों के संसर्ग से उपाध्यायजी ने लोक-सग्रह का भाव अधिक ग्रहण किया है। उक्त काव्य मे श्रीकृष्ण ब्रज के रक्षक नेता के रूप मे अकित किये गये हैं। खड़ी बोली मे इतना बड़ा काव्य अभी तक नहीं निकला है। बड़ी भारी विशेषता इस काव्य की यह है कि यह सारा सस्कृत के वर्णवृत्तों मे है जिसमे अधिक परिमाण मे रचना करना कठिन काम है।

—‘आधुनिककाल’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ५८१

यह काव्य अधिकतर भाव व्यंजनात्मक और वर्णनात्मक है। कृष्ण के चले जाने पर ब्रज की दशा का वर्णन बहुत अच्छा है। विरह-नेदना से क्षुध वचनावली प्रेम की अनेक अतर्दशाओं की व्यंजना करती बहुत दूर तक चली चलती है। जैसा कि इसके नाम से प्रकट है, इसकी कथावस्तु एक महाकाव्य क्या अच्छे प्रबंधकाव्य के लिए भी अपर्याप्त है। (द० ‘अयोध्यार्सिंह उपाध्याय ‘हरिओदै’’, ‘प्रियप्रवास’ भी—स०)

—‘आधुनिककाल’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ५८२

(‘भारत भारती’) यद्यपि काव्य की विशिष्ट पदावली, रसात्मक चित्रण, वाग्वैचित्र्य इत्यादि का विद्यान इसमे न था, पर बीच-बीच मे मार्मिक तथ्यों का समावेश बहुत साफ और सीधी सादी भाषा मे होने से यह पुस्तक स्वदेश की ममता से पूर्ण नवयुवकों को बहुत प्रिय हुई। प्रस्तुत विषय को काव्य का पूर्ण स्वरूप न दे सकने पर भी इसने हिन्दी कविता के लिए

खड़ी बोली की उपयुक्तता अच्छी तरह सिद्ध कर दी। (द० ‘मैथिलीशरण गुप्त’ भी—सं०)

—‘आधुनिककाल, काव्यखंड’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ५८६  
(‘लहर’) प्रसादजी ने ‘लहर’ में छायावाद की चित्रमयी शैली को तीन ऐतिहासिक जीवनखड़ों के बीच ले जाकर आजमाया है। उनमें कथावस्तु का विन्यास नाटकीय पद्धति पर करके उन्होंने बाह्य और आन्तर परिस्थितियों का व्यजक, मनोहर, मार्मिक या आवेशपूर्ण शब्द-विधान किया है। पर कहीं-कहीं जहाँ मधुमय चित्रों की परंपरा दूर तक चली है, वहाँ समन्वित प्रभाव में बाधा पड़ी है।

—‘आधुनिककाल, काव्यखंड’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६४६  
(‘लहर’) में चार-पाँच रचनाएँ ही रहस्यवाद की हैं। पर कवि की तंद्रा और स्वप्न वाली प्रिय भावना जगह-जगह व्यक्त होती है।...  
इस पुस्तक में कवि अपने मधुमय जगत से निकलकर जगत और जीवन के कई पक्षों की ओर भी बढ़ा है। वह अपने भीतर इतना अपरिमित अनुराग समझता है कि अपने सान्निध्य से वर्तमान जगत में उसके फैलने की आशा करता है। (द० ‘जयशंकर प्रसाद’ भी—सं०)

—‘आधुनिककाल, काव्यखंड’, हि० सा० इ० (२०२५), ६५१-६५२  
(‘साकेत’ की रचना तो मुख्यतः इस उद्देश्य से हुई कि उमिला ‘काव्य की उपेक्षिता’ न रह जाय। पूरे दो सर्ग (६ और १०) उसके वियोग-वर्णन में खप गए हैं। (द० ‘मैथिलीशरण गुप्त’ भी—सं०)

—‘आधुनिककाल, काव्यखंड’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ५८७

### —के उपन्यास

(‘चंद्रकाता’, ‘चंद्रकांता संतति’) इन उपन्यासों का ‘लक्ष्य केवल घटना-चित्रिय रहा; रससंचार, भावविभूति, या चरित्र-चित्रण नहीं। ये वास्तव में घटना-प्रधान कथानक या किस्से हैं, जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं; इससे ये साहित्य-कोटि में नहीं आते।

—‘गदा का प्रसार’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ४७६  
शुरू-शुरू में ‘चंद्रकांता’ और ‘चंद्रकांता संतति’ पढ़कर न जाने कितने नवयुवक हिंदी के लेखक हो गए। ‘चंद्रकांता’ पढ़कर वे हिंदी की और छाकार की पुस्तकें भी पढ़ चले और अन्यास हो जाने पर कुछ लिखने भी लगे।

—‘गदा का प्रसार’, हि० सा० इ० (२०२५ स०), ४७६

(‘चित्रलेखा’) जीवन के नित्य स्वरूप का चितन और अनुभव करनेवाले (योरप के—सं०) बड़े-बड़े कवि इधर उपन्यास के क्षेत्र में भी काम करते दिखाई देते हैं। बड़े हर्ष की बात है कि हमारे हिन्दी साहित्य में भी बाँ भगवतीचरण वर्मा ने ‘चित्रलेखा’ नाम का एक सुंदर उपन्यास प्रस्तुत किया है।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५१३

### —के उपन्यासकार

(‘किशोरीलाल गोस्वामी’) साहित्य की दृष्टि से उन्हें हिन्दी का पहला उपन्यासकार कहना चाहिए।

—‘आधुनिक काल’, हिं० सा० इ०, (२०२५ स०), ४७७  
(देवकीनदन खन्नी) उन्होने साहित्यिक हिन्दी न लिखकर ‘हिंदुस्तानी’ लिखी, जो केवल इसी प्रकार की हल्की रचनाओं में काम दे सकती है।  
(दै० ‘देवकीनदन खन्नी’ भी—सं०)

—‘आधुनिककाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४७७  
‘हम यह भी कर सकते हैं, वह भी कर सकते हैं’, इस हैसले ने जैसे बहुत से लेखकों को किसी एक विषय पर पूर्ण अधिकार के साथ जमने न दिया, वैसे ही कुछ लोगों (हिन्दी के आरभिक उपन्यासकारों—सं०) की भाषा को बहुत कुछ डाँवाड़ोल रखा, कोई एक टेढ़ा-सीधा रास्ता पकड़ने न दिया।

—‘आधुनिककाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४७८

### —के गद्यकार

(गोपालराम गहमरी) किसी अनुभूत बात का चरम दृश्य दिखानेवाले ऐसे विलक्षण और कुतूहलजनक चित्रों के बीच से वे पाठक को ले चलते हैं कि उसे एक तमाशा देखने का-सा आनन्द आता है। (दै० ‘गोपालराम गहमरी’ भी—सं०)

—‘आधुनिककाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४११  
(चन्द्रधर गुलेरी) इनके लेखों का पूरा आनंद उन्हीं को मिल सकता है, जो बहुज्ञ या कम से कम बहुश्रूत हैं। (दै० ‘चन्द्रधर शर्मा गुलेरी’ भी—सं०)

—‘गद्य का प्रसार’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४६६  
(पूर्णिंसह, अध्यापक) उनमें विचारों और भावों को एक अनूठे छंग से मिश्रित करनेवाली एक नई शैली मिलती है। उनकी लाक्षणिकता हिन्दी गद्य साहित्य में एक नई चीज़ थी।...उनके निबंध भावात्मक कोटि में

ही आएंगे, यद्यपि उनकी तह में क्षीण विचारधारा स्पष्ट लक्षित होती है।

—‘गदा का प्रसार’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५००

(बालमुकुंद गुप्त) गुप्तजी की भाषा बहुत चलती, सजीव और विनोदपूर्ण होती थी। किसी प्रकार का विषय हो, गुप्तजी की लेखनी उस पर विनोद का रंग चढ़ा देती थी। वे पहले उर्दू के एक अच्छे लेखक थे, इससे उनकी हिन्दी बहुत चलती और फड़कती हुई होती थी। वे अपने विचारों को विनोदपूर्ण वर्णनों के भीतर ऐसा लपेटकर रखते थे कि उनका आभास बीच-बीच में ही मिलता था। उनके विनोदपूर्ण वर्णनात्मक विधान के भीतर विचार और भाव लुके-छिपे से रहते थे। वह उनकी लिखावट की एक बड़ी विशेषता थी।

—‘आधुनिककाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४६३

(माधवप्रसाद मिश्र) पड़ित माधवप्रसाद मिश्र के मार्मिक और ओजस्वी लेखों को जिन्होने पढ़ा होगा उनके हृदय में उनकी मधुर स्मृति अवश्य बनी होगी। उनके निबन्ध अधिकतर भावात्मक होते थे और धाराशौली पर चलते थे। उनमें बहुत सुन्दर मर्मपथ का अनुसरण करती हुई स्तनघ्य वाग्धारा लगातार चली चलती थी।

—‘आधुनिककाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४६६

### —के नाटक

(‘चंद्रकला भानुकुमार’) ‘पूर्ण’ जी (राय देवीप्रसाद—सं०) ब्रजभाषा के एक बड़े ही सिद्धहस्त कवि थे, साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होने इस नाटक को शुद्ध साहित्यिक उद्देश्य से ही लिखा था, अभिनय के उद्देश्य से नहीं। वस्तु-विन्यास में कुतूहल उत्पन्न करनेवाला जो वैचित्र्य होता है, उसके न रहने से कम ही लोगों के हाथ में यह नाटक पड़ा। ललित और अलकृत भाषण के बीच-बीच में मधुर पद्य पढ़ने की उत्कठा रखनेवाले पाठकों ने ही अधिकतर इसे पढ़ा।

—‘गदा का प्रसार’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४७४

(‘चंद्रगुप्त’) ‘चंद्रगुप्त’ में…२५ वर्ष के दीर्घकाल की घटनाएँ लेकर कसी गई है, जो नाटक के भीतर नहीं आनी चाहिए।…बहुत से भिन्न-भिन्न पात्रों से सबद्ध घटनाओं के जुड़ते चलने के कारण बहुत कम चरित्रों के विकास का अवकाश रह गया है। पर इस नाटक में विन्यस्त वस्तु और पात्र—इतिहास का ज्ञान रखनेवालों के लिए इतने आकर्षक है कि उक्त दोषों की ओर ध्यान कुछ देर में जाता है। (दे० ‘ज़्यशंकर प्रसाद’ भी—स०)

—‘गदा की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५२७

(‘रणधीर और प्रेममोहिनी’) यह नाटक उन्होंने (लाला श्रीनिवासदास—सं०) अँगरेजी नाटकों के ढंग पर लिखा था । १० दृश्यो में देशकाला-तुसार सामाजिक परिस्थिति का ध्यान नहीं रखा गया है । १०० पात्रों के अनुरूप भाषा रखने के प्रयत्न में मुशीजी की भाषा इतनी धोर उर्दू कर दी गई है कि केवल हिन्दी पढ़ा व्यक्ति एक पंक्ति भी नहीं समझ सकता । कहाँ स्वयंवर, कहाँ ये मुशीजी ! यह(नाटक—सं०) दुखान्त है । १००० इसकी अधिक चर्चा का एक कारण यह भी था ।

—‘गद्य का प्रवर्तन’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४५१-४५२

### —के नाटककार

(उदयशंकर भट्ट) ऐतिहासिक नाटक-रचना में जो स्थान ‘प्रसाद’ और ‘प्रेमी’ का है, पौराणिक नाटक-रचना में वही स्थान भट्ट जी का है ।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५३१

भट्ट जी की कला का पूर्ण विकास पौराणिक नाटकों में दिखाई पड़ता है । पौराणिक क्षेत्र के भीतर से वे ऐसे पात्र ढूँढ़कर लाए हैं, जिनके चारों ओर जीवन की रहस्यमयी विषमताएँ बड़ी बहरी छाया डालती हुई सामने आती है—ऐसी विषमताएँ जो समाज को भी क्षुब्ध करती रहती हैं ।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५३१

(जयशंकर प्रसाद और हरिश्चन्द्र ‘प्रेमी’) ‘प्रसाद’ जी ने अपना क्षेत्र प्राचीन हिन्दूकाल के भीतर तुना और ‘प्रेमी’ जी ने मुस्लिमकाल के भीतर । ‘प्रसाद’ के नाटकों में ‘स्कंदगुप्त’ श्रेष्ठ है(द० ‘स्कंदगुप्त’ भी—सं०) और ‘प्रेमी’ के नाटकों में ‘रक्षाबंधन’ ।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५२७

(भारतेन्दु हरिश्चन्द्र) नाटकों की रचनाशैली में उन्होंने मध्यम मार्ग का अवलंबन किया । न तो बँगला के नाटकों की तरह प्राचीन भारतीय शैली को एकबारंगी छोड़ दें अँगरेजी नाटकों की नकल पर चले और न प्राचीन नाट्यशास्त्र की जटिलता में अपने को फँसाया । (द० ‘भारतेन्दु हरिश्चन्द्र’ भी—सं०)

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४४०

(लक्ष्मीनारायण मिश्र) नाटक का जो नया स्वरूप लक्ष्मीनारायण जी योरप से लाए हैं, इसमें काव्यत्व का अवयव भरसक नहीं आने पाया है ।

उनके नाटकों में न चित्रमय और भावुकता से लदे भाषण है, न गीत या कविताएँ। खरी-खरी बात कहने का जोश कहीं-कहीं अवश्य है।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५३१

हिन्दी उपन्यास (दे० ‘उपन्यास’, ‘उपन्यासकार’ भी)

### —और काव्य

उपन्यास को काव्य के निकट रखनेवाला पुराना ढाँचा (हिन्दी में—सं०) एकबारगी छोड़ नहीं दिया गया है। छोड़ा क्यों जाय? उसके भीतर हमारे भारतीय कथात्मक गद्य-प्रबंधों (जैसे कादंबरी, हर्षचरित) के स्वरूप की परंपरा छिपी हुई है। योरप उसे छोड़ रहा है, छोड़ दे। यह कुछ आवश्यक नहीं कि हम हरएक क्रदम उसीके पीछे-पीछे रखें।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५१७

जगत और जीवन के नाना पक्षों को लेकर प्रकृत काव्य भी बराबर चलेगा और उपन्यास भी। एक चित्रण और भाव-व्यंजना को प्रधान रखेगा, दूसरा घटनाओं के संचरण द्वारा विविध परिस्थितियों की उद्भावना को। उपन्यास न जाने कितनी ऐसी परिस्थितियाँ सामने लाते हैं, जो काव्यधारा के लिए प्रकृत मार्ग खोलती हैं।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५१७

### —की समीक्षा

अब यह आदत छोड़नी चाहिए कि कहीं हाड़ी का कोई उपन्यास पढ़ा और उसमे अवसाद या दुःखवाद की गंभीर छाया देखी तो चट बोल उठे कि अभी हिन्दी के उपन्यासों को यहाँ तक पहुँचने में बहुत देर है। बौद्धों के दुःखवाद का संस्कार किस प्रकार जर्मनी के शोपनहावर से होता हुआ हाड़ी तक पहुँचा, यह भी जानना चाहिए।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५१७

### —के उत्थान, द्वितीय

द्वितीय उत्थान में आलस्य का जैसा त्याग उपन्यासकारों में देखा गया वैद्या और किसी वर्ग के हिन्दी-लेखकों में नहीं।

‘गद्य का प्रसार’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४७४

## हिन्दी कवि

कल्पित कूथा लेकर प्रबंधकाव्य रचने की प्रथा पुराने हिन्दी कवियों में बहुत कम पाई जाती है। जायसी आदि सूफी शाखा के कवियों ने ही इस प्रकार की पुस्तकें लिखी हैं, पर उनकी परिपाठी बिल्कुल भारतीय नहीं थी। इस दृष्टि से (पुहकर कवि कृत—सं०) ‘रस रतन’ को हिन्दी साहित्य में एक विशेष स्थान देना चाहिए।

—‘भक्तिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), २१६

तुलसीदास जी के पहले तीन कड़े के कवि हिन्दी में हुए थे—एक तो वीरगाथा गानेवाले पुराने चारण; दूसरे प्रेम की कहानी कहनेवाले मुसलमान कवि, और तीसरे केवल वशीवट और जमुनातट तक दृष्टि रखनेवाले पद गानेवाले कृष्णभक्त कवि। इनमें से किसी की दृष्टि विश्वविस्तृत न थी।

—‘बाह्यदृश्य चित्रण’, गो० तु०, १२३

## —और तुलसीदास

भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते हैं, तो इन्हीं महानुभाव (तुलसीदास—सं०) को। और कवि जीवन का कोई एक पक्ष लेकर चले हैं—जैसे वीरकाल के कवि उत्साह को; भक्तिकाल के दूसरे कवि प्रेम और ज्ञान को; अलंकार काल के कवि दाम्पत्य प्रणय या श्रृंगार को। पर इनकी वाणी की पहुँच मनुष्य के स्वरे भावों और व्यवहारों तक है। (द० ‘तुलसीदास’ भी—सं०)

—‘भक्तिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), १३४

## —और संस्कृत-कवि

आदि कवि वाल्मीकि तथा कालिदास आदि प्राचीन कवियों में ऐसा निरीक्षण करानेवाली समग्र बाह्य सुष्ठि से संयुक्त सहृदयता थी जो पिछले कवियों में बराबर कम होती गई और हिन्दी के कवियों के तो हिस्ते में ही न आई। (द० ‘वाल्मीकि’ भी—सं०)

—‘बाह्यदृश्य चित्रण’, गो० तु०, १२१।

## हिन्दी-कविता (द० ‘कविता’, ‘काव्य’, ‘हिन्दी’ भी)

हिन्दी की कविता का उत्थान उस समय हुआ जब संस्कृत काव्य लक्ष्य-च्युत हो चुका था। इसी से हिन्दी की कविताओं में प्राकृतिक दृश्यों का

वह सूक्ष्म वर्णन नहीं मिलता जो संस्कृत की प्राचीन कविताओं में पाया जाता है।

—‘विभाव’, २० मी०, १२६

### —की भाषा, आदिकाल-भक्तिकाल

साहित्य की भाषा में, जो बीरगाथाकाल के कवियों के हाथ में बहुत-कुछ अपने पुराने रूप में ही रही, प्रचलित भाषा के सयोग से नया जीवन सगुणोपासक कवियों द्वारा प्राप्त हुआ। भक्तवर सूरदासजी ब्रज की चलती भाषा को परंपरा से चली आती हुई काव्यभाषा के बीच पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित करके साहित्यिक भाषा को लोक-व्यवहार के मेल में ले आए।

—‘भक्तिकाल’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), १२६

### —की भाषा, रीतिकाल

भाषा जिस समय सैकड़ों कवियों द्वारा परिमार्जित होकर प्रौढ़ता को पहुँची, उसी समय व्याकरण द्वारा उसकी व्यवस्था होनी चाहिए थी, जिससे उस च्युत संस्कृति दोष का निराकरण होता जो ब्रजभाषा काव्य में थोड़ा-बहुत सर्वत्र पाया जाता है।...बहुत थोड़े कवि ऐसे मिलते हैं, जिनकी वाक्य-रचना सुव्यवस्थित पाई जाती है।

—‘रीतिकाल, सामान्य परिचय’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), २३०

### —के ग्राम्युनिक उत्थान

प्रथम उत्थान के भीतर काव्य को भी देश की बदली हुई स्थिति और मनोवृत्ति के मेल में लाने के लिए मारतेन्दु मंडल ने कुछ प्रयत्न किया। पर यह प्रयत्न केवल सामाजिक और राजनीतिक स्थिति की ओर हृदय को थोड़ा प्रवृत्त करके रह गया।...द्वितीय उत्थान के भीतर...काव्य-धोत्र का विस्तार बढ़ा, बहुत से नए-नए विषय लिए गए और बहुत से कवि कवित, सबैये लिखने से बाज आकर संस्कृत के अनेक बूतों में रचना करने लगे।...स्वतन्त्र वर्णन के लिए मनुष्येतर प्रकृति को कवि लोग लेने लगे...तृतीय उत्थान में आकर खड़ीबोली के भीतर काव्यत्व का अच्छा स्फुरण हुआ।

—‘नई धारा’, हि० सा० इ० (२०२५ सं०), ६१३-६१५

ब्रजभाषा काव्य-परंपरा के अतिरिक्त इस समय (तृतीयोत्थान में—सं०) चलनेवाली खड़ीबोली की तीन धाराएँ स्पष्ट...होंगी—द्विवेदीकाल की

क्रमशः विस्तृत और परिष्कृत होती हुई धारा, छायावाद कही जानेवाली धारा, तथा स्वाभाविक स्वच्छदत्ता को लेकर चलती हुई धारा, जिसके अंतर्गत राजनीतिक और सामाजिक परिवर्तन की लालसा व्यक्त करने वाली शाखा भी हम ले सकते हैं।

— आष्टुनिकाल, काव्यबंड', हि० सा० इ० (२०२५ स०), ६२८

**हिन्दी कहानी (दे० 'कहानी', 'हिंदी की कहानियाँ' भी)**

छोटी कहानियों का विकास तो हमारे यहाँ और भी विशद और विस्तृत रूप में हुआ और उसमें वर्तमान कवियों का भी पूरा योग रहा है।

— 'गद्य की वर्तमान गति', हि० सा० इ० (२०२५ स०), ५१६

छोटी कहानियों के जो आदर्श और सिद्धात अँगरेजी की अधिकतर पुस्तकों में दिए गए हैं, उनके अनुसार छोटी कहानियों में शील या चरित्र विकास का अवकाश नहीं रहता। परं प्रेमचंदजी की एक कहानी है 'बड़े भाई साहब', जिसमें चरित्र-चित्र के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं।... प्रेमचंदजी ने कहानी में चरित्र विकास को बड़ा भारी कौशल कहा है।

— 'गद्य की वर्तमान गति', हि० सा० इ० (२०२५ स०), ५१६

**हिन्दी : खड़ी बोली (दे० 'उर्दू', 'खड़ी बोली', 'गद्य', 'हिंदी' भी)**

अदालती भाषा उर्दू बनाई जाने पर भी विक्रम की २०वीं शताब्दी के आरंभ के पहले से ही हिंदी खड़ी बोली गद्य की परंपरा हिंदी साहित्य में अच्छी तरह चल पड़ी, उसमें पुस्तकें छपने लगी, अखबार निकलने लगे।

— 'गद्य का विकास', हि० सा० इ० (२०२५ स०), ४११

खड़ी बोली को मुसलमानों द्वारा जो रूप दिया गया, उससे सर्वथा स्वतंत्र वह अपने प्रकृत रूप में भी दो-दाई सौ वर्ष से लिखने-पढ़ने के काम में आ रही है, यह बात 'योगवासिष्ठ' और 'पद्मपुराण' अच्छी तरह प्रमाणित कर रहे हैं। अतः यह कहने की गुजाइश अब जारा भी नहीं रही कि खड़ी बोली गद्य की परंपरा अँगरेजी की प्रेरणा से चली।

— 'गद्य का विकास', हि० सा० इ० (२०२५ स०), ३६१

देश के परपरागत साहित्य की—जो संवत् १६०० के पूर्व तक पद्ममय ही रहा—भाषा ब्रजभाषा ही रही और खड़ी बोली वैसे ही एक कोने में पड़ी रही, जैसे और प्रांतों की बोलियाँ। साहित्य या काव्य में उसका व्यवहार नहीं हुआ।

— 'गद्य का विकास', हि० सा० इ० (२०२५ स०), ३८८

यद्यपि पहले से साहित्य भाषा के रूप में स्वीकृत न होने के कारण इसमें अधिक रचना नहीं पाई जाती, पर यह बात नहीं है कि इसमें ग्रंथ लिखे ही नहीं जाते थे।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ३६६-३६०

### —, आरंभिक स्थितियाँ

जिस प्रकार उस (खड़ी बोली—सं०) के उर्दू कहलाने वाले कृतिम रूप का व्यवहार भौलबी, मुंशी आदि फ़ारसी तालीम पाए हुए कुछ लोग करते थे, उसी प्रकार उसके असली स्वाभाविक रूप का व्यवहार हिंदू, साधु, पंडित, महाजन आदि [अपने विशिष्ट भाषण में करते थे। जो संस्कृत पढ़े-लिखे या विद्वान होते थे, उनकी बोली में संस्कृत के शब्द भी मिले रहते थे।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ३६२

मुसलमानों के दिए हुए कृतिम रूप से स्वतंत्र खड़ी बोली का स्वाभाविक देशी रूप भी भिन्न-भिन्न भागों में पछाँह के व्यापारियों आदि के साथ-साथ फैल रहा था। उसके प्रचार और उर्दू साहित्य के प्रचार से कोई संबंध नहीं। धीरे-धीरे यही खड़ी बोली व्यवहार की सामान्य शिष्ट भाषा हो गई।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ३६२

शिष्ट समाज के बीच उन्हें (अँगरेजों को—सं०) दो ढंग की भाषाएँ चलती मिलीं। एक तो खड़ी बोली का सामान्य देशी रूप, दूसरा वह दरबारी रूप जो मुसलमानों ने उसे दिया था और उर्दू कहलाने लगा था। अँगरेज यद्यपि विदेशी थे, पर उन्हें यह स्पष्ट लक्षित हो गया कि जिसे उर्दू कहते हैं, वह न तो देश की स्वाभाविक भाषा है, न उसका साहित्य देश का साहित्य है, जिसमें जनता के भाव और विचार रक्षित हों।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ३६२-३६३

### —, गद्य, आरंभिक स्थितियाँ

जिस समय दिल्ली के उज़इने के कारण उधर के हिंदू व्यापारी तथा अन्य वर्ग के लोग जीविका के लिए देश के भिन्न-भिन्न भागों में फैल गए और खड़ी बोली अपने स्वाभाविक देशी रूप में शिष्टों की बोलचाल की भाषा हो गई, उसी समय से लोगों का ध्यान उसमें गद्य लिखने की ओर गया।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ० (२०२५ सं०), ३६३

हिन्दी कविता में परंपरागत काव्यभाषा—ब्रजभाषा का व्यवहार चला आता था और उदू कविता में खड़ी बोली के अरबी-फ़ारसी मिश्रित रूप का। जब खड़ी बोली अपने असली रूप में भी चारों ओर फैल गई, तब उसकी व्यापकता और भी बढ़ गई और हिन्दी गद्य के लिए उसके ग्रहण में सफलता की संभावना दिखाई पड़ी।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ३६३।

—, पद्य

हिन्दी में खड़ी बोली के पद्यप्रवाह के लिए तीन रास्ते खोले गए—उदू या फ़ारसी की बहो का, सस्कृत के वृत्तों का और हिन्दी के छंदों का। इनमें से प्रथम मार्ग का अवलबन तो मैं नैराश्य या आलस्य समझता हूँ। वह हिन्दी काव्य का निकाला हुआ अपना मार्ग नहीं...सस्कृत पदावली का अधिक आश्रय लेने से खड़ी बोली के मँजने की संभावना दूर ही रहेगी। हिन्दी के सब तरह के प्रचलित छंदों में खड़ी बोली की स्वाभाविक वाग्धारा का अच्छी तरह खपने योग्य हो जाना ही उनका मँजना कहा जाएगा।

—‘आधुनिककाल, काव्यखण्ड’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ६१०

खड़ी बोली को पद्यों में अच्छी तरह ढलने में जो काल लगा, उसके भीतर की रचना तो बहुत कुछ इतिवृत्तात्मक रही, पर (इस) तृतीय उत्थान में आकर यह काव्य-धारा कल्पनान्वित, भावाविष्ट और अभिव्यजनात्मक हुई।...खड़ी बोली वास्तव में (द्विवेदीकाल में प्रवर्तित खड़ी बोली काव्य की—सं०) इसी धारा के भीतर मँजी है।

— आधुनिककाल, काव्यखण्ड’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ६३०

हिन्दी गद्य

गद्य की पुरानी रचनां जो थोड़ी-सी मिलती हैं, वह ब्रजभाषा ही में।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ३८३

भक्तिकाल के समान रीतिकाल में भी थोड़ा-बहुत गद्य इधर-उधर दिखाई पड़ जाता है पर अधिकांश कच्चे रूप में। गोस्वामियों की लिखी ‘वैष्णववार्ताओं’ के समान कुछ पुस्तकों में ही पुष्ट ब्रजभाषा मिलती है।

—‘रीतिकाल के अन्य कवि’, हिं० सा० इ०, २६६

भगवान का यह भी एक अनुग्रह समझना चाहिए कि (पहले से ही गद्य के विकसित हो जाने का—सं०) यह भाषा-विप्लव नहीं संघटित हुआ

और खड़ी बोली, जो कभी अलग और कभी ब्रजभाषा की गोद में दिखाई पंड जाती थी, धीरे-धीरे व्यवहार की शिष्ट भाषा होकर गद्य के नए मैदान में दौड़ पड़ी ।

—‘गद्य का विकास’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ३८६

भारतेंदु ने नयी सुधरी हुई हिंदी का उदय इसी ('हरिशचन्द्र-चंद्रिका' के—सं०) समय से माना है । उन्होंने 'कालचक्र' नाम की अपनी पुस्तक में नोट किया है कि 'हिन्दी नयी चाल में ढली, सन् १८७३ में'

—‘आशुनिककाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४३८

### —की भाषा

हरिशचन्द्र-काल के सब लेखकों में अपनी भाषा की प्रकृति की पूरी परख थी । संस्कृत के ऐसे शब्दों और रूपों का व्यवहार बैं करते थे जो शिष्ट समाज के बीच प्रचलित चले आते हैं ।

—‘प्रथम उत्त्यान, सामान्य परिचय’, हिं० सा० इ०, ४१४

### —पर रवीद्र का प्रभाव

रवींद्र बाबू के प्रभाव से कुछ रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता का रंग लिए जिस भावात्मक गद्य का चलन हुआ, वह विशेष अलंकृत होकर अन्योक्ति पद्धति पर चला ।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५३४

### हिंदी नाटक (दे० ‘नाटक’, ‘हिन्दी’ भी)

अपने नाट्यशास्त्र के जटिल विधान को ज्यों का त्यो लेकर हम आजकल नहीं चल सकते, पर उनका बहुत-सा रूपरंग अपने नाटकों में ला सकते हैं, जिससे भारतीय परंपरा के प्रतिनिधि बैं बने रह सकें ।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५२६

खेद के साथ कहना पड़ता है कि भारतेंदु के समय में धूम से चली हुई नाटकों की...परंपरा आगे चलकर बहुत शिथिल पड़ गई ।...इस उदासीनता का कारण उपन्यासों की ओर दिन-दिन बढ़ती हुई रुचि के अतिरिक्त अभिनयशालाओं का अभाव भी कहा जा सकता है ।...उस समय नाटक खेलनेवाली जो व्यवसायी पारसी कंपनियाँ थीं, वे उर्दू छोड़ हिंदी नाटक खेलने को तैयार न थीं ।

—‘गद्य का प्रवर्तन’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४३३

‘प्राचीन नाट्यशास्त्र (भारतीय और यवन दोनों) में कुछ बातों का—जैसे मृत्यु, वध, युद्ध—दिखाना वर्जित था।’ ‘देश की परंपरागत सुरुचि की रक्षा के लिए कुछ व्यापार तो हमें आजकल भी वर्जित रखने चाहिए, जैसे चुबन, आर्लिंगन।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५२६

यह देखकर प्रसन्नता होती है कि हमारे ‘प्रसाद’ और ‘प्रेमी’ ऐसे ‘प्रतिभाशाली नाटकारों ने (योरप की वस्तु-विद्यानवादी—स०) उक्त प्रवृत्ति का अनुसरण न करके रस-विद्यान और शील-वैचित्र्य दोनों का सुंदर सामंजस्य रखा है।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५२५

स्वर्गीय जयशंकर प्रसादजी अपने नाटकों द्वारा यह साफ झलका देते हैं कि प्राचीन ऐतिहासिक वृत्त लेकर चलनेवाले नाटकों की रचना के लिए काल-विशेष के भीतर के तथ्य बटोरनेवाला कैसा विस्तृत अध्ययन और उन तथ्यों द्वारा अनुभित सामाजिक स्थिति के सजीव ब्यौरे सामने खड़ा करने वाली कैसी सूक्ष्म कल्पना चाहिए।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५१०

## हिन्दी भाषा

अँगरेजी आदि अन्य समुन्नत भाषाओं की उच्च विचारधारा से परिचित और अपनी भाषा पर भी यथेष्ट अधिकार रखनेवाले कुछ लेखकों की कृपा से हिन्दी की अर्थोद्घाटिनी शक्ति की अच्छी वृद्धि और अभिव्यञ्जन-प्रणाली का भी अच्छा प्रसार हुआ। सधन और गुम्फित विचार-सूक्ष्मों को व्यक्त करनेवाली तथा सूक्ष्म और गूढ़ भावों को झलकाने वाली भाषा हिन्दी साहित्य को कुछ-कुछ प्राप्त होने लगी। उसी के अनुरूप हमारे साहित्य का डौल भी बहुत कुछ ऊँचा हुआ।

—‘आघुनिककाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४६८

अपभ्रंश काल की प्राचीन हिन्दी में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि उसमें एक भी संस्कृत शब्द न मिलेगा।

—‘काव्य-भाषा’, बुद्ध०, १०

आजकल भाषा की भी बुरी दशा है। बहुत से लोग शुद्ध भाषा लिखने का अभ्यास होने के पहले ही बड़े-बड़े पोथे लिखने लगते हैं, जिनमें व्याकरण की भड़ी भूलें तो रहती ही हैं, कहीं-कहीं वाक्य-विन्यास तक ठीक नहीं

रहता। यह बात और किसी भाषा के साहित्य में शायद ही देखने को मिले।

—‘गद्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५११

भक्तिकाल में आकर भाषा के चलते रूप को समाश्रय मिलने लगा। कबीरदास ने चलती बोली में अपनी बाणी कही। पर वह बोली बेठिकने की थी। उसका कोई नियत रूप न था। शौरसेनी अपश्रंश या नागर अपश्रंश का जो सामान्य रूप साहित्य के लिए स्वीकृत था उससे कबीर का लगाव न था। उन्होने नाथपंथियों की ‘सधुकड़ी भाषा’ का व्यवहार किया जिसमें खड़ी बोली के बीच राजस्थानी और पंजाबी का मेल था।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), १२६

वीरगाथा के कवि अपने संकुचित क्षेत्र में काव्य-भाषा के पुराने रूप को लेकर एक विशेष शैली की परम्परा निभाते आ रहे थे। चलती भाषा का संस्कार और समुन्नति उनके द्वारा नहीं हुई।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), १२६

### —का प्रचार, आरभिक स्थितियाँ

सरकारी दफतरों आदि में नागरी का प्रवेश न होने से नवशिक्षितों में हिंदी पढ़नेवालों की पर्याप्त संख्या नहीं थी। इससे नूतन साहित्य के निर्माण और प्रकाशन में पूरा उत्साह नहीं बना रह पाता था। पुस्तकों का प्रचार होते न देख प्रकाशक भी हतोत्साह हो जाते थे और लेखक भी।

—‘आधुनिककाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४६२

सम्बत् १९५७ में, भारतेंदु के समय से ही चले आते हुए (हिंदी प्रचार के—सं०) इस उद्योग का फल प्रकट हुआ और कचहरियों में नागरी के प्रवेश की घोषणा प्रकाशित हुई।

—‘आधुनिककाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ४६४

### हिंदी साहित्य

हमारे साहित्य में रीतिकाल की जो रुद्धियाँ हैं, वे किसी और देश की नहीं; उनका विकास इसी देश के साहित्य के भीतर संस्कृत में हुआ है। संस्कृत काव्य और उसी के अनुकरण पर रचित प्राकृत अपश्रंश काव्य भी हमारा ही पुराना काव्य है, पर पंडितों और विद्वानों द्वारा रूप ग्रहण-

करते रहने और कुछ बैंध जाने के कारण जनसाधारण की भावमयी वाग्धारा से कुछ हटाना लगता है।

—‘आधुनिककाल, काव्यखण्ड’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ५७६-५७७

### —का आविभाव

प्राकृत की अन्तिम अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का आविभाव माना जा सकता है।

—‘आदिकाल’, हिं० सा० इ०, ३

### —का इतिहास

हिन्दी साहित्य के इतिहास की एक विशेषता यह भी रही है कि एक विशिष्ट काल में किसी रूप की जो काव्य-सरिता वेग से प्रवाहित हुई, वह यद्यपि आगे चलकर मंद गति से बहने लगी, पर ६०० वर्षों के हिन्दी साहित्य के इतिहास में हम उसे कभी सर्वथा सूखी हुई नहीं पाते।

—‘फुटकल रचनाएँ’, हिं० सा० इ०, ५५

### —का इतिहास, काल-विभाजन

हम हिन्दी साहित्य के ६०० वर्षों के इतिहास को चार कालों में विभक्त कर सकते हैं—

आदिकाल (वीरगाथाकाल, संवत् १०५०—१३७५)

पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल, संवत् १३७५—१७००)

उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल, संवत् १७००—१८००)

आधुनिककाल (गद्यकाल, संवत् १८०० से १९६४)

—‘काल-विभाग’, हिं० सा० इ०, १

### —की धाराएँ

अकबर के राजत्वकाल में एक ओर तो साहित्य की चली आती हुई परंपरा को प्रोत्साहन मिला, दूसरी ओर भक्त कवियों की दिव्य वाणी का स्रोत उमड़ चला...जिस काल में सूर और तुलसी ऐसे भक्ति के अवतार तथा नरहरि, गंग और रहीम ऐसे निपुण भावुक कवि दिखाई पड़ें, उसके साहित्यिक गौरव की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक ही है।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), १६०

भक्ति आदोलन के पूर्व, देश में—विशेषतः राजपूताने में—नाथपंथी कनूफटे योगियों का बहुत प्रभाव था जो अपनी बुद्धि की धाक जनता पर जमाए

रहते थे। जब सीधे-सीधे वैष्णव भक्तिमार्ग का आदोलन देश में चला, तब उसके प्रति दुर्भाव रखना उनके लिए 'स्वाभाविक' था।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ११८

योगमार्ग ईश्वर को अंतस्थ मानकर अनेक प्रकार की अंतस्साधनाओं में प्रवृत्त करता है। सगुण भक्तिमार्गी ईश्वर को भीतर और बाहर सर्वत्र मानकर उनकी कला का दर्शन खुले हुए व्यक्त जगत के बीच करता है। वह ईश्वर को केवल मनुष्य के क्षुद्र घट के भीतर ही नहीं मानता।

—‘भक्तिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), १३५

### —पर विदेशी प्रभाव

‘कला’ शब्द आजकल हमारे यहाँ भी साहित्य-चर्चा में बहुत ज़रूरी-सा हो रहा है। इससे न जाने कब पीछा छूटेगा? हमारे यहाँ के पुराने लोगों ने काव्य को ६४ कलाओं में गिनना ज़रूरी न समझा था।

—‘प्रत्यक्ष रूप-विद्यान्’, २० भी०, २६५

किसी साहित्य में केवल बाहर की भट्टी नकल उसकी अपनी उन्नति या प्रगति नहीं कही जा सकती। बाहर से सामग्री आए, खूब आए, पर वह कूड़ा-करकट के रूप में न इकट्ठी की जाए। उसकी कड़ी परीक्षा हो, उस पर व्यापक दृष्टि से विवेचन किया जाए जिससे हमारे साहित्य के स्वतंत्र और व्यापक विकास में सहायता पहुँचे।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, १५० सा० इ०, ५३०  
क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या निबन्ध, क्या समालोचना, क्या काव्य-रूपक-भीमांसा, सब क्षेत्रों के भीतर कुछ विलायती मन्दों का उच्चारण सुनाई पड़ता आ रहा है।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’ हिं० सा० इ०, ४६०  
योरप के साहित्य क्षेत्र में फ़ैशन के रूप में प्रचलित बातों को कच्चे-पक्के ढंग से सामने लाकर कुत्तहल उत्पन्न करने की चेष्टा करना अपनी मस्तिष्क-शून्यता के साथ ही साथ समस्त हिन्दी पाठकों पर मस्तिष्क-शून्यता का आरोप करना है।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ०, ५२६  
हमारा यह तात्पर्य नहीं कि योरप के साहित्य क्षेत्र में उठी हुई बातों की चर्चा हमारे यहाँ न हो। यदि हमें वर्तमान जगत के बीच अपना रास्ता निकालना है तो यहाँ अनेक ‘बादें’ और प्रवृत्तियों तथा उन्हें उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का पूरा परिचय हमें होना चाहिए।

—‘गद्य-साहित्य की वर्तमान गति’, हिं० सा० इ०, ४६१

## हिंदू

देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया । ... अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था ? (द० 'भक्तिकाल' भी—सं०)

—'भक्तिकाल', हिंदू सां० इ० (२०२५ स०), ६३

## —, मुसलमान और कबीर

कबीर ने अपनी झाड़-फटकार के द्वारा हिंदुओं और मुसलमानों का कटूर-पन दूर करने का जो प्रयत्न किया, वह अधिकतर चिढ़ाने वाला सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करनेवाला नहीं। मनुष्य-मनुष्य के बीच जो रागात्मक सबंध है, वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ ।

—'भक्तिकाल', हिंदू सां० इ० (२०२५ स०), १००

## —, मुसलमान और सूफी कवि

हिंदू और मुसलमान हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा । इन्होंने मुसलमान होकर हिंदुओं की कहानियाँ हिंदुओं ही की बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामजस्य दिखा दिया ।

—'भक्तिकाल', हिंदू सां० इ०, (२०२५ स०), १०१

## हितहरिवंश

ब्रजभाषा की रचना आपकी यद्यपि बहुत विस्तृत नहीं है, तथापि है बड़ी सरस और हृदयग्राहिणी ... अपनी रचना की मधुरता के कारण हित-हरिवंशजी श्रीकृष्ण की वंशी के अवतार कहे जाते हैं ।

—'कृष्ण भक्ति-परंपरा', हिंदू सां० इ०, १६७

## हृदय

इस दृश्य जगत के बीच जिस आनंद-मंगल की विभूति का साक्षात्कार होता रहा उसी के स्वरूप की नित्य और चरम भावना द्वारा भक्तों के हृदय में भगवान के स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई ।

—'काव्य के विभाग', २० मी०, ५५

जो हृदय संसार की जातियों के बीच अपनी जाति की स्वतंत्र सत्ता का अनुभव नहीं कर सकता वह देश-प्रेम का दावा नहीं कर सकता।

—‘काव्य में प्राकृतिक दृश्य’, चिन्ता०-१, ४०

तुच्छ वृत्तिवालों का अपवित्र हृदय कविता के निवास के योग्य नहीं। कविता देवी के मंदिर ऊँचे, खुले, विस्तृत और पुनीत हृदय हैं।

—‘काव्य’, २० भी०, ५३

धीर, गंभीर और सुशील अंतःकरण की बड़ी भारी विशेषता यह होती है कि वह दूसरे में बुरे भाव का आरोप जल्दी नहीं कर सकता।

—‘शील-निरूपण और चरित्र-चिन्नण’, गो० तु०, १०१

नए अर्थवादी ‘पुराने गीतों’ को छोड़ने को लाख कहा करें, पर जो विशाल हृदय हैं वे भूत को बिना आत्मभूत किए नहीं रह सकते।

—‘विभाव’, २० भी०, १४६

नकल ऊपरी बातों की हो सकती है, हृदय की नहीं। पर हृदय पहचानने के लिए हृदय चाहिए, चेहरे पर की दो आँखों से ही नहीं काम चल सकता।

—‘रीतिकाल’, हिं० सा० इ० (२०२५ स०), ३६७

नियमों से निराश होकर, ‘कर्मवाद’ की कठोरता से घबराकर, परोक्ष ‘ज्ञान’ और ‘परोक्ष शक्ति’ मात्र से पूरा पड़ता न देखकर ही तो मनुष्य परोक्ष ‘हृदय’ की खोज में लगा और अंत में भक्ति मार्ग में जाकर उस ‘परोक्ष हृदय’ को उसने पाया।

—‘तुलसी की भावुकता’, गो० तु०, ८५

मनुष्य के शरीर के जैसे दक्षिण और वाम दो पक्ष हैं वैसे ही हृदय के भी कोमल और कठीर, मधुर और तीक्ष्ण, दो पक्ष हैं और बराबर रहेंगे। काव्य-कला की पूरी रमणीयता इन दोनों पक्षों के समन्वय के बीच मण्गल-सौंदर्य के विकास में दिखाई पड़ती है।

—‘काव्य के विभाग’, २० भी०, ६५

यदि अपने भावों को समेटकर मनुष्य अपने हृदय को शेष सृष्टि से किनारे कर ले या स्वार्थ की पशुवृत्ति में ही लिप्त रखे तो उसकी मनुष्यता कहाँ रहेगी?

—‘काव्य’, २० भी०, ७८

व्यवन-व्यवस्था और भाव-व्यवस्था के बिना कर्म-व्यवस्था निष्फल होगी। हृदय का योग जब तक न होगा, तब तक न कर्म सच्चे होगे, न अनुकूल व्यवन निकलेंगे।

—‘लोकनीति और मर्यादावाद’, गो० तु०, ३४

हमारे हृदय का सीधा लगाव गोचर जगत् से है। इसी बात के आधार पर सारे संसार में रस-पद्धति चली है और सच्चे स्वाभाविक रूप में चल सकती है।

—‘काव्य में रहस्यवाद’, चिन्ता०-२, ११८

हमें तो ऐसा दिखाई पड़ता है कि हमारी यह काल-यात्रा, जिसे जीवन कहते हैं, जिन-जिन रूपों के बीच से होती चली आती है, हमारा हृदय उन सब को पास समेटकर अपनी रागात्मक सत्ता के अंतर्मूत करने का प्रयत्न करता है। यहाँ से वहाँ तक वह एक भाव-सत्ता की प्रतिष्ठा चाहता है।

—‘स्मृत रूप-विद्यान्’, २० मी०, २७८

हृदय के मर्म को स्पर्श करने के लिए, सच्ची और गहरी अनुभूति उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि कल्पना में आई हुई वस्तुएँ कुछ देर टिकें, मन उनका बिब्रहण कुछ काल तक किये रहे।

—‘कल्पित रूप-विद्यान्’, २० मी०, ३००

हृदय के मर्मस्थल का स्पर्श तभी होता है, जब जगत् या जीवन का कोई सुदर रूप, मार्मिक दशा या तथ्य मन में उपस्थित होता है।

—‘कल्पित रूप-विद्यान्’, २० मी०, २६१

### —, कवि-

अपनी व्यक्तिगत सत्ता की अलग भावना से हटाकर निज के योगक्षेम के संबंध से मुक्त करके, जगत् के वास्तविक दृश्यों और जीवन की वास्तविक दशाओं में जो हृदय समय-समय पर रमता है, वही सच्चा कवि-हृदय है।

—‘तुलसी की काव्य-पद्धति’, गो० त०, ५६

### —का अभाव

बहुत से काव्यों के बन जाने और लक्षण ग्रंथों की भरमार हो जाने से इधर बहुत दिनों से हृदयहीनों के लिए जैसे बुद्धि और कल्पना के सहरे काव्य का-सा स्वरूप खड़ा कर देना सुगम हो गया है, वैसे ही काव्य का रसिक या शौकीन बनना भी।

—‘काव्य का लक्ष्य’, २० मी०, १००

### —की मुक्ति

‘आनंद’ शब्द को व्यक्तिगत सुख-भौग के स्थूल अर्थ में ग्रहण करना मुझे ठीक नहीं जँचता। उसका अर्थ मैं हृदय का व्यक्तिबद्ध दशा से मुक्त और

हल्का होकर अपनी क्रिया में तत्पर होना ही उपयुक्त समझता हूँ।

—‘प्रत्यक्ष रूप-विधान’, २० मी०, २७३-

कश्चन रस-प्रधान नाटक के दर्शकों के आँसुओं के संबंध में यह कहना कि “आनंद में भी तो आँसु आते हैं”—केवल बात टालना है। दर्शक वास्तव में दुःख ही का अनुभव करते हैं। हृदय की मुकित की दशा में होने के कारण वह दुःख भी रसात्मक होता है।

—‘प्रत्यक्ष रूप-विधान’, २० मी०, २७३-

### —, भारतीय-

भारतीय हृदय का सामान्य स्वरूप पहचानने के लिए पुराने परिचित ग्राम-गीतों की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है; केवल पड़ितों द्वारा प्रवर्तित काव्य-परंपरा का अनुशीलन ही अलम् नहीं है।

—‘आधुनिककाल, काव्यखण्ड’, हि० सा० ६० (२००३ सं०), ६००.

### —प्रसार

हृदय-प्रसार का स्मारक-स्तम्भ काव्य है, जिसकी उत्तेजना से हमारे जीवन में एक नया जीवन आ जाता है। हम सृष्टि के सौदर्य को देखकर रसमण्ण होने लगते हैं, कोई निष्ठुर कार्य हमे असह्य होने लगता है, हमे जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना बढ़कर सारे संसार में व्याप्त हो गया है।

—‘काव्य’, २० मी०, २४-

